ओ३म्

मनुस्मृति

[भूमिका और हिन्दी अनुवाद सहित, शुद्ध, परिष्कृत संस्करण]
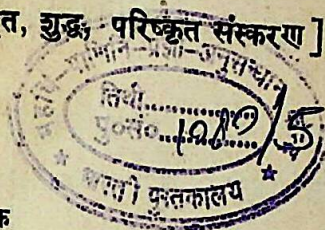
सम्पादक
मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्तकर्त्ता
श्री पं॰ गंगाप्रसाद उपाध्याय एम॰ ए॰

[प्रणेता—आस्तिकवाद, अद्वैतवाद, जीवात्मा, आर्य्यसमाज, विधवा विवाह मीमांसा, आर्य्य ट्रैक्ट माला, सर्व सिद्धान्त संग्रह, शंकर रामानुज दयानन्द, राजा राममोहनराय केशवचन्द्रसेन दयानन्द, हिन्दी शेक्सपियर (छः भाग), अँग्रेज जाति का इतिहास, धम्मपद, महिला-व्यवहार चन्द्रिका, समाज सुधार आदि आदि]

मुद्रक तथा प्रकाशक
कला प्रेस, प्रयाग।

प्रथमबार] १९३८ ई॰ [मूल्य ३)

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० कृत

(१) आस्तिकवाद १)
(२) अद्वैतवाद २)
(३) जीवात्मा ३)
(४) मनुस्मृति ३)
(५) राजाराम मोहनराय, केशव चन्द्र सेन, दयानन्द ॥=)
(६) वैदिक मणिमाला ।=)
(७) धम्मपद १)
(८) शंकर रामानुज दयानन्द ।)
(९) सर्व दर्शन संग्रह ॥)

डा० सत्यप्रकाश कृत

(१०) वेदों पर अश्लीलता का व्यर्थ आक्षेप ॥=)
(११) ब्रह्म विज्ञान =)
(१८) Enchanted Island ।=)

श्री विश्वप्रकाश बी० ए० एल० एल० बी० कृत

(13) Life & Teachings of Swami Dayanand
(१४) स्त्रियोंके रि...
(१५ विधवाओं...
(१६) महिला स... प्रकाश
(१७) हृदय के आंसू ॥)
(१८) नील नागिनी ॥
(१९) श्रीमद्भगवत् गीता =
(२०) गुलगुल =
(२१) दिव्य प्रभा
(२२) चुन्नू भैया
(२३) राजकुमार हेचुआ

पता—कला प्रेस, प्रयाग
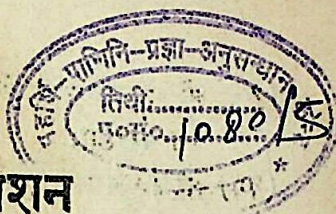
कृतज्ञता प्रकाशन

निम्न महानुभावों ने इस पुस्तक का अग्रिम मूल्य भेजने की उदारता दिखाई है उसके लिये हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं :—

श्रीम. भगवानदीन वर्मा, हैडक्लर्क, तहसील आफ़िस सावेर, इन्दौर राज्य।

(२) श्री चौधरी बारूमल जी, मंत्री आर्य्य समाज नकोदर।

श्री म. हीरालाल गुप्त, मंत्री, आर्य्य समाज नीमच C. P.

इन्द्रदेव, घनश्याम दास वैदिक विद्यालय, ...तील, ज़िला गोरखपुर।

...देव शुक्ल, इच्छापुर, २४ परगना।

श्री म. ... सिंह हेरा भाई गोइल, सम्पादक क्षत्रियमित्र, भावनगर,

(७) श्री मंत्री, आर्य्य समाज मैनपुरी।

(८) श्री म. दुर्गा शंकर राम जी, नन्दवाण चौक, अंजर कच्छ।

(९) डा० प्रभु दयाल गुप्त, मेरठ।

(१०) श्री म. गजाधर प्रसाद जी, रिटायर्ड गवर्नमेन्ट आडीटर, प्रयाग।

(११) श्री म. भगवान स्वरूप भटनागर, ललितपुर, झांसी।

(१२) श्री म. राम गोपाल जी, शिमला।

(१३) श्री म. बाबू राम जी, शिमला।

(१४) श्री म. रघुबर दयाल जी, शिमला।

(१५) श्री म. जागेश्वर सिंह आर्य्य, मंत्री आर्य्य समाज, इच्छापुर २४ परगना,
(१६) श्री पं० रामअनुग्रह मिश्र, कोषाध्यक्ष, आर्य्य समाज, इच्छापुर २४ परगना।
(१७) स्वामी ज्ञानानन्द वैदिक धर्मी पो० आ० मोगारी, आनन्द।
(१८) श्री म. उमाशंकर जी वकील, फतेहपुर।
(१९) पं० राम नगीना शर्मा, कलकत्ता।
(२०) श्रीम. देवकी नन्दन सिन्हा, मुजफ्फरनगर।
(२१) राजस्नुषा श्रीमती सुषमा देवी जी (धर्मपत्नी राजकुमार रणञ्जयसिंह जी) अमेठी,
(२२) श्री अध्यापिका शान्ति देवी जी, अमेठी।
(२३) कुमारी आदित्य प्रभा देवी, अमेठी।
(२४) श्री. म. कु. नैन सिंह आर्य्य, गुडगांवा।
(२५) श्री पं० जगतराम शर्मा वैद्यशास्त्री, पुरोहित, आर्य्यसमाज अनारकली, लाहौर।
(२६) लाला सुदर्शन लाल, मंत्री मुन्नालाल नागरी प्रचारिणी सभा केसरगंज, अजमेर।
(२७) श्री म. गोपीनाथ सत्य पुजारी, हिसार।
(२८) श्री ला० लक्ष्मी चन्द जी, हिसार।
(२९) श्री म. नटवर सिंह जी भानुभा जाड्या बी. ए. कच्छ।
(३०) जगदीशचन्द्र जी आर्य्य, मंत्री, आर्य्य समाज तिर्वा।

———

विषय-सूची*

भूमिका—

---

* कोष्ठ ( ) वाली संख्यायें श्लोक की हैं; जो संख्यायें कोष्ठ में न हों वे पृष्ठ-द्योतक हैं।

(३५—३८), स्त्रियों की पूजा, (३९—४६), कुलीन कब कुल से पतित हो जाता है (४७), गृहस्थ के लिये पांच महा यज्ञ (४८—५७), गृहस्थाश्रम का महत्व (५८—६१) श्राद्ध और तर्पण (६२—६३); बलि वैश्वदेव, (६४—६५) अतिथि यज्ञ (६६—७६)

चौथा अध्याय पृ० २६५—३२४

गृहस्थ का विवाह (१), जीविका (२—९), पांच महायज्ञ (२०—२२), अतिथि सत्कार (२३), पाखंडियों का सत्कार न करे (२४), श्रेष्ठों का सत्कार (२५—२६), स्नातक किससे धन मांगे (२७—२८), स्वाध्याय (२९), ब्राह्मण जनेऊ और कुंडल पहने (३०), सूर्य्य को उदय या अस्त के समय न देखे (३१), जल में अपना रूप न देखे (३२), रजस्वला से संपर्क न करे (३३—३५), पत्नी के साथ न खावे, न उसको खाते देखे इत्यादि (३६—३७), पराई स्त्री को नंगी न देखे (३८), किस किस जगह पेशाब न करे (३९—४१), मल-मूत्र त्याग एकान्त में करे (४२), छोटे-छोटे उचित आचरण (४३—६९), संध्या और दीर्घ आयु तथा वेदाध्ययन (७०—७४), अनध्याय (७५—७६), अज्ञात जलाशय में न घुसे (७७), मल मूत्र पर खड़ा न हो (७८), पर-स्त्री-संपर्क निषेध (७९—८०), क्षत्रिय, सर्प और ब्राह्मण का अनादर न करे (८१-८२), असफलता से निराश न हो (८३), सत्य तथा प्रिय बोले (८४, ८५), अंधेरे में न चले (८६), उपहास न करे (८७), गुप्त-इन्द्रिय को न छुये (८८), जितेन्द्रिय हो (८९), वेद का अभ्यास नित्य करे (९१, ९४), मल-त्याग, स्नान आदि

पांचवां अध्याय

नवां अध्याय

(४८—५०), विवाह शास्त्रोक्त है (५१), स्त्री और पुरुष का समान धर्म (५२), लड़की बेचने का पाप (५३), व्यभिचार निषेध (५४—५५), दाय भाग (५६—५८), बड़े भाई का कर्त्तव्य (५९-६१), भाइयों का अलग अलग रहना अधर्म नहीं (६२), उद्धार अर्थात् विशेषधन के नियम (६३—७१), पुत्रिका के नियम तथा पुत्र का अर्थ (७२—८०), दत्रिम पुत्र (८०), विना नियोग के अथवा विना नियम के उत्पन्न संतान दायभाग न पावे नियोग से उत्पन्न हुआ पावे (८१—८५), छः बांधव जायदाद के अधिकारी (८६), छः बान्धव जायदाद के अधिकारी नहीं (८७), औरस, क्षेत्रज, दत्रिम, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविद्ध, कानीन, सहोढ़, क्रीतक, पौनर्भव, स्वायंदत्त, पारशव पुत्र और उनको जायदाद का अधिकार (८८—१०४), अक्षत् योनि का पुनर्विवाह (९७), पुत्र न हो तो जायदाद के अधिकारी (१०५—१०९), माता की जायदाद (११०—१११), स्त्रीधन (११२—११६), कौन लोग जायदादके मालिक नहीं होने चाहिये (११७—११९), कई भाइयों के अधिकार के नियम (१२०—१३४), जुआ (१३५—१४१), जो जुर्माना न देसके वह राजा का काम करे (१४२), मुकद्दमे बिगाड़ने वाले को दण्ड (१४३), कूटनीति वालों को दण्ड (१४४), अन्तिम निर्णय को न लौटावे (१४५), अन्यायी मंत्री तथा प्राड्विवाक ब्रह्मघातक आदि को दण्ड (१४६—१५०), निर्दोष को दण्ड देना महादोष है (१५१), अठारह प्रकार का निर्णय (१५२),

अपने देशों का पालन और अन्य देशों को लेना राजा का धर्म है (१५३), दुर्गनिर्माण आदि (१५४—१५५), विना चोर आदि को दण्ड दिये करवसूल करने का पाप (१५६), निर्भय प्रजा राज्य को बढ़ाती है (१५७), दो प्रकार के चोर तथा ठग और उनकी देख भाल (१५८—१८०), तालाब नष्ट करने वाले को दण्ड (१८१), हथियार आदि चुराने वालों को प्राण दण्ड (१८२), राजमार्ग को मैला करने पर जुर्माना (१८३—१८४), झूठे चिकित्सकों पर जुर्माना (१८५), ध्वजा, प्रतिमा आदि भंग करने पर जुर्माना (१८६), अदूषित द्रव्यों आदि को बिगाड़ने पर जुर्माना (१८७), कम तोलने पर जुर्माना (१८८), राजमार्गों में बन्धन अर्थात् सहाय-ग्रह बनाना (१८९) नगर के कोट तोड़ने पर दण्ड (१९०), राजा के सात अंग (१९१—१९५), राजा की वृत्तियों का नाम कलियुग आदि है (१९६—१९९) राजा की इन्द्र सूर्य्य आदि से तुलना (२००—२०९), ब्राह्मण-क्षत्रिय सम्बन्ध (२१०), वैश्य-शूद्र की कर्म विधि (२११—२२१),

दसवां अध्याय— पृ० ५८६—६०२

ब्राह्मण की श्रेष्ठता (१—३), पंचम जाति कोई नहीं है केवल चार वर्ण हैं (४), संस्कार करने के लिये बालक अपने माता पिता के ही वर्ण में गिना जाय (५), वर्ण संकर (६), कर्म और स्वभाव के कारण वर्ण परिवर्त्तन (७,१६), वर्ण संकर (८—१४), चारों वर्णों का संक्षिप्त धर्म अहिंसा आदि (१५), बीज और क्षेत्र

में कौन प्रधान है (१६—२३), ब्राह्मणों क्षत्रिय और वैश्य के धर्म (२६—२८), ब्राह्मण; क्षत्रिय और शूद्र के लिये आपत्काल की जीविका (२९, ३०—३१), दान लेना अधर्मकर्म है (३४—३६), स्नातक भूखा हो तो किससे माँगे (३७), दानों में कौन किससे अच्छा है (३८), धन के सात शुभ साधन (३९), जीवन के दस हेतु (४०), ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिये साहूकारी का निषेध (४१), विशेष अवस्था में करलेने की व्यवस्था (४२—४४), शूद्र की जीविका (४५—५९), उपसंहार (५२) ।

ग्यारहवां अध्याय पृ० ६०३—६४३

नौ स्नातक धर्म भिक्षु तथा दानके अधिकारी हैं (१—३), राजा ब्राह्मणों को अवश्य दानदे (४—५), सोम-यज्ञ का अधिकार केवल धनी को है (६—९), आपत्काल का धर्म हर समय ठीक नहीं (१०—१२), ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र अपनी रक्षा कैसे करें (१३—१५), ब्राह्मण को कोई कड़ी बात न कहे (१६), कौन होता न हों (१७—१८), यज्ञ और दक्षिणा (१९-२०), प्रायश्चित्त विधान (२२—२६), भिन्न-भिन्न पापों के बुरे फल (२७—३१), प्रायश्चित्त की आवश्यकता (३२), महापातक और उनके तुल्य पातक (३३—४५), संकरीकरण पाप (४६), अपात्रीकरण पाप (४७), मलावह पाप (४८), इनका प्रायश्चित्त (४९—१४७ , ।

भूमिका

वेद में मनु शब्द

"मनु' शब्द भिन्न २ विभक्तियों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है और इसलिये कई विद्वानों का ऐसा मत है कि जिस मनु का वेदों में उल्लेख है उसीके उपदेश मनुस्मृति में वर्णित हैं। यह मत प्राचीन वेदाचार्य्यों के कथनों से अनुकूलता नहीं रखता। इस में सन्देह नहीं कि मनुस्मृति के लेखक का वेदों से संबंध जोड़ देने से मनुस्मृति के गौरव में आधिक्य हो जाता है। इसी गौरव को दृष्टि में रखकर कई विद्वानों ने मनुस्मृति के लेखक के विषय में वेदों के पन्ने पलटने का यत्न किया है। उदाहरण के लिये ऋग्वेद १।८०।१६, १।११४।२ तथा २।३३।१३ में 'मनु' और 'पिता' दो शब्द साथ साथ आये हैं। इससे लोगों ने यह अनुमान किया है कि यह वही प्रजापति मनु हैं जिन्होंने सृष्टि को उत्पन्न किया तथा मनुस्मृति की नींव डाली। परन्तु यह मत उन लोगों को स्वीकार नहीं हो सकता जो वेदों को ईश्वर की ओर से मानते हैं और जिनको वेदों में इतिहास मानने से इनकार है। इस कोटि में प्राचीन उपनिषत्कार, दर्शनकार, नैरुक्त, वैयाकरण तथा शंकराचार्य्य आदि मध्यकालीन विद्वान भी सम्मिलित हैं। स्वामी दयानन्द का तो स्पष्ट मत है कि वेदों में किसी पुरुष-विशेष का उल्लेख नहीं है। आजकल के यूरोपियन संस्कृतज्ञ तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों का तो दृष्टिकोण ही ऐतिहासिक है।

यह लोग प्रत्येक वैदिक ग्रन्थ को उसी दृष्टि से देखते हैं और उनको अपने मत की पुष्टि में पुष्कल सामग्री प्राप्त हो जाती है। उनका यह मत कहां तक ठीक है इस पर हम यहां विचार नहीं कर सकते। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि केवल 'पिता' और 'मनु' दो शब्दों को साथ साथ देखकर उनसे किसी विशेष पुरुष का अर्थ ले लेना युक्ति संगत नहीं है जब तक कि ऐसा करने के लिये अन्य पुष्कल प्रमाण न हों। यदि निरुक्तकार यास्काचार्य का मत ठीक है कि वेदों में समस्त पद यौगिक हैं तो यह मानना पड़ेगा कि किसी विशेष पुरुष का नाम 'मनु' होने से पूर्व यह शब्द अपने यौगिक अर्थ में बहुत काल तक प्रचलित रह चुका होगा। यह बात आजकल की समस्त व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं से भी सिद्ध होती है। चाहे किसी व्यक्ति का नाम चुन लीलिये। पहले वह अवश्य ही यौगिक रहा होगा। और बहुत दिनों पश्चात् व्यक्तियाँ उस नाम से प्रसिद्ध हुई होंगी। इसलिये इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है कि 'मनु' शब्द का वेद मंत्रों में यौगिक अर्थ लिया जाय। यजुर्वेद ५।१६ में आये हुये 'मनवे' शब्द का अथ उव्वट ने 'यजमानाय' और महीधर ने 'मनुते जानातीति मनुर्ज्ञानवान् यजमानः' किया है। इसी प्रकार यदि ऋग्वेद में भी मनु का अर्थ ज्ञानवान किया जाय तो क्या अनर्थ होगा। फिर ऋग्वेद के जिन तीन मंत्रों की ओर हमने ऊपर संकेत किया है उनमें से पहले (१।८०।१६) में 'मनु', 'पिता' और 'अथर्वा' (अथर्वा मनुष्पिता) तीनों शब्द आये हैं जिनमें से एक विशेष्य और अन्य विशेषण हैं। ऋग्वेद १।११४।२ में 'अथर्वा' का न नाम है न सम्बन्ध। २।३३।१३ में 'मनुः' 'पिता' का 'भेषजाः' अर्थात् ओषधियों से सम्बन्ध है। इस प्रकार 'अथर्वा' या मनु या प्रजापति शब्दों से ऐतिहासिक

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥

(अध्याय १२।१२३)

अर्थात् कुछ लोग ईश्वर को 'अग्नि' नाम से पुकारते हैं कुछ 'मनु' नाम से, कुछ 'प्रजापति' नाम से, कुछ 'इन्द्र' नाम से कुछ 'प्राण' नाम से और कुछ 'ब्रह्म शाश्वत' नाम से ।

कुछ लोग कह सकते हैं कि ऋग्वेद के कुछ मंत्रों का 'ऋषि' भी तो 'मनु' था । क्या यह वही मनु नहीं था जिसने मनुस्मृति के विचारों का प्रचार किया । यह अवश्य एक मीमांसनीय प्रश्न है । कुछ लोग ऋषियों को मंत्रों का कर्ता मानते हैं और कुछ केवल 'द्रष्टा' । यास्काचार्य का तो यही मत है कि ऋषि मंत्रों के द्रष्टा मात्र थे, और आदर की दृष्टि से उनका नाम वैदिक सूक्तों के आरंभ में लिखा चला आता है । जो लोग इन ऋषियों को मंत्रों के कर्ता मानते हैं उनके लिये एक कठिनाई यह अवश्य होगी कि अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा की क्या स्थिति होगी । सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य की उपक्रमणिका में स्पष्ट लिखा है कि

जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् । ऋग्वेद एवाग्नेरजायत् । यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यादिति श्रुतेरीश्वरस्याग्न्यादि प्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम् ॥

अर्थात् अग्नि, वायु आदित्य नामी जीव-विशेषों से वेदों का आविर्भाव हुआ । यदि मनु किसी मंत्र का कर्ता भी होता तो भी

पुरुषों का सम्बन्ध जोड़ना एक ऐसी अटकल है जिस पर आधुनिक विद्वान लट्टू हो रहे हैं। आजकल का युग 'अटकल युग' है जिसको शिष्ट भाषा में Age of hypotheses कह सकते हैं। हमारा यहां केवल इतना ही कथन है कि वेदों में आये हुये 'मनु' और मनुस्मृति के आदि ग्रन्थकार से कुछ सम्बन्ध नहीं है। ऋग्वेद ८।३०।३ में प्रार्थना की गई—

"मा नः पथः पित्र्यान् मानवादधिदूरे नैष्ट परावतः"

अर्थात् हम (पित्र्यात् मानवात् पथः) अपने पूर्वजों के बुद्धिपूर्वक मार्ग से विचलित न हों। इस से भी कुछ विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि 'मानवात् पथः' का अर्थ है मनु महाराज के बताये हुये मार्ग से। (Vide *Principles of Hindu Law*, vol. I, by Jogendra Chandra Ghosh and P. V. Kane's *History of Dharma Shastra)*

ऋग्वेद १०।६३।७ में (येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः) कुछ लोगों के विचार से किसी मनु-विशेष का उल्लेख है जिसने सब से प्रथम यज्ञ किया था। परन्तु इन दोनों मंत्रों में मनु का अर्थ विचारवान या ज्ञानवान पुरुष क्यों न लिया जाय और क्यों यह मान लिया जाय कि अमुक व्यक्ति की ओर ही संकेत है, इसके लिये अटकल के सिवाय और क्या हेतु हो सकता है? कोई ऐसी ऐतिहासिक घटनायें हमारे ज्ञान में नहीं हैं जिनसे बाधित होकर हम यहाँ मनु शब्द को विशेष व्यक्ति का नाम मान लें। फिर यह तो बड़ी ही हास्यप्रद बात होगी कि मनु वेदों के गीत गावें और वेद मनु के। क्यों न वेद में आये हुये 'मनु' का अर्थ ईश्वर ही लिया जाय जैसा कि मनुस्मृति के निम्न श्लोक से विदित है :—

अन्य पुष्ट प्रमाणों के अभाव में यह कहना कठिन था कि जिस मनु ने अमुक वेद मंत्र बनाया उसीने मानव धर्म शास्त्र का आरंभ किया। इसी प्रकार तैत्तरीय संहिता २।२।१०।२ में लिखा है कि 'यद्वै किं च मनुरवदत् तद् भेषजम्' और ताण्ड्य ब्राह्मण २३।९६॥१७ का वचन है कि "मनुर्वै यत् किंचावदत् तद् भेषजं भेषजतायै" अर्थात् मनु ने जो कुछ कहा वह 'ओषधि' है। इन वाक्यों से भी हमारे प्रश्न पर कुछ अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। ऋग्वेद २।३३।१३ में 'मनु' का 'भेषज' से कुछ सम्बन्ध है परन्तु ऊपर दो वाक्यों में 'भेषज' शब्द का वास्तविक अर्थ न लेकर आलंकारिक अर्थ लिया गया है और उन स्थलों पर यह स्पष्ट नहीं है कि मनु के किसी वचन की ओर संकेत है।

मनु नाम की महत्ता

वैदिक साहित्यिकों के मार्ग में इस प्रकार की सहस्रों अड़चनें हैं जिनका अधिक उल्लेख यहाँ नहीं करना चाहिये। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि कोई न कोई विद्वान 'मनु' हो गये हैं जिन्होंने 'आचार' (Moral Laws) और व्यवहार (Jurisprudence) के सम्बन्ध में नियम बनाये जिनका नाम "मानव-धर्म शास्त्र" या "मनुस्मृति" पड़ गया। 'मनु' नाम की महत्ता अन्य देशों के प्राचीन इतिहास से भी विदित होती है। सर विलियम जोन्स (Sir W. Jones) लिखते हैं :—

"We cannot but admit that Minos, Mnekes or Mneuis have only Greek terminations but that the crude noun is composed of the same radical letters both in Greek and Sanskrit."

अर्थात् यूनानी भाषा के 'माइनोस' आदि शब्द संस्कृत के मनु शब्द के ही विकृत रूप हैं।

Leaving others to determine whether our Menus (or Menu in the nominative), the son of Brahma, was the same personage with Minos, the son of Jupitar, and the legislator of the Cretans (who also is supposed to be the same with Mneuis spoken of as the first law giver receiving his laws from the Egyption deity Hermes, and Menes, the first king of the Egyptians) remarks :—

"Dara Shikoha was persuaded and not without sound reason that the first Manu of the Brahmanas could be no other person than the progenitor of manknind, to whom Jews, Christians and Mussulmans unite in giving the name of Adam" (Quoted by B. Guru Rajah Rao in his *Ancient Hindu Judicature*).

बी० गुरू राजाराउ ने अपनी पुस्तक *Ancient Hindu Judicature* में लिखा है कि यदि हम यह अनुसन्धान दूसरों के लिये छोड़ दें कि ब्रह्मा का पुत्र मनु वही है जिसे क्रीटवालों का धर्म शास्त्र रचयिता माइनौस, ज्यूपीटर का पुत्र कहा जाता है (और जिसके विषय में कहा जाता है कि वह वही म्न्यूयस था जिसने मिश्र देश के देवता हर्मीज से धर्मशास्त्र सीखा और जो मिश्र देश

का पहला राजा बना) तो भी जोन्स के इस उद्धरण पर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि दाराशिकोह का यह विचार कुछ अनुचित न था कि ब्राह्मणों का आदि मनु वही है जो मनुष्य जाति का पूर्वज समझा जाता है और जिसको यहूदी, ईसाई और मुसलमान आदम के नाम से पुकारते हैं।"

इन उद्धरणों में कहां तक सचाई है इसमें भिन्न भिन्न मत हो सकते हैं। परन्तु क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि प्राचीन जितने क़ानून बनाने वाले हुये उनके सब जातियों और सब युगों के नाम मनु शब्द से इतना सादृश्य रखते थे। इसके हमारी समझ में दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि मनु के उपदेश ही दूसरे देशों में किसी न किसी साधन द्वारा और किसी न किसी रूप में गये हों और संस्कृत नाम मनु का ही उन भाषाओं में विकृत रूप हो गया हो। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मनु का नाम कानून बनाने के लिये इतना प्रसिद्ध हो गया हो कि वह भारतवर्ष में व्यक्तिवाचक और अन्य देशों में जातिवाचक बन गया हो अर्थात् अन्य देशीय क़ानून बनाने वालों ने भी अपने को इसी प्रसिद्ध नाम से सम्बोधित करने में गौरव समझा हो। जैसे शेक्सपियर कवि-विशेष का नाम था। आज कोई कवि अपने को शेक्सपियर कहलवाना गौरव समझे। दोनों दशाओं में 'मनु' की प्रसिद्धि स्वीकार करनी पड़ती है।

मनुस्मृति का वैदिक साहित्य में प्रामाण्य

मानव धर्म शास्त्र का वैदिक साहित्य में बहुत गौरव है। आर्य्य जाति की सभ्यता का मानव धर्मशशास्त्र के साथ एक घनिष्ट संबंध हो गया है। हम चाहे 'मनु' तथा 'मनुस्मृति' के विषय में पूछे गये अनेकों प्रश्नों का समाधान न कर सकें तो भी यह अवश्य मानना पड़ता

है कि मनु अवश्य ही कोई महापुरुष था जिसके उपदेश आर्य्य-सभ्यता के निर्माण तथा जीवन-स्थिति के लिये बड़े भारी साधक सिद्ध हुये और उन पर विद्वानों की अब तक श्रद्धा चली आती है।

निरुक्तकार यास्क ने दायभाग के विषय में मनु को प्रमाण माना है :—

अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति तदेतद् ऋक् श्लोकाभ्यामभ्युक्तम् । अगादंगात्सम्भवसि हृदयाऽधिजायते । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् । अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः । मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।

(निरुक्त ३।४)

"विना भेद के स्त्री और पुमान् दोनों प्रकार के पुत्र (अर्थात् लड़की और लड़का दोनों) दायभाग के अधिकारी होते हैं यह बात ऋचा और श्लोक से कही गई है। अंग अंग से उत्पन्न होता है, हृदय से उत्पन्न होता है इसलिये पुत्र आत्मा ही है वह सौ वर्ष तक जीवे (यह ऋचा हुई)। धर्म अर्थात् क़ानून की दृष्टि से दोनों प्रकार के पुत्रों (अर्थात् लड़का और लड़की दोनों) को दायभाग मिलता है ऐसा सृष्टि की आदि में स्वायंभुव मनु ने कहा है (यह श्लोक हुआ)।

निरुक्तकार को यहां प्रमाण देना था कि दायभाग का अधिकारी जैसा लड़का है वैसा ही लड़की। उन्होंने 'पुत्र' शब्द का

दोनों के लिये प्रयोग किया है। इसमें उन्होंने दो प्रमाण दिये हैं एक श्रुति का और दूसरा स्मृति का। (अंग .....शतम्' श्रुति है। "अविशेषण......अब्रवीत्" तक श्लोक है। और इस श्लोक में स्वायंभुवो मनु उल्लेख है। 'आर्य्यों के लिये श्रुति और स्मृति यही दोनों मुख्य प्रमाण माने जाते हैं। श्रुति स्वतः प्रमाण है और स्मृति परतः प्रमाण। यही बात कवि कालिदास ने रघुवंश में उपमा के रूप में दी है:—

'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'

अर्थात् स्मृति श्रुति का अनुकरण करती है। मेधातिथि ने मनु-भाष्य के आरम्भ में लिखा है :—

ऋचो यजूंषि सामानि मन्त्रा आथर्वणश्चये ।
सप्तर्षिभिस्तु तत् प्रोक्तं स्मार्तं तु मनुरब्रवीत् ॥

अर्थात् ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का उपदेश ऋषियों ने किया था परन्तु स्मार्त धर्म (स्मृति) का उपदेश "मनु" ने किया। महाभारत शान्ति पर्व में लिखा है कि

ऋषीनुवाच तान् सर्वानदृश्यः पुरुषोत्तमः ।
कृतं शत-सहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम् ॥
लोकतंत्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद् धर्मः प्रवर्तते ।
....
तस्मात् प्रवक्ष्यते धर्मान् मनुः स्वायंभुवः स्वयं ।
....

स्वायंभुवेषु धर्मेषु शास्त्रे चौशनसे कृते ।
बृहस्पतिमते चैव लोकेषु प्रतिचारिते ॥

अर्थात् निराकार परमात्मा ने उन ऋषियों को शत-सहस्र श्लोकों का उत्तम ज्ञान दिया जिस पर कि संसार का समस्त धर्म स्थित है। स्वयं इन धर्मों का उपदेश किया। और मनु के उस उपदेश के आधार पर बृहस्पति और उशनस ने अपनी अपनी स्मृतियां बनाईं।

मनु कौन थे ?

यह मनु कौन थे यह कहना कठिन है। जिस प्रकार उपनिषत्कारों तथा दर्शनकारों के विषय में बहुत कम ज्ञात है उसी प्रकार 'मनु' के विषय में भी कुछ विशेष ज्ञान नहीं है। वह राजा थे या ऋषि थे ? तपस्वी थे या गृहस्थी थे ? इस विषय में हम कुछ नहीं जानते। कहीं कहीं तो मनु को केवल धर्म शास्त्र का रचयिता बताया गया है और कहीं कहीं समस्त सृष्टि की उत्पत्ति ही मनु से बताई गई है। आर्य्य जैसी प्राचीन जाति के साहित्य में इस प्रकार की कठिनाइयों का होना स्वाभाविक है। इसी शताब्दी के भीतर दयानन्द नाम के दो व्यक्ति हुये एक आर्य्यसमाज के संस्थापक और दूसरे सनातन धर्म मंडल के कार्य्यकर्त्ता। इन दोनों के विचारों में आकाश पाताल का भेद है। परन्तु यह बहुत ही संभव है कि कुछ दिनों पश्चात् एक के वचन दूसरे के समझ लिये जायं। इसी प्रकार प्रतीत ऐसा होता है कि कहीं तो 'मनु' शब्द ईश्वर का वाचक था, कहीं वैदिक ऋषि का, कहीं धर्मशास्त्र के रचयिता का और कहीं संभव है अन्य किसी का भी। इन सब को किसी प्रकार समय की प्रगति ने मिला जुला दिया और आगे आने वाले लोगों के लिये विवेक करना कठिन हो गया। जितने भाष्य मनुस्मृति के इस समय प्राप्य हैं वह सब मेधातिथि से लेकर आज तक के आधुनिक या पौराणिक युग के

ही समझने चाहिंये। इसी लिये इनके आधार पर किसी विशेष निश्चय तक पहुंचना दुस्तर है। शतपथ ब्राह्मण (१३।४।३।३) में आता है :—

मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह तस्य मनुष्या विशः

"अर्थात् मनु वैवस्वत राजा है और मनुष्य उसकी प्रजा हैं" इससे प्रतीत होता है कि मनु वैवस्वत् कोई राजा था। या यह भी संभव है कि राजा को ही यहाँ विशेष गुणों के कारण मनु-वैवस्वत कहा है।

मेधातिथि ने अपने भाष्य के आरंभ में मनु के विषय में लिखा है :—

मनुर्नाम कश्चित् पुरुष विशेषोऽनेक वेद शाखाऽध्ययन विज्ञानानुष्ठान संपन्नः स्मृति परंपरा प्रसिद्धः

अर्थात् मनु कोई पुरुष-विशेष था जो वेदों की अनेक शाखाओं को पढ़ कर धर्मानुष्ठान तथा स्मृति-परंपरा के लिये प्रसिद्ध हो गया।

यह एक हानि-शून्य कथन है और इतना मानने में किसी को भी संकोच नहीं हो सकता। क्योंकि जिस मनु की इतनी प्रसिद्धि है वह अवश्य ही कोई विद्वान् पुरुष रहा होगा और उसने वेदाचार और लोकाचार का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा।

प्रचलित मनुस्मृति का कर्त्ता

अब मनु के विषय में इतना कह कर मनुस्मृति पर आना चाहिये। प्रश्न यह है कि जो मनु इतना प्रसिद्ध है, क्या प्रचलित मनुस्मृति भी उसी की बनाई है। यदि नहीं तो मनु के विषय में इतना राग अलापने का क्या अर्थ ? हमारा ऐसा मत है कि वर्तमान मनुस्मृति में मनु के

विचार हैं, मनु के शब्द नहीं। और मानते भी सब ऐसा ही हैं। जिसको लोग मनुस्मृति कहते हैं उसका नाम है भृगुसंहिता। कहते हैं कि भृगु और उनके शिष्यों ने इसको श्लोकबद्ध किया। मनुस्मृति में भी लिखा है :—

एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वषोऽखिलं मुनिः॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।
तानब्रवीदृषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥
(मनु० १।५९, ६०)

इन श्लोकों के आगे-पीछे के जो श्लोक हैं उनका मिलान करने से यह निश्चय करना कठिन है कि यह संहिता भृगु की ही बनाई हुई है। परन्तु एक बात निश्चित है अर्थात् मनुस्मृति आजकल जिस रूप में मिलती है और जिसको भृगु-संहिता कहते हैं यह भी कोई नवीन पुस्तक नहीं है।

पातंजलि ने अपने महाभाष्य में पाणिनि के

एकः पूर्वपरयोः (अष्टाध्यायी ६।१।८४)

सूत्र पर भाष्य करते हुये एक श्लोक दिया है :—

ऊर्ध्वं प्राणा व्युत्क्रामन्तियूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥

यह श्लोक ज्यों का त्यों मनुस्मृति के दूसरे अध्याय (२।१२०) में मिलता है। यद्यपि महाभाष्य में मनु का नाम नहीं है, परन्तु प्रतीत तो ऐसा ही होता है कि यह मनुस्मृति का ही उद्धरण है।

है कि मनुस्मृति उस समय भी थी जब इन टापुओं का भारतवर्ष से घनिष्ट सम्बन्ध था।

यह भृगु संहिता भृगु की बनाई है या अन्य किसी की, इस विषय में भी विद्वानों में विवाद है। मनु की स्वयं बनाई तो हो ही नहीं सकती। इतना तो मनुस्मृति के पहले श्लोक से ही विदित है:—

भृगु संहिता के कर्त्ता कौन थे ?

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथा न्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥

अर्थात् जब मनु महाराज एकान्त में बैठे हुये थे तो महर्षियों ने सत्कार पूर्वक आकर उनसे उपदेश के लिये प्रार्थना की। यदि मनु स्वयं लिखने वाले होते तो इस प्रकार आरंभ न होता।

इस पर कहा जा सकता है कि अन्य स्मृतियों का भी तो आरंभ इसी प्रकार हुआ है। जैसे

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं सपूज्य मुनयोऽब्रुवन्।
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः ॥

(याज्ञवल्क्य १।१)

हुताग्निहोत्रमासीनमत्रिं वेद विदां वरम्।
सर्वशास्त्रविधिज्ञं तमृषिभिश्च नमस्कृतम् ॥
नमस्कृत्य च ते सर्व इदं वचनमब्रुवन्।
हितार्थं सर्वलोकानां भगवन् कथयस्व नः।

(अत्रि स्मृति)

विष्णुमेकाग्रमासीनं श्रुतिस्मृतिविशारदम् ।
पप्रच्छुर्मुनयः सर्वे कलापग्रामवासिनः ॥

(विष्णु स्मृति)

इष्ट्वा क्रतुशतं राजा समाप्त वर दक्षिणम् ।
भगवंतं गुरुं श्रेष्ठं पर्यपृच्छद् बृहस्पतिम् ।

(बृहस्पति स्मृति)

हमारा विचार यह है कि याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के नाम से जो स्मृतियां पीछे बनाई गईं वह मनुस्मृति का अनुकरण मात्र थीं। भारतीय साहित्य में एक ऐसा युग आ चुका है जब लोग अपनी बनाई हुई चीजों को पूर्व आचार्यों और ऋषियों के नाम से प्रचलित कर देते थे जिससे सर्वसाधारण में उनका मान हो सकें। भारतवर्ष में जब बौद्ध, जैन आदि अवैदिक मतों का प्रचार हुआ और जब वेदों का पुनरुद्धार करने के लिये पौराणिक धर्म ने ज़ोर पकड़ा तो ऐसी प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई। याज्ञवल्क्य स्मृति के बनाने वाले याज्ञवल्क्य कौन हैं यह कहना कठिन है। आरंभिक श्लोक से तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही याज्ञवल्क्य हैं जिनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों में पाया जाता है। परन्तु ऐसा है नहीं। मनुस्मृति के अनुकरणार्थ ही उसका आरंभ उसी प्रकार के श्लोक से कर दिया गया। यही दशा अन्य स्मृतियों की है जो बड़े बड़े नामों से सम्बन्धित कर दी गई हैं। परन्तु मनुस्मृति के विषय में यह माना जा सकता है कि मनुमहाराज के उपदेशों को ही भृगु या अन्य किसी विद्वान ने छन्दोबद्ध कर दिया हो। 'प्राचीन काल में उपदेष्टा मौखिक उपदेश दिया करते थे और पीछे से उनके अनुयायी सर्वसाधारण के लाभार्थ

उन भावों को छन्दों का रूप दे देते थे। यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) लिखता नहीं था। उसके उपदेश उसके शिष्यों ने लेख बद्ध किये। महात्मा बुद्ध के जो उपदेश धम्मपद में मिलते हैं वह बुद्ध के शब्द नहीं हैं। न बुद्ध श्लोक बनाकर उपदेश देते थे। यह तो बौद्ध शिष्यों ने पीछे से बना दिये। यदि यह सत्य है कि भगवद्गीता श्री कृष्ण के उपदेश हैं तो उसके विषय में भी यही धारणा ठीक होगी कि व्यास अथवा किसी अन्य महाभारत के लेखक ने उन उपदेशों को श्लोक-बद्ध कर दिया।'

मानव-धर्म सूत्र और मनुस्मृति का सम्बन्ध

यहां यह प्रश्न रह जाता है कि क्या मनु के उपदेश आरंभ से ही इस रूप में थे। इस विषय में भिन्न भिन्न कल्पनायें की गई हैं। कुछ लोगों का मत है कि पहले एक ग्रन्थ था जिसका नाम था मानव धर्म सूत्र। यह सूत्र रूप में था। पीछे से इसको श्लोकों का रूप दिया गया और इस रूप के देने वाले भृगु ऋषि हैं।

हमने ऊपर महाभारत शान्तिपर्व के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें मनुस्मृति को एक लाख श्लोकों का बताया गया है। इसका उल्लेख करते हुये काणे महोदय (P. V. Kane) लिखते हैं कि शान्ति पर्व अध्याय ५९, श्लोक ८०-८५ में मनु का नाम नहीं है उसमें धर्म, अर्थ और काम पर ब्रह्मा द्वारा एक लाख अध्याय का ग्रन्थ बनाये जाने का उल्लेख है जिन को विशालाक्ष, इन्द्र, बाहुदन्तक, बृहस्पति और काव्य ने १००००, ५०००, ३०००, और १००० अध्यायों का कर दिया था। नारद स्मृति की भूमिका में लिखा है कि मनु ने एक धर्मशास्त्र बनाया था जिसमें एक लाख श्लोक, १०८० अध्याय, तथा २४ प्रकरण थे। नारद ने इसको

१२००० श्लोकों का करके मारकण्डेय को सिखाया । मारकण्डेय ने इनके ८००० कर दिये । सुमति भार्गव ने फिर काट छांट करके इनके ४००० श्लोक कर दिये । इसके पश्चात् नारद स्मृति पहला यह श्लोक देती है:—

तत्रायमाद्यः श्लोकः । आसीदिदं तमोभूतं न प्राज्ञायत किंचन । ततः स्वयंभूर्भगवान् प्रादुरासीच् चतुर्मुखः ॥

काने महोदय का विचार है कि यह सब कथन माननीय नहीं है । नारद स्मृति आदि पुस्तकों का मान बढ़ाने के लिये यह सब लिख दिये गये हैं । इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है । क्योंकि एक लाख श्लोकों की स्मृति का इस प्रकार ४००० श्लोकों तक आना और फिर उससे भी घट कर ३००० के लगभग हो जाना सन्देह उत्पन्न किये विना नहीं रह सकता । हेमाद्रि, तथा संस्कारमयूख आदि ग्रन्थों में भविष्य पुराण का यह उद्धरण मिलता है:—

भार्गवीया नारदीया च बार्हस्पत्याङ्गिरस्यपि,
स्वायंभुवस्य शास्त्रस्य चतस्रः संहिता मताः ।

अर्थात् मनुस्मृति की चार संहितायें प्रसिद्ध थीं । एक भृगु-संहिता, दूसरी नारदसंहिता, तीसरी बृहस्पति-संहिता और चौथी आंगिरस्-संहिता । पता नहीं कि यह कौनसी संहितायें हैं । क्या यही भृगुसंहिता हमारी वर्तमान मनुस्मृति है जैसा कि प्रसिद्ध है ? इसके विरुद्ध काणे महोदय ने चार सन्देहोत्पादक बातें कहीं हैं:—

(१) विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य २ । ७३, ७४, ८३, ८५ पर भाष्य करते हुये वर्तमान मनुस्मृति के ८ । ६८, ७०-७१, १०५, १०६, ३४० श्लोक उद्धृत किये हैं वे स्वयंभू-कृत बताये गये हैं ।

(२) परन्तु याज्ञवल्क्य १। १८७, २५२ के भाष्य में जो श्लोक भृगु के नाम से उद्धृत हैं वे आजकल मनु में पाये नहीं जाते।

(३) अपरार्क ने जो श्लोक भृगु के नाम से उद्धृत किये हैं उनका मनुस्मृति में पता तक नहीं।

(४) इन्हीं अपरार्क ने भृगु के नाम से यह श्लोक दिया है जिस में मनु का नाम है:—

येषु पापेषु दिव्यानि प्रतिशुद्धानि यत्नतः।
कारयेत्सज्जनैस्तानि नाभिशस्तं त्यजेन् मनुः॥

(याज्ञवल्क्य २।९६)

इससे पाया जाता है कि संभव है, कोई और भृगु संहिता भी रही हो जिसमें से विश्वरूप और अपरार्क ने अपने श्लोक लिये हों।

चाहे इस मनुस्मृति को भृगु संहिता कहा जाय या न, मनुस्मृति के प्राचीनत्व तथा गौरव में इस से कुछ भेद नहीं आता। हम माने लेते हैं कि यह भृगु-संहिता है। यद्यपि केवल मनु-संहिता कहना अधिक उपयुक्त है।

अब प्रश्न यह है कि मानव धर्म सूत्र क्या चीज़ थे। और क्या उन्हीं का श्लोकरूप वर्तमान मनुस्मृति है। इसके लिये दो कल्पनायें की गई हैं:—

(१) पहले तो मानलिया गया है कि पहले ग्रन्थ सूत्र रूप में हुये। फिर श्लोक रूप में।

(२) दूसरे मनुस्मृति जिस अनुष्टुभ छन्द में है वह नया छन्द है।

हम तो इन दोनों युक्तियों में विशेष सार नहीं देखते। यह मान लेना कि सूत्र युग से पहले श्लोक नहीं थे अत्यन्त कठिन है। योगेन्द्र चन्द्र घोष ने अपने *Principles of Hindu Law* Vol. I में लिखा हैः—

The old Dharm Shastras were composed in a form which was capable of being sung and were committed to memory...........in the form of Gathas, for we find such gathas mentioned in the Manu Sanhita and quoted in other Dharm Shastras.

अर्थात् पुराना धर्म शास्त्र इस प्रकार बनाया गया था कि गाया जासके और रटा जासके। अर्थात् गाथा के रूप में क्योंकि मनुसंहिता तथा अन्य धर्म शास्त्रों में इन गाथाओं का उल्लेख है।

हमको यह बात अधिक ठीक जंचती है। जिन विचारों को दर्शनकार तथा व्याकरण-कारों ने सूत्रों में लिखा वह अवश्य ही सूत्र से पूर्व दूसरे रूप में रहे होंगे। सूत्र-युग वैदिक साहित्य का सबसे प्रथम युग नहीं है और न यह कहा जासकता है कि सूत्र-युग एक निश्चित युग है जिस में सिवाय सूत्र के कुछ नहीं लिखा गया या अन्य युगों में सूत्र नहीं लिखे गये। आर्य्य जाति जैसी प्राचीन जाति के जीवन में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। साहित्य की अनेक शैलियां मरती और पुनर्जीवित होती रही हैं। आधुनिक योरोपियन विद्वान् पहले तो कुछ ऐतिहासिक कल्पनायें बना लेते हैं और उन्हीं कल्पनाओं के आधार पर वैदिक ग्रन्थों के पौर्वापर्य पर विचार करते हैं। इस से अनेक भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। जिन मानव-धर्मसूत्रों को मनुस्मृति का आधार माना जाता है उनकी प्रति भी तो हमारे समक्ष नहीं है जिनसे मिलान करके

हम किसी निश्चय पर पहुंच सकें। वाशिष्ठधर्म सूत्रों में उसके कुछ उद्धरण मिलते हैं जो गद्य पद्य दोनों में मिले जुले हैं। मानव गृह्य सूत्र इस समय भी प्राप्त हैं। इसका एक हिन्दी अनुवाद पं० भीमसेन शर्मा ने इटावा से निकाला था। उसमें और मनुस्मृति में तो कोई समानता है नहीं। इसलिये उससे तो कुछ सहायता मिल नहीं सकती।

रही अनुष्टुभ् छन्द की बात। यह भी एक अटकल है। अनुष्टुभ् छन्द की उत्पत्ति वाल्मीकि से मानी जाती है। कहा जाता है कि सब से पहले वाल्मीकि ने यह श्लोक बनाया था।

मा निषाद प्रतिष्ठाः त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इसलिये उनको आदि कवि कहते हैं। परन्तु इसके लिये कोई अकाट्य प्रमाण नहीं हैं। अनुष्टुभ् छन्द वेदों में अनेक स्थान पर आया है और यजुर्वेद अध्याय ४० का तीसरा मंत्र * तो लौकिक अनुष्टुभ् से कुछ भी भिन्न नहीं है। मैक्समूलर की कल्पना है कि लौकिक अनुष्टुभ् छन्द में बड़े ग्रन्थ लिखने की प्रथा बहुत पीछे से चली। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति तथा अन्य कई स्मृतियाँ इसी छन्द में लिखी गई हैं। परन्तु इससे मनुस्मृति के युग का पता लगना अटकल ही है। मैक्समूलर की कल्पना भी कल्पना-मात्र ही है। वह मान लेते हैं कि रामायण, महाभारत

---

* असुर्या नाम तं लोका अन्धेन तमसावृता।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(यजु० ४०।३)

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम्।
द्विचतुः पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ (अनुष्टुभ् का लक्षण)।

तथा मनुस्मृति आदि सब एक युग के हैं। कालिदास ने रघुवंश का आरंभ अनुष्टुभ् से किया है। संभव है, आजकल कोई कवि अनुष्टुभ् में किसी ग्रन्थ को लिख डाले। इसलिये कैसे कहा जा सकता है कि मनुस्मृति रामायण, महाभारत, या रघुवंश से पीछे की चीज़ है। सम्भव है कि जो निषाद सम्बधी लोकोक्ति वाल्मीकि के विषय में प्रचिलित है उसी के आधार पर मैक्समूलर ने यह कल्पना करली हो और अन्य संस्कृतज्ञों ने उसका अनुकरण किया हो।

अब हम ऐतिहासिक झमेलों को विद्वान् अनुसन्धान-कर्त्ताओं के लिये छोड़ते हैं। यहाँ हम केवल अपनी धारणा प्रकट करते हैं। वह यह है कि :—

(१) मनु के उपदेश पहले किसी गाथा रूप में थे।
(२) फिर मानव धर्म सूत्रों के रूप में आये।
(३) फिर वर्तमान् मनुस्मृति के रूप में परिवर्तन होगये।
(४) यह मनुस्मृति भी बहुत ही प्राचीन है।
(५) पीछे से इस मनुस्मृति में बहुत से क्षेपक बढ़ा दिये गये।

इस पाँचवीं बात के विषय में हम कुछ थोड़ा सा वर्णन करते हैं।

मनुस्मृति में क्षेपक

मनुस्मृति का वर्तमान रूप कम से कम दो सहस्त्र वर्ष पुराना है। इसमें क्षेपक बहुत हैं। परन्तु यह क्षेपक भी नये नहीं हैं। याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में इसी मनुस्मृति के उद्धरण मिलते हैं। मेधातिथि आदि ने जो भाष्य किये हैं वे सब के सब इसी मनुस्मृति के हैं। कुछ पाठ-भेद अवश्य हैं। कुछ श्लोकों में भेद भी है। बहुत से ऐसे श्लोक हैं जो मेधातिथि तथा कुल्लूक आदि के भाष्यों में नहीं मिलते और पीछे के भाष्यों में इनका उल्लेख है। कुछ ऐसे भी श्लोक हैं जो पीछे से निकल गये

हैं। इस प्रकार हस्ताक्षेप तो इधर भी होता रहा है परन्तु अधिक नहीं। और न सिद्धान्तों में कुछ बहुत भारी उलट फेर ही है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस प्राचीन मनुस्मृति में कोई भारी हस्ताक्षेप नहीं हुआ। महात्मा बुद्ध से कुछ पहले जब शुद्ध वैदिक धर्म में विकराल विकृति उत्पन्न हो गई थी और महात्मा बुद्ध के कुछ पीछे जब अवैदिक बौद्ध धर्म और वैदिक पौराणिक धर्म में घमासान युद्ध हुआ, भिन्न २ उद्देश रखने वाले साम्प्रदायिक विद्वान् मनमानी कतरनी चलाते रहे। जहाँ जो चाहा मिला दिया और जहाँ से जो चाहा निकाल दिया। इसने वैदिक सिद्धान्तों में बड़ी गड़बड़ मचा दी।

क्या मनुस्मृति में क्षेपक हैं ? हाँ अवश्य हैं। कोई निष्पक्ष विद्वान् इसको मानने में संकोच नहीं कर सकता। इसके प्रमाण पुष्कल हैं। सम्भव है कि इस विषय में मत भेद हो कि कितना क्षेपक है और कितना मौलिक। सब से पहली बात तो यह है कि परस्पर विरोध बहुत है जिसको भाष्यकारों की प्रतिभासम्पन्न आलोचना भी दूर नहीं कर सकी। हम यहाँ कुछ का उल्लेख करते हैं।

(१) सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥

मनु० ३।१२,१३

यहाँ ब्राह्मण को शूद्र भार्या विवाहने का पूरा अधिकार है। परन्तु इससे अगले ही श्लोक में बल पूर्वक इसका निषेध किया गया है:—

"न ब्राह्मण क्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।
कस्मिँश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥
मनु० ३।१४

इसके आगे चार और श्लोक हैं जिनमें इसी बात पर बल दिया गया है कि कोई द्विज अपने से नीच वर्ण की स्त्री से विवाह न करे। यहाँ तक कि आपत्काल में भी इसकी आज्ञा नहीं है। कुल्लूक लिखते हैं कि

ब्राह्मणक्षत्रिययोर्गार्हस्थ्यमिच्छतोः सर्वथा सवर्णा-लाभे कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते इतिहासाख्यानेऽपि शूद्रा भार्या नाभिधीयते।"

इन दो विरोधों का समन्वय हो ही नहीं सकता। हमारी धारणा तो यह है कि मनु की आज्ञा शूद्रा से विवाह की अनुकूलता में स्पष्ट है। पिछले छः श्लोक जो वर्तमान मनुस्मृति के ३।१४-१९ श्लोक हैं उस समय की मिलावट है जब जाति बन्धन कड़े हो गये और शूद्रों को सर्वथा त्याज्य ठहराया जा चुका। यदि मनुस्मृति के यह मौलिक श्लोक होते तो इतना विरोध हो नहीं सकता था।

(२) मनु ३।२१ में आठ प्रकार के विवाह सम्बन्धों का उल्लेख है:—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।

इसके पश्चात् ३।२७ से ३।३४ तक इनके लक्षण दिये हैं। फिर ३।३९ से ३।४२ तक यह बताया है कि पहले चार अर्थात ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापात्य, श्रेष्ठ और 'शिष्टसम्मत' हैं, शेष चार विवाह कुत्सित हैं। उनकी सन्तान झूठी और "ब्रह्मधर्म द्विषः" होती है। इसलिये अनिन्दित अर्थात् चार प्रकार के विवाहों की ही आज्ञा है। शेष चार आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच 'निन्द्य' हैं। इसलिये "निन्द्यान् विवर्जयेत्" इनको नहीं करना चाहिये

हमारी समझ में मनु महराज की यही निज सम्मति है। स्वामी दयानन्द ने इन आठ विवाहों के विषय में यह सम्मति दी है:—

"इन सब विवाहों में ब्राह्मण विवाह सर्वोत्कृष्ट, दैव और प्राजापत्य मध्यम, आर्ष, असुर और गान्धर्व निकृष्ट, राक्षस अधम और पैशाच महाभ्रष्ट हैं"। (सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ४)

आर्ष विवाह को मनु ने अनिन्दित और स्वामी दयानन्द ने निकृष्ट बताया है। शेष चार तो निन्दित हैं ही।

परन्तु नीचे के श्लोक सर्वथा विरुद्ध हैं:—

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद् धर्म्यानराक्षसान्॥
(मनु० ३।२३)

यहाँ पहले छः अर्थात् ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर और गान्धर्व को ब्राह्मणों के लिये धर्मानुकूल बताया। पिछले चार अर्थात् असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच को क्षत्रियों के लिये "धर्म" बताया। वैश्य और शूद्रों के लिये राक्षस

विवाह को छोड़ कर असुर, गान्धर्व, और पैशाच को धर्म ठहराया गया। यह बात न केवल ३।४१ से ही सर्वथा विरुद्ध है किन्तु आश्चर्य-जनक भी है। क्षत्रियों को पहले चार विवाहों की आज्ञा क्यों नहीं ? उनको शेष चार की क्यों है ? 'पैशाच' विवाह में क्या गुण हैं कि क्षत्रियों के लिये यह अच्छा है और वैश्य शूद्रों के लिये बुरा। कोई बुद्धिमान् पुरुष 'पैशाच' विवाह को किसी के लिये भी अच्छा नहीं बता सकता। फिर क्षत्रिय राजों पर क्या कृपा हो गई कि उनके विवाह के लिये कोई नियम ही नहीं रक्खा गया। सभी कुछ विहित बता दिया गया। क्या इसके क्षेपक होने में कोई सन्देह हो सकता है ? कहीं किसी राजा के उच्छृंखल व्यवहार को 'धर्म' बताने के लिये ही तो यह करतूत नहीं की गई ? फिर गांधर्व विवाह तो व्यभिचारसे कम नहीं। परन्तु इसकी ब्राह्मणों को छोड़ कर सभी को आज्ञा है। राजा दुष्यन्त जब शकुन्तला पर आसक्त हो जाता है तो वह मनुस्मृति का प्रमाण देकर ही एकान्त प्रसंग करने के लिये उस को बाधित करता है। राजे लोग मनुस्मृति के इस हथियार को पाकर क्या कुछ नहीं कर सकते ?

यही नहीं। इससे अगला श्लोक तो इसके भी विरुद्ध है:—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयोविदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः॥

(मनु० ३।२४)

विद्वानों का कहना है कि पहले चार विवाह ब्राह्मण के लिये प्रशस्त हैं। क्षत्रिय के लिये एक राक्षस विवाह। वैश्य और शूद्र के लिये एक असुर विवाह है, यह सभी बातें कैसे ठीक हो सकती हैं। राक्षस विवाह में क्या विशेषता है कि यह एक ही

क्षत्रिय के लिये प्रशस्त बताया गया। इससे अगले दो श्लोक भी देखिये :—

पंचानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन॥
पृथक् पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥

कभी कुछ और कभी कुछ। कोई बुद्धिमान् पुरुष ऐसी वहकी वहकी बातें न कहेगा। थोड़ा सा भी ध्यान देने से विदित होता है कि ३।२३ से लेकर ३।२६ तक पाँच श्लोक मिला दिये गये। आठ विवाहों के नाम बता कर उन का लक्षण बताना स्वाभाविक बात थी। इसके बीच में 'धर्म' और 'अधर्म' विवाहों को गिना बैठना जब कि ३।४१-४२ में 'अनिन्द्य' और 'निन्द्य' विवाहों को फिर बताना था न केवल अस्वाभाविक किन्तु अयुक्त है। इसी प्रकार ३।३६, ३७, ३८ भी बेतुके जोड़े गये हैं। और उनमें इक्कीस इक्कीस पीढ़ियों के तरने की मन को लुभाने वाली बातें बताई गई हैं। यह मिलावट ऐसा पैवन्द है जो दूर से चमकती है, रफ़ूगरी ऐसी भद्दी रीति से की गई है कि समस्त कपड़ा भद्दा दीखने लगता है।

(३) अध्याय ९ के ५९ से ६३ श्लोक तक चार श्लोकों में "नियोग" की आज्ञा है और ६३ वें श्लोक में कहा गया है कि "नियोग विधि" को त्याग कर जो अन्यथा व्यवहार करते हैं वे पतित हो जाते हैं। परन्तु ६४ से ६७ तक नियोग का निषेध है। ५९ से ६९ तक यह ग्यारह श्लोक पढ़ने से तुरन्त ही पता

चल जाता है कि कुछ दाल में काला है। महाशय पी० वी० काने कहते हैं:—

In one breath Manu seems to permit niyoga (*9.* 59-63) and immediately afterwords he strongly reprobates it. (*9.* 64-69).

६६ वें श्लोक में वेन राजा की कथा देने से भी यही प्रकट होता है कि पीछे से यह श्लोक जोड़ दिये गये।

(४) अध्याय ५।४८-५० में मांस भक्षण का सर्वथा निषेध है:—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान् मांसं विवर्जयेत्॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वध बन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥

यहाँ न केवल मांस का निषेध ही है किन्तु प्रबल युक्ति दी गई है अर्थात् बिना प्राणियों की हिंसा किये मांस मिलता ही नहीं और प्राणियों की हिंसा स्वर्ग का साधन नहीं इसलिये मांस वर्जनीय भी है। इस युक्ति के अनुसार न केवल साधारण मांस भक्षण का ही निषेध है किन्तु यज्ञ में भी मांस डालना या खाना निन्दित है क्योंकि यज्ञ में बलि देने से भी तो प्राणियों की हिंसा होती है। फिर आगे चल कर मांस का सर्वथा ही निषेध किया है:—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

(मनु० ५।५१)

अर्थात् मांस खाने वाले को ही हिंसा का पाप नहीं लगता किन्तु उसमें मारने वाला, बेचने वाला, ख़रीदने वाला पकाने वाला आदि सभी सम्मिलित हैं। इन स्पष्ट श्लोकों के होते हुये भी नीचे के श्लोकों में मांस का विधान है :—

'यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसा विधिरुच्यते ॥
(मनु० ५।३१)

अर्थात् यज्ञ में मांस डालना 'दैव विधि' है और बिना यज्ञ की मांस की प्रवृत्ति 'राक्षस विधि' है। क्या बिना प्राणियों को हिंसा पहुँचाये यज्ञ में मांस डाला जा सकता है ? यदि नहीं तो 'दैव विधि' और 'राक्षस विधि' में क्या भेद ? इसी प्रकार ५।३२ से ४२ तक ऊटपटांग बातें बताई गई हैं। ३।४० में विचित्र युक्ति दी गई है कि

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥

अर्थात् जो पशु-पक्षी यज्ञ के लिये मारे जाते हैं उन को दूसरे जन्म में उत्कृष्ट योनि मिलती है। इसी प्रकार श्राद्ध में भी भिन्न भिन्न पशुओं के बध का उल्लेख है। (देखो अध्याय ३।२६८, २६९)

यह हैं कुछ वे स्थल जिनमें परस्पर विरोध होने के कारण मानना ही पड़ेगा कि इन में से एक मौलिक है और दूसरा क्षेपक क्योंकि दो परस्पर बातें किसी एक ग्रन्थकारका मंतव्य नहीं हो सकतीं। परन्तु क्षेपक यहीं तक सीमित नहीं हैं। समय का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है। जो मकान बनाया जाता है वह कितना

ही सुदृढ़ क्यों न हो, वायु, घाम तथा जल का उस पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही हैं। प्रत्येक मकान की आकृति को देख कर बता सकते हैं कि समय ने उसमें कितना परिवर्तन किया है। पहले पानी दीवारों पर धब्बे डाल देता है। फिर घर का स्वामी उस पर पुताई कर देता है। फिर वर्षा आती है और कुछ भाग धुल जाता है तथा कुछ काले धब्बे और पड़ जाते हैं। फिर घरवाले चूने की एक बारीक तह और लगा देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक दीवार पर पपड़ियाँ पड़ जाती हैं। कभी कभी दीवारों को खुरच कर नये सिरे से पुताई कर दी जाती है। परन्तु फिर भी उसको मौलिक दीवार नहीं कह सकते। यह सब आदि से अन्त तक क्षेपक ही होते हैं। इसी प्रकार पुस्तकों का हाल है। जो पुस्तकें साधारण मनोरंजन की हैं उनमें लोग वहुत कम हस्ताक्षेप करते हैं और वह भी जान बूझ कर नहीं। उनके क्षेपक इस प्रकार के होते हैं कि कहीं तो लेखकों के प्रमाद के कारण शब्द छूट गया या कोई पंक्ति की पंक्ति रह गई या कभी कभी ऊपर की आधी पंक्ति नीचे कि आधी पंक्ति के साथ मिल गई। कभी कभी शब्द के छूट जाने पर पीछे से आने वाले लोगों ने संशोधन के उद्देश्य से अपनी ओर से कोई ऐसा शब्द जोड़ दिया जो खिप सके। इस प्रकार पर्य्याय आते रहते हैं। इस प्रकार ये क्षेपक तो होते हैं परन्तु किसी को हानि नहीं पहुँचाते। परन्तु धार्मिक पुस्तकों के क्षेपक वड़े भयानक होते हैं। उनका उद्देश्य ही दूसरा होता हैं। जब किसी देश में धार्मिक विप्लव होते हैं, तो सब से पहले धर्मग्रन्थों पर आक्रमण होता है। कोई धर्मसंस्थापक आज तक सर्वथा नया धर्म स्थापित नहीं कर सका। हर एक कहता है कि मैं वही वात कहता हूँ जो पूर्व से चली आई है। ऐसा कहने पर दो दल हो जाते हैं और धर्मग्रन्थ दोनों दलों के हाथ में मोम की

नाक बन जाते हैं। मनुस्मृति जैसे ग्रन्थ में यह बात बहुत सुगम थी। अनुष्टुभ् छन्द बहुत सीधा छन्द है। फिर मनुस्मृति की भाषा क्लिष्ट नहीं। दैनिक व्यवहार की बातें सरल से सरल भाषा में लिख दी गई हैं। इस में मिला देना कौन कठिन था? उदाहरण के लिये 'नियोग' प्रकरण को लीजिये। जब लोगों ने किसी कारण से चाहा कि नियोग बन्द कर दिया जाय तो कुछ श्लोक बनाकर लगा दिये। और उसके लिये दो एक हेतु भी दे दिये। हम अभी नियोग विषयक श्लोक दे चुके हैं। पहले कुछ श्लोक नियोग को विहित बताते हैं। उसके पश्चात् कहते हैं कि

स्पष्ट क्षेपकों के उदाहरण

नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः
अन्यस्मिन् हि नियुंजाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥

(९।६४)

अर्थात् द्विजों में विधवा नारी अन्य के साथ नियोग न करे। इसका क्या अर्थ? क्या विधवा को अन्य कुल में नियोग न करके अपने कुल में ही नियोग कर लेना चाहिये? या विधवा नियोग न करे। सधवा विशेष अवस्थाओं में नियोग करे? अथवा नियोग किसी अवस्था में किसी द्विज के लिये विहित नहीं? इन तीनों में से किस निषेध का प्रतिपादन इस श्लोक द्वारा किया गया है? आगे चल कर यह श्लोक है:—

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥

(९।६५)

अर्थात् विवाह सम्बन्धी मंत्रों में नियोग का उल्लेख नहीं और न विवाह-विधि में विधवा के पुनः-संस्कार की आज्ञा है। इस श्लोक का पहले श्लोक से क्या सम्बन्ध ? यदि कहीं भी और किसी प्रकार भी नियोग विहित नहीं तो ऊपर कहे हुये ९।५९ का क्या अर्थ होगा ? यदि कहा जाय कि इस श्लोक में केवल इतना कहा गया है कि नियोग या विधवा-पुनः-संस्कार की विधि साधारण विवाह विधि से अन्य है तो इससे अगले श्लोकों में इसको "पशु धर्म" कह कर राजा वेन के समय के अत्याचारों का उल्लेख क्यों किया गया ? इससे प्रतीत होता है कि नियोग के विरुद्ध पहले एक श्लोक मिलाया गया। फिर मिलाने वाले को ज्यों ज्यों पकड़े जाने का भय हुआ त्यों त्यों वह उसके उपाय-स्वरूप अगला श्लोक जोड़ता गया। इसी प्रकार अन्य क्षेपक भी बढ़ गये। पहले एक सिद्धान्त के निषेध में एक श्लोक मिलाया गया, इसको हम आक्रमण (Attack) कह सकते हैं। फिर उसके विरोधियों ने मौलिक सिद्धान्त की पुष्टि में आगे एक श्लोक मिला दिया। इसको प्रत्याक्रमण (Counter-attack) कहना चाहिये। 'इस प्रकार आक्रमण-प्रत्याक्रमणों का तांता बंध गया और अनेक स्थलों पर बहुत से क्षेपक बढ़ गये। कहीं कहीं ऐसा भी हुआ कि विधि या निषेध की व्याख्या करने के लिये अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा में श्लोक बढ़ाये गये जिनका धर्मशास्त्र जैसे ग्रन्थ में लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। ऐसे स्थल भी कई हैं। जैसे ब्रह्मविवाह की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये लिख दिया कि इस प्रकार उत्पन्न हुई सन्तान से दस पीढ़ियाँ अगली, दस पिछली और एक वर्तमान-इक्कीस पीढ़ियाँ तर जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्म-विवाह श्रेष्ठतम हैं परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि उससे इक्कीस पीढ़ियाँ तर जायँ।

यदि हम मनुस्मृति को आरंभ से देखें तो "प्रथमे ग्रासे हि मक्षिकापातः" अर्थात् पहले ही अध्याय में क्षेपक का सामना पड़ता है। बूहलर महोदय लिखते हैं:—

बूहलर की साक्षी

The whole first chapter must be considered as a latter addition. No Dharma-Sutra begins with a description of its own origin, much less with an account of the creation. The former, which would be absurd in a Dharma-Sutra, has been added in order to give authority to a remodelled version. The latter has been dragged in, because the myths connected with Manu presented a good opportunity 'to show the greatness of the scope of the work' as Medha-tithi says.

(Introduction ixvi)

"पहले सम्पूर्ण अध्याय को पीछे से मिलाया हुआ समझना चाहिये। कोई धर्म-सूत्र अपने निकास की कहानी से आरंभ नहीं होता और न सृष्टि-उत्पत्ति से। पहली बात जो धर्मसूत्र के लिये सर्वथा ही अनुचित है नये रूप को प्रमाणित सिद्ध करने के लिये दी गई है। दूसरी बात बलात्कार इस लिये प्रविष्ट कर दी गई कि मनु के सम्बन्ध में जो गाथा-प्रसिद्ध है वह ग्रन्थ के मान को बढ़ा दे जैसे कि मेधातिथि का कथन है।"

जो बात बूहलर महोदय ने 'सूत्र' के विषय में लिखी है वह वर्तमान संहिता के विषय में भी ठीक उतरती है। पहले अध्याय

के ५ वें श्लोक से आगे जो सृष्टि-उत्पत्तिका वर्णन दिया है वह "मनु-प्रजापति" अर्थात् ईश्वर और मानव धर्म शास्त्र के लेखक में झमेला उत्पन्न करने के लिये किया गया है। मनु को न केवल मानवधर्मशास्त्र का ही पिता बताया गया है किन्तु समस्त सृष्टि का भी और जब कवि की प्रतिभा एक बार उत्तेजित हो गई तो कविता की तरंग में उसने सभी कुछ लिख मारा। यक्ष, ऋक्ष, पिशाच, विद्युत्, मेघ, इन्द्रधनुष, किन्नर, वानर, मत्स्य, कृमि, कीट, पतंग सब उत्पन्न हो गये। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं २ पर बड़ी अच्छी बातें बताई गई हैं-जैसे—

नारायण शब्द

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

(१।१०)

अर्थ—'आप' अर्थात् जल का नाम नारा है क्योंकि वे 'नर' अर्थात् परमात्मा का पुत्र हैं (ता नराख्यस्य परमात्मनः सूनवोऽपत्यानि—इति कुल्लूकः)। यह जल जिसके अयन हैं इसलिये उस ईश्वर का नाम नारायण है।

परन्तु पूर्वापर सम्बन्ध कुछ नहीं। नारायण शब्द पहले किसी श्लोक में तो था नहीं। फिर इसके अर्थ बताने की क्या आवश्यकता आपड़ी? इसमें ऊपर के श्लोक में 'अंडे के तेजस्वरूप हो जाने' (तदण्डमभवद्धैमं) का वर्णन था। और दो श्लोक छोड़ कर फिर उस अंडे के दो भागों में विभक्त हो जाने का वर्णन है। बीच में नारायण शब्द कहाँ से कूद पड़ा, यह समझ में नहीं आता। यदि कहा जाय कि श्लोक १।१२ में आये हुये भगवान् के नारायण नाम की सर्व व्यापक होने के हेतु व्याख्या की गई है

तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि इसके लिये तो 'नारायण' शब्द की विशेषता सिद्ध नहीं होती।

शरीर शब्द

इसी प्रकार 'शरीर' शब्द की बड़ी अच्छी व्युत्पत्ति की गई है:—

यन् मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्त्तिं मनीषिणः ॥

(१।१७)

अर्थात् तन्मात्रा, अहंकार आदि छः को "आश्रय" देने के कारण शरीर का नाम शरीर पड़ा। 'शरीर' शब्द साधारणतया 'शॄ' धातु से निकाला जाता है जिसके अर्थ 'हिंसा' के (शॄ-हिंसायां) हैं। परन्तु यहाँ शरीर और आश्रय का व्युत्पत्ति-विषयक सम्बन्ध है, इसका मिलान न्यायदर्शन के इस सूत्र से होता है:—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ।

इस श्लोक और इस सूत्र में अवश्य कुछ सादृश्य है। सूत्रकार के मस्तिष्क में अवश्य ही 'शरीर' शब्द के साथ 'आश्रय' शब्द का सम्बन्ध रहा होगा, ऐसा जान पड़ता है। संभव है, 'शॄ' धातु का 'आश्रय' अर्थ भी रहा हो। यह व्युत्पत्ति अवश्य ही अच्छी है परन्तु प्रसंग कुछ नहीं। जैसे 'नारायण' शब्द की व्युत्पत्ति बीच में कूद पड़ी इसी प्रकार 'शरीर' शब्द की भी। न प्रसंग, न क्रम।

एक और बात है। साधारणतया यह प्रतीत होता है कि सांख्य में जो सृष्ट युत्पत्तिका विधान है वही यहाँ भी बताया गया है। श्री शंकराचार्य्य जी ने मनु को प्रमाण माना है, इसलिये

कुछ भाष्यकार तो अन्त में खींचातानी से इसको वेदान्त-परक भी सिद्ध कर देते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन न सांख्य-मतानुसार ही है, न वेदान्त मतानुसार। कुछ ऐसा गोल-माल है कि विचारे भाष्यकारों की भी नाक में दम कर लेता है। चोटी से एड़ी तक यत्न करने पर भी कुछ बड़ा भारी समन्वय नहीं हो पाता। यह ऐसी लम्बी कथा है जिसके वर्णन में पोथा बन सकता है परन्तु हम महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा का निम्न उद्धरण ही पर्याप्त समझते हैं। डाक्टर महोदय ने मनुस्मृति पर टिप्पणियाँ (Manu-Smriti—Notes) दो जिल्दों में में लिखी हैं जो कलकत्ता यूनीवर्सिटी की ओर से छपी हैं। दूसरी जिल्द में मनुस्मृति श्लोक १४ और १५ पर उन्होंने एक लम्बा नोट लिखा है। श्लोक यह हैं:—

डा० झा की साक्षी

उद्वबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम्॥
महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च॥
(मनु० १।१४-१५)

डाक्टर झा की टिप्पणी इस प्रकार—

"The confusion regarding the account of the process of creation in Manu is best exemplified by these two verses. The names of the various evolutes have been

so promiscuously used, that the commentators have been led to have recourse to various forced interpretations, with a view to bring the statement herein contained into line with their own philosophical predilections. Medha., Kullu, Govi, and Ragh take it as describing the three principles of the Sankhya—*Mahat, Ahankara* and *Manas* ; but finding that the production of *Ahankara* from *Manas*, or of *Mahat* (which is what they understand by the term '*Mahantam atmanam*') is not in conformity with the Sankhya doctrine,—they assert that the three evolutes have been mentioned here 'in the inverted order.' Even so, how they can get over the statement that '*Ahankar*' was produced 'from manas', (*Manasah*') it is not easy to see. Similarly the '*atman*' from which *Manas* is described as being produced, Medha explains as the Sankhya '*Pradhana*' and Kulla, as the Vedantic 'Supreme soul'.

Buhler remarks that according to Medha, by the particle '*cha*' 'the subtle elements alone are to be understood.'

This does not refresent Medha correctly, his words being—

'चशब्देन विषयांश्च शब्द स्पर्शरूपरसगंधान् पृथिव्यादीनि च ।

Inorder to escape from the above difficulties, Nandan has recourse to another method of interpretation—no less forced than the former. He takes '*Manas*' as standing for *mahat*, and '*Mahantam atmanam*' as the *Manas*.

नन्दन की साक्षी

Not satisfied with all this, Nandan remarks that the two verses are not meant to provide an accurate account of the precise order of creation ; all that is meant to be shown is that all things were produced out of parts of the body of the Creator Himself.

इस उद्धरण का भावानुवाद

मनु में सृष्टि-उत्पत्ति वर्णन सम्बन्धी गड़बड़ का सब से अच्छा उदाहरण यह दो श्लोक (१ । १४-१५) हैं । भिन्न-भिन्न विकृतियों के नाम इस झमेले से प्रयुक्त हुये हैं कि भाष्यकारों को सृष्टि-उत्पत्ति के इस वर्णन का अपने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के साथ समन्वय करने में बहुत बड़ी खींचा-तानी की आवश्यकता पड़ी है । मेधातिथि, कुल्लूक, गोविन्दराज, और राघवानन्द का मत है कि इसमें सांख्य के तीन तत्वों—महत्, अहंकार और मन का

वर्णन है। परन्तु यह देख कर कि सांख्य सिद्धान्तानुसार मन से अहंकार या महत् की उत्पत्ति नहीं होती (महान्तं आत्मानं से वे महत् तत्व का ही अर्थ लेते हैं), उनको कहना पड़ा कि तीनों विकृतियों को 'उलटे क्रम' से वर्णन किया गया है। इस पर भी मन से (मनस् :) अहंकार पैदा हुआ इस अड़चन का समझना सुगम नहीं है। इसी प्रकार 'आत्मा' जिससे मन की उत्पत्ति बताई जाती है मेधातिथि के मत में सांख्य का 'प्रधान' और कुल्लूक के मत में वेदान्तियों का 'ब्रह्म' है। बूहलर का कथन है कि मेधातिथि के मतानुसार 'च' से सूक्ष्म तत्व ही समझने चाहिये। परन्तु मेधातिथि के कथन का यह शुद्ध अनुवाद नहीं है। मेधातिथि के शब्द यह हैं :— 'चशब्देन विषयांष्च शब्दस्पर्श रूपरसगन्धान् पृथिव्यादिनि 'च'।

इन कठिनाइयों से बचने के निमित्त नन्दन दूसरी ही रीति से व्याख्या करता है जो कुछ कम खींचा-तानी नहीं है, वह कहता है कि 'मन' का अर्थ है 'महत्' और 'महान्तं आत्मानं' का मन।

इससे भी सन्तुष्ट न होकर नन्दन कहता है कि इन दो श्लोकों का यह उद्देश्य नहीं है कि सृष्टि-उत्पत्ति का ठीक-ठीक क्रम शुद्ध रीति से वर्णन किया जाय। इनका उद्देश्य केवल इतना है कि सब पदार्थ ब्रह्मा के शरीर के अवयवों से उत्पन्न हुये हैं।

हमने यह लम्बा उद्धरण इसलिये दिया है कि पाठकगण सृष्टि-क्रम के इस मनोरंजक परन्तु अशुद्धि-पूर्ण वर्णन को समझ सकें और बूहलर के इस कथन की सत्यता को समझ सकें कि इतना भाग पीछे से मिलाया गया है। आपके दार्शनिक सिद्धान्त कुछ भी क्यों न हों, आप इस सृष्टि-उत्पत्ति वर्णन का

ओर-छोर पाने में समर्थ न होंगे। यदि नन्दन का यह कहना सत्य है कि इन श्लोकों का मुख्य उद्देश्य केवल ब्रह्मा के शरीर से सब पदार्थों की उत्पत्ति दिखाना है तो यह उद्देश्य दो शब्दों या आधे श्लोक में ही पूरा हो सकता था। इतने श्लोक बढ़ा कर स्मृति का आकार व्यर्थ में ही क्यों बढ़ा दिया गया। यदि पाठक-गण इन श्लोकों को वार वार पढ़ेंगे और पूर्वापर प्रसंग मिलाने की चेष्टा करेंगे तो उनको अवश्य ही भूल-भुलइयों में होकर गुज-रना पड़ेगा।

मन्वन्तर

इसी अध्याय में एक और स्थल है जो है तो उत्तम परन्तु क्षेपक प्रतीत होता है। श्लोक ६१ से लेकर ७३ तक मन्वन्तरों, युगों, संध्या तथा संध्यांशों का वर्णन है जो सृष्टि-उत्पत्ति काल पर अच्छा प्रकाश डालता है परन्तु जिस स्थल पर यह वर्णन है वहां काल की संख्या का कुछ भी प्रसंग नहीं है। ६१ वां श्लोक यह है।

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वा स्वा महात्मानो महौजसः ॥

अर्थात् इस स्वायंभुव मनु के छः और वंशज मनु हुये जिन्होंने अपनी-अपनी प्रजायें उत्पन्न कीं। इस सिद्धान्त की सत्यता में बड़ा सन्देह है। मन्वन्तर का यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक मनु के आरम्भ में सृष्टि उत्पन्न हो और अन्त में प्रलय हो जाय और दूसरा मनु अपनी प्रजा फिर से उत्पन्न करे। जहां सृष्टि के काल तथा ब्रह्म-दिन और ब्रह्म-रात्रि का वर्णन है वहां मन्वन्तर ब्रह्म-दिन अर्थात् सृष्टि-काल के ही भिन्न-भिन्न भाग हैं। आगे कहा भी है :—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत् प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन् निबोधत॥

(मनु० १।६८)

जिस प्रकार मनु शब्द कहीं मनुष्य का वाचक और कहीं ईश्वर का वाचक है इसी प्रकार 'मन्वन्तर' शब्द में 'मनु' काल की एक विशेष इकाई का वाचक है, न कि पुरुष विशेष का। काल की इकाई को मनुष्य समझ कर उसके वंशज नियत करना और उन वंशजों के द्वारा सृष्टि उत्पन्न कराना सर्वथा भ्रम-मूलक कल्पना है। मनु के वंशज मनुओं का क्या अर्थ ? स्वायंभुव मन्वन्तर के मनु का स्वारोचिष मन्वन्तर वंश कैसे हो गया ? क्या यह शारीरिक वंश परम्परा थी ? क्या यह दूसरा मनु पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के सिलसिले से पहले मनु का वंशज था। यदि था तो क्या दूसरे मन्वन्तर के आरंभ में सब मर गये, केवल एक यही मनु बचा जिसने प्रजा उत्पन्न की। और इस प्रकार अगले मन्वन्तरों में भी सब मरते गये, केवल एक मनु बचता गया ? यदि कहा जाय कि एक मन्वन्तर के अन्त में प्रलय हो जाती है और दूसरे मन्वन्तर के आदि में फिर सृष्टि उत्पन्न होती है, तो फिर ब्रह्मदिन का क्या अर्थ होगा क्योंकि प्रत्येक ब्रह्मदिन में १४ मन्वन्तर होने चाहियें। वस्तुतः बात यह है कि 'मनु' शब्द के भिन्न २ अर्थों में गड़बड़-झाला उत्पन्न करके मनु द्वारा प्रजा उत्पन्न करने की बात गढ़ली गई। श्लोक १।६२ में सात मन्वन्तरों के नाम गिनाये हैं:—

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च॥

अर्थात् स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत और सबसे पहला स्वायंभुव जिसका वर्णन पहले आ चुका, यहाँ प्रश्न होता है कि अगले सात मन्वन्तरों का उल्लेख क्यों नहीं किया गया। यहाँ कहा जा सकता है कि मनुस्मृति में केवल भूतकाल का उल्लेख है भविष्य का नहीं। आजकल वैवस्वत मन्वन्तर है इसलिये आदि से लेकर आजतक के मन्वन्तर गिना दिये। परन्तु यह कोई संतोष जनक उत्तर नहीं है। यहाँ पुराना इतिहास लिखना नहीं था किन्तु काल के विभाग देने थे। ऐसा करने के लिये अगले युगों के नाम भी आवश्यक थे। यदि कहा जाय कि इतिहास मात्र दिया गया है तो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि वर्तमान मन्वन्तर अर्थात् वैवस्वत सर्वथा नया है और उसमें प्रजा नये सिरे से उत्पन्न की गई है तो यह मनुस्मृति वैवस्वत मनु की बनाई होनी चाहिये न कि स्वायंभुव मनु की। ऐसा नहीं माना जाता। श्लोक १।६४ में काल का परिमाण बताने के लिये छोटी से छोटी इकाई अर्थात् 'निमेष' से आरंभ किया जाता है और अन्त को 'युग' तक का वर्णन आता है। इस क्रमशः वर्णन के पहले यकायक मन्वन्तरों का नाम कहाँ से कूद पड़ा। श्लोक १।७२ में समय का विभाग बताकर फिर आकाश वायु, अग्नि आदि की उत्पत्ति का वर्णन आरंभ हो जाता है। श्लोक १।८१ से १।८६ में समय का विभाग बताकर फिर आकाश, वायु, अग्नि आदि की उत्पत्ति का वर्णन आरंभ होजाता है। श्लोक १।८१ से १।८६ तक सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग की विशेषतायें बताई गई हैं जो सर्वथा कल्पित और भ्रममूलक हैं। कलियुग को ह्रास-युग बताकर एक ऐसी शिक्षा का बीज बोदिया गया है जिसने भारत निवासियों को रसातल को पहुँचा दिया। प्रत्येक भारतवासी के मस्तिष्क में यह भ्रम बैठ गया है कि कलियुग में उन्नति हो ही नहीं

सकती, धार्मिक जीवन बन ही नहीं सकता। यह तो काल का प्रभाव है, इसमें उनका दोष नहीं। यह प्रवृत्ति कितनी भयानक है इस पर जितना कहा जाय थोड़ा है। काल के विभागों का धर्म से क्या सम्बन्ध ? बहुत से लोग कहा करते हैं कि जैसे शिशिर ऋतु में लोग रज़ाई ओढ़ते हैं और ग्रीष्म काल में पंखा चलाते हैं, इसी प्रकार सतयुग में सत्य और धर्म की प्रधानता होती है और कलि-युग में उनका ह्रास हो जाता है। परन्तु यह लोग तनिक नहीं सोचते कि धर्म के लक्षण तो सार्वदेशिक और सार्वकालिक होते हैं। यदि काल धर्म और अधर्म के तल का भी निश्चित किया करे तो फिर मनुष्य क्या करे ? और किस प्रकार उसकी कर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता रह सके। अस्तु ! यह तो रही सिद्धान्त की बात, परन्तु जिस क्रम-भंग का हमने ऊपर संकेत किया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सब मिलावट है और कई बार की मिलावट है जिसका ठीक ठीक अनुसन्धान कठिन काम है।

मनुस्मृति और वेद

पाठकगण प्रश्न कर सकते हैं कि हमारे पास मिलावट जाँचने की कौन सी तराजू है। इसलिये इस विषय में संक्षेप से कुछ लिख देना असंगत न होगा। मनुस्मृति कोई असम्बद्ध स्वतंत्र पुस्तक नहीं है। यह वैदिक साहित्य का एक ग्रन्थ है। वैदिक धर्म का प्रतिपादन ही इसका कार्य्य है। वेद ही इसका मूलाधार है॥ यह बात कल्पित नहीं है किन्तु मनुस्मृति से ही सिद्ध है नीचे के श्लोक इसकी साक्षी हैं।

(१) वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (२।६)

(२) वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥
(२।१२)

(३) प्रमाणं परमं श्रुतिः (२।१३)

(४) वेदास्त्यागश्च.........(२।९७)

(५) वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥
(२।१६६)

(६) वेद यज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद् भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥
(२।१८३)

(७) वेदानधीत्य वेदौवा वेदं वापि यथाक्रमम् ॥
(३।२)

(८) वेदाभ्यासोऽन्वहंशक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥
(११।२४५)

(९) आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥
(१२।१०६)

कई सहस्र वर्षों से वैदिक धर्म में विप्लव उत्पन्न हो गये और सब से अधिक चोट वैदिक ग्रन्थों पर आई। प्राचीन वैदिक धर्म के सिद्धान्त एक ऐसी कसौटी हैं जिनके द्वारा वैदिक ग्रन्थों की मिलावट अधिकांश में कसी जासकती है।

हम मनुस्मृति की मिलावटों को विशेष कर चार भागों में विभक्त करते हैं:—

(१) **मांस-भक्षण सम्बन्धी**—ऊपर बताया जा चुका है कि मनुस्मृति का मौलिक सिद्धान्त अहिंसा है। वेद में अहिंसा पर विशेष बल दिया गया है। यजुर्वेद कहता है।

मांस-भक्षण सम्बन्धी क्षेपक

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

अर्थात् प्रत्येक प्राणी को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिये। न केवल वैदिक किन्तु सभी धर्मों का आधार अहिंसा होनी चाहिये। यदि मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुँचाने में संकोच न करे तो सदाचार के किसी भाव का पालन नहीं कर सकता। मनुस्मृति ने इस बात को बहुत स्पष्ट रीति से वर्णन किया है इसलिये जहाँ कहीं पशु-वध का विधान है वह सब मिलावट है। कुछ लोग समझते हैं कि यज्ञों में पशु-वध विहित है। परन्तु मनुस्मृति के मौलिक सिद्धान्त इस बात की भी पुष्टि नहीं करते। देखिये:—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥

(३।६८)

यहाँ गृहस्थ के पाँच ऐसे पातकों का उल्लेख किया है जो प्रत्येक गृहस्थी को बिना जाने बूझे करने पड़ते हैं जैसे चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली, और घड़ौची। इनके प्रयोग से छोटे छोटे कीड़े दब कर मर जाते हैं। गृहस्थियों को यह हिंसा बिना इच्छा के ही करनी पड़ती है। वे नहीं चाहते कि किसी को पीड़ा दें। परन्तु पहुँच जाती है। जिस धर्म में अनजाने चीटियों के मर जाने से

भी मनुष्य दोषी ठहरता हो उसमें जान बूझ कर किसी को मार डालना कितना बड़ा पाप न होगा। इसी सूना दोष मिटाने के लिये एक प्रकार के दैनिक प्रायश्चित के रूप में महायज्ञों का विधान है:—

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥

(३।६९)

ये पाँच महायज्ञ यह हैं:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥

(३।७०)

ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वयज्ञ और नरयज्ञ। लोग यह समझते हैं कि यज्ञ और पशु बध का विशेष सम्बन्ध है। यज्ञ का अर्थ ही बहुत लोग मारना समझते हैं, और यही 'बलि शब्द का अर्थ समझा जाता है। दुर्भाग्य का विषय है कि यह दोनों शब्द अपनी उत्कृष्टता से गिर कर इस अधोगति को पहुँच-गये हैं। 'यज्ञ' यज धातु से निकलता है जिसका अर्थ है देव पूजा, संगतिकरण तथा दान। इससे और मारने से क्या सम्बन्ध? कुछ लोग यहाँ तक समझते हैं कि नरयज्ञ वह यज्ञ है जिसमें मनुष्य को मार कर उसके मांस की आहुति दी जाती है। इन भले आदमियों से पूछो कि क्या इसी प्रकार ब्रह्मयज्ञ में ब्रह्म को मारा जाता होगा। और पितृयज्ञ में माता-पिता को! अर्थ अनर्थ करने वालों के लिये क्या कहा जाय। नर यज्ञ का पर्य्याय अतिथि यज्ञ है। मनुस्मृति कहती है कि 'नरयज्ञ' का अर्थ है 'अतिथि पूजन'। फिर भी लोग यज्ञ को हिंसापरक समझने लगे तो इसमें

विचारे शब्द का क्या दोष ? इसी प्रकार बलि का अर्थ है 'भूत-यज्ञ' अर्थात् चींटी कौवे आदि को भोजन पहुँचाना । इसलि पितृयज्ञ में पशु हिंसा करने का विधान स्पष्टतया पीछे की मिलावट है । जिस समय महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया उस समय यज्ञों में पशुओं को मारकर चढ़ाना एक साधारण बात थी । इसी अत्याचार से दुखी होकर महात्मा बुद्ध ने वैदिक यज्ञों का निषेध किया था क्योंकि वस्तुतः वह यज्ञ वैदिक नहीं रह गये थे । वाम-मार्ग अर्थात् उलटे मार्ग का प्रचार था । प्रतीत होता है कि उसी समय या उसके पश्चात् मनुस्मृति में यह मिलावट हुई ।

(२) मृत-पितरों का श्राद्ध, तर्पण आदि ।

श्राद्ध सम्बन्धी क्षेपक

यह दूसरी मिलावट है । ऊपर बताया जा चुका है कि

पितृयज्ञस्तु तर्पणम्

(मनु० ३।७०)

पितृयज्ञ को तर्पण कहते हैं । साधारण हिन्दू समझता है कि तर्पण मरे पितरों को पानी देने का नाम है । मनु के इस श्लोक से तो 'मृत पितरों' की गंध नहीं पाई जाती । इसी श्लोक का भाष्य करते हुये कुल्लूक भट्ट लिखते हैं:—

'अन्नाद्येनोदकेन वा' इति तर्पणं वक्ष्यति स पितृयज्ञः । अर्थात् "तर्पण में अन्न और पानी देने का विधान आगे कहेंगे । यही पितृयज्ञ है" । जिसके विषय में 'वक्ष्यति' (आगे कहेंगे) लिखा है । वह श्लोक यह है:—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥
(३।८२)

अर्थात् पितरों को प्रीति पूर्वक बुलाकर खाना, पानी, दूध, मूल फल से प्रति दिन श्राद्ध करे। इस श्लोक के होते हुये कौन कह सकता है कि यहाँ मृत पितरों को रोज़ बुलाने का विधान है ? इन दोनों श्लोकों और कुल्लूक की टिप्पणी को देख कर प्रतीत होता है कि जिसको तर्पण कहते हैं वही श्राद्ध है। एक श्लोक में तर्पण शब्द आया है और दूसरे में श्राद्ध। बात एक ही है अर्थात् माता पिता को प्रीतिपूर्वक बुलाकर उनके खाने पीने का प्रबन्ध करना। "अन्नाद्येन उदकेन" का अर्थ 'खाना पानी' ही हो सकता है। "अन्नाद्य" वैदिक ग्रन्थों का एक परिचित शब्द है जो इसी अर्थ में आता है। मरे हुये पितरों को प्रीतिपूर्वक बुलाने का कुछ भी अर्थ नहीं। वह आ ही कैसे सकते हैं ? वैदिक सिद्धान्तानुसार तो उनका दूसरा जन्म हो जाता है और जो पुनर्जन्म को नहीं मानते वह भी मृत आत्मा को कुछ न कुछ गति तो मानते ही हैं। उनके मत में भी मृतकों का बुलाना असम्भव है। मृतकों को खाना पानी पहुँचाने की प्रथा कहाँ से चली यह कहना कठिन है। साधारणतया तो यह प्रथा बहुत पुरानी मालूम होती है। दो सहस्र वर्ष से तो अवश्य पुरानी है इसलिये समस्त तत्कालीन साहित्य में इतस्ततः इसके उदाहरण मिलते हैं। मर कर आत्मा की क्या गति होती है इसके विषय में प्राचीन मिश्र आदि देशों की जातियों में भिन्न भिन्न मत थे। आत्मा के साथ प्रेम करते करते हमको शरीर से भी प्रेम हो जाता है। यह शरीर का प्रेम ही है जिसके कारण लोगों ने मृतक की

लाश का अनेक प्रकार से आदर सम्मान करने की प्रथा डाल ली। वैदिक सिद्धान्त तो यह था कि

भस्मान्त ꣳ शरीरम्

(यजुर्वेद ४०।१५)

अर्थात् मरने पर लाश को जला देना चाहिये। मनु २।१६ से भी ऐसा ही पाया जाता है। यही सब से उत्तम रीति थी। क्योंकि पांच-भौतिक शरीर को बिना सड़े गले अपने कारण में लय कराने की अन्य कोई विधि नहीं है। परन्तु जो लोग मृत्यु के तत्व को नहीं समझते थे वह उसी प्रकार मृतक के शव को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करते थे जैसे बंदरिया अपने मरे हुये बच्चे को गले से चिपटाये फिरा करती है। शव को सुरक्षित रखने के कई प्रकार प्रचलित हो गये। मिश्र देश में लाश के भीतर मसाला लगा कर शरीर के ऊपरी भाग को सुरक्षित रखने की प्रथा थी। कुछ लोग समझते थे कि मृत आत्मा को परलोक यात्रा के लिये खाना पानी रख देने की आवश्यकता है जैसे यात्रा पर चलते समय लोग साथ भोजन बांध लेते हैं। इस प्रकार लोग लाश के साथ भोजन या पिण्ड रखने लगे। 'पिंड' शब्द का मौलिक अर्थ भोजन था जैसा कि नीचे के उदाहरणों से ज्ञात होता है :—

(१) तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्त बाहुः ।
सन्यस्त शस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् **पिण्डा** मवामिषस्य ॥

(रघुवंश २।५९)

(२) न शोच्यस्तत्र भवान् सफलीकृतभर्तृ **पिण्डः** ।

(मालविकाग्निमित्र पंचमोऽङ्कः)

(३) लांगूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च ।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुंगवस्तु
धीरं विलोकयति चाटु शतैश्च भुंक्ते ॥

(भर्तृहरि नीतिशतकम् ३१)

जब यह लोग लाश के साथ पिंड रखते थे तो यह जानने का यत्न नहीं करते थे कि यदि आत्मा यात्रा पर चली गई तो भी वह लाश से तो निकल ही गई । लाश के साथ भोजन रखने से क्या प्रयोजन ? आत्मा मरने के पश्चात् कहीं जाय, चाहे नष्ट हो जाय, चाहे अन्यत्र चली जाय । कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उसका इस शरीर के साथ सम्बन्ध टूट गया । जीवन और मृत्यु में क्या भेद ? यही न कि जब तक जीव शरीर के साथ है जीवन है, जब साथ छूट गया तो मृत्यु हो गई । इस प्रकार मृतक के शव के साथ भोजन या पिंड रखना कुछ अर्थ नहीं रखता । परन्तु मनुष्य में मोह होता है । वह अज्ञानवश मृत्यु के तत्व को भूल जाता है और मृतक की लाश से ही प्रेम करने लगता है । क़बरों पर फातिहा पढ़ने की प्रथा भी इसी अज्ञान की द्योतक है । लोग क़बरों पर चद्दर चढ़ा कर समझते हैं कि आत्मा उस क़बर में कहीं चिपटी हुई है । 'पिंड' के यह मौलिक अर्थ पीछे से बदल गये और पिंड शब्द आटे के उन पिंडों का अर्थ देने लगा जो आज कल मृतक के नाम पर दिये जाते हैं ।

जब एक बार कोई प्रथा चल पड़ती है तो उसके लिये युक्तियां भी गढ़ ली जाती हैं, चाहे वह प्रथा कितनी ही भ्रमात्मक क्यों न हो । भिन्न भिन्न देशों के इतिहास में इस प्रकार की युक्तियाँ मिलती हैं । जिन देशों में पुनर्जन्म मानने की प्रथा जाती रही वहाँ के लोगों का विचार था कि आत्मा शरीर से निकल कर विक्षिप्त

अवस्था में इधर उधर फिरती रहती है। उसकी शांति के लिये कुछ कृत्य करना होता है। भारतवर्ष के हिन्दुओं ने भी एक युक्ति गढ़ ली कि भौतिक शरीर के त्यागने पर जो लिंग शरीर रह जाता है उसकी पुष्टि पिंडदान द्वारा की जाती है। मौनियर विलियम्स (Monier Williams) ने हिन्दुओं के श्राद्ध के विषय में लिखा है।

"It is performed for the benefit of a deceased person after he has regained an intermediate body and become a Pitri or beatified father". (*Brahmanism* p. 285)

अर्थात् मृतक के आत्मा के 'पितृ' हो जाने पर उसके लिङ्ग शरीर के लाभार्थ श्राद्ध किया जाता है। परन्तु लोग यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि श्राद्ध करके या पिण्डदान करके लिङ्ग शरीर को किस प्रकार लाभ पहुँचाया जा सकता है। साधारणतया तीन पीढ़ियों तक श्राद्ध किया जाता है। इससे भी प्रतीत होता है कि जीवित पिता, पितामह, प्रपितामह आदि के श्राद्ध तर्पण का ही बिगड़ कर यह रूप होगया है। लिंग शरीर को इन तीन पीढ़ियों तक ही क्यों लाभ पहुँचता है और लिंग शरीर इतने दिनों पुनर्जन्म के लिये क्यों ठहरा रहता है, यह एक ऐसी समस्या है जो मृतक श्राद्ध के ढकोसले को आगे बढ़ने नहीं देती।

कुछ लोगों ने 'पुत्र' शब्द की व्युत्पत्ति को मृतक श्राद्ध के पक्ष में लिया है। 'पुत्र' कहते हैं 'पुन्' नाम नरक से जो बचावे उसको। लोग कहते हैं कि पुत्र जब श्राद्ध करेगा तो पिता नरक से बच सकेगा। यदि किसी का पुत्र श्राद्ध नहीं करता तो उसका

नरक से त्राण भी नहीं होने का। परन्तु ऐसी धारणा करने वाले कर्म के सिद्धान्त को नहीं समझते। मौनियर विलियम्स ने इस विषय में एक चुभता हुआ नोट दिया है :—

It is wholly inconsistant with the true theory of Hinduism that the Shraddha should deliver a man from the consequence of his own deeds. Manu says "Iniquity once practised, like a seed, fails not to yield its fruit to him that wrought it." (iv 173) but Hinduism bristles with such inconsistencies.

(*Brahmanism*, page 28.)

"अर्थात् यह बात हिन्दू धर्म के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है कि श्राद्ध के द्वारा मनुष्य अपने निज कर्मों के फल से बच सकें क्योंकि मनु ४।१७३ में लिखा है कि एक बार किया पाप बीज के समान फल लाने से नहीं रुक सकता। परन्तु हिन्दू धर्म इस प्रकार के परस्पर-विरोधों से भरा पड़ा है।" वस्तुतः बात भी ठीक है। जब मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही दूसरी योनि पाता है तो उसके पुनर्जन्म को उसकी सन्तान के कर्मों के आधीन कर देना कहाँ का न्याय है ?

शायद पाठक कहें कि फिर पुत्र को नरक से बचाने वाला क्यों कहा ? क्या निरुक्त में यास्क ने 'पुत्र' की यह व्युत्पत्ति नहीं की ? हमारा उत्तर यह है कि व्युत्पत्ति तो ठीक है। केवल समझ का फेर है। प्रथम तो यह धारणा भ्रम-मूलक है कि 'पुत्र' केवल लड़के को ही कहते हैं 'लड़की' को नहीं।

यास्क के निरुक्त में यह श्लोक मिलता है :—

अविशेषण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भवोऽब्रवीत् ॥

अर्थात् धर्म के अनुसार लड़का और लड़की दोनों को बिना विशेषता के दाय भाग मिलता है। ऐसा स्वायम्भव मनु ने कहा था।

दूसरे, सन्तान को नरक का त्राता कहने का तात्पर्य यह है कि सन्तानोत्पत्ति करके और उसका यथोचित्त पालन करके मनुष्य 'पितृ-ऋण' से छूट जाता है। बिना ऋण चुकाये मोक्ष का भागी होना कठिन है। सन्तान को धर्मात्मा और सुशिक्षित छोड़ जाना एक प्रकार से मृतक के आत्मा के लिये भी लाभ-दायक है। क्योंकि पिता मरकर जब जन्म लेगा तो उसी प्रकार के घरों में जैसा उसने छोड़ा है। यदि सन्तान अधर्मी और विद्या-हीन है तो आने वाले समाज की अवस्था भी बुरी होगी। और जो आत्मा मर कर जन्म लेगी उसको इसी बुरे समाज के नरक रूपी गढ़े में पड़ना पड़ेगा जिससे उसका अगला विकास बन्द हो जायगा। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संतान मनुष्य को नरक से बचाती है, परन्तु पिंडे देकर नहीं किन्तु सामाजिक वातावरण को शुद्ध करके। यदि इस दृष्टि से देखा जाता तो मौनियर विलियम्स को हिन्दू धर्म में इतना विरोध दिखाई न पड़ता। परन्तु जब हिन्दुओं ने स्वयं ही अपने सिद्धान्तों को बिगाड़ रक्खा हो तो विदेशियों का क्या दोष ?

भारतवर्ष में यह प्रथा कब से चली इसमें सन्देह है। भारत-वर्षी पहले भी पुनर्जन्म को मानते थे और अब भी मानते हैं।

बौद्ध और जैन मतों ने वेदों को मानना त्याग दिया था परन्तु पुनर्जन्म पर वह भी उसी भांति विश्वास रखते थे। दूसरे देशों के अति प्राचीन इतिहास तो पुनर्जन्म का पता देते हैं परन्तु पीछे के लोगों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को त्याग दिया और वे मृत आत्माओं की भांति भांति से पूजा करने लगे। इसका प्रमाण पूर्वी तथा पश्चिमी देशों के इतिहास से मिलता है। बौद्धमत का जब चीन, जापान, ब्रह्मा आदि देशों में प्रचार हुआ तो बौद्ध लोग भी मृत-आत्मा के उपासक बन गये। बौद्धों का सिद्धान्त 'आत्मा' के विषय में वही नहीं है जो वेदों का है। बौद्धों का आत्म-विज्ञान-वाद भारतवर्ष के अन्य मतों के आत्मा-विषयक भिन्न २ वादों से भेद रखता है। वे आत्मा को एक स्थायी पदार्थ नहीं मानते। इनका निर्वाण भी वैदिक अपवर्ग से भिन्न है। श्री शंकराचार्य ने वेदान्त भाष्य में इसका कई स्थलों पर उल्लेख किया है। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् उनके उपासक उनको पूजने लगे थे। इस पूजा का यही अर्थ है कि वह मृत आत्मा को पूजते थे। यद्यपि महात्मा बुद्ध के ज्ञातक में मृतक श्राद्ध का उल्लेख मिलता है और चार्वाक आदि की पुस्तकों में मृतक श्राद्ध का खंडन आता है तथापि बौद्धों ने मृत-आत्मा की पूजा के प्रचार में कमी के बजाय बढ़ती ही की। इसका एक चिह्न यह है कि भारतवर्ष के भिन्न भिन्न तीर्थ स्थानों में जो भिन्न कारण से वर्तमान प्रसिद्धि को प्राप्त हुये हैं गया का तीर्थ स्थान केवल मृतक-श्राद्ध और तर्पण के लिये प्रसिद्ध है। 'गया' के तीर्थ होने का पता बुद्ध-भगवान से पहले नहीं मिलता।

मनुस्मृति में तो 'गया' का नाम है ही नहीं। याज्ञवल्क्य में श्राद्ध, तर्पण के सम्बन्ध में 'गया' का नाम आया है :—

यद् ददाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते।
तथा वर्षात्रयोदश्यां मघासु च विशेषतः॥
(याज्ञवल्क्य १।२६१)

याज्ञवल्क्य स्मृति स्पष्टतया ही बौद्ध भगवान से बहुत पीछे की है। हमारी धारणा है कि 'गया' को इस कीर्ति के दाता बुद्ध भगवान ही थे। जब बौद्धों तथा पौराणिकों में विग्रह आरंभ हुआ और बौद्धों को पराजय तथा पौराणिकों को विजय प्राप्त हुई तो बौद्धों का मन्दिर इनके हाथ लग गया और अभी तक उसी भांति चला आता है। पौराणिक धर्म की नई विशेषताओं का निरीक्षण करने से भली भांति ज्ञात होता है कि प्राचीन वैदिक धर्म के विकृत रूप में यदि बौद्ध और जैन मत की पोट दे दी जाय तो परिणाम पौराणिक मत होगा। पौराणिक मत के ग्रन्थों और बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में इस वाह्य रूप में बहुत बड़ा सादृश्य है। देवी-देवता, अवतार, तीर्थंकर, मूर्तियां, मन्दिर, पूज्य पुरुषों के जन्म तथा आयु से सम्बद्ध-गाथायें सब मिलते जुलते हैं। इसी युग में वैदिक ग्रन्थों में मिलावट भी बहुत हुई है। हमारी धारणा है, कि श्राद्ध और तर्पण का मृतकों के लिये विधान इसी मिलावट का फल स्वरूप है। कुछ लोग कह दिया करते हैं कि यदि मिलावट होती तो उनके प्रमाण इस बहुतायत से न मिलते। वे दो बातों पर विचार नहीं करते। प्रथम तो बौद्ध मत की आंधी का वेग बहुत जोर का था। उसने भारतीय जीवन के सभी विभागों में अपना हस्तक्षेप किया था। दूसरे यह कि इस युग को दो सहस्र वर्ष के लग भग हो गये। इतने समय में जातियाँ कहीं की कहीं पहुँच जाती हैं। यदि पिछले पचास वर्ष के केवल हिन्दी के साहित्यका समालोचनात्मक

अध्ययन किया जाय तो पचास वर्ष पहले के और अब के सिद्धान्तों में बहुत बड़ा भेद मिलेगा। यूरोपियन जातियों के साहित्य में सौ वर्ष पहले विकासवाद का चिह्न भी न था। डार्विन के पश्चात् विकासवाद ने सभ्य देशों के साहित्य के सभी विभागों पर इतना बलपूर्वक आक्रमण किया कि अब काव्य, विज्ञान, इतिहास, दर्शन सभी पर विकासवाद का ठप्पा है। इस लिये यह कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है यदि पितृ-यज्ञ को जीवित पितरों के स्थान पर मृत-पितरों के लिये मान लिया गया। मनु० अध्याय ३।८३ श्लोक इस प्रकार है :—

एकमप्याशयेद् विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत् कंचिद् वैश्वदेवं प्रतिद्विजम्॥

"पंच यज्ञ सम्बन्धी पितृ-यज्ञ में एक ब्राह्मण को भी भोजन कराना पर्याप्त है। परन्तु वैश्वदेव के सम्बन्ध में किसी ब्राह्मण को भोजन न करावे।"

यह श्लोक और आगे के कई श्लोक मृतक-श्राद्ध के गौरव के हेतु ही जोड़े गये हैं और इस अध्याय के अन्त में तो मृतक-श्राद्ध की वह विधियां दी गई हैं जो आज कल के पौराणिकों को भी चक्कर में डालती हैं और उनको कहना पड़ता है कि मनुस्मृति कलियुग के लिये है ही नहीं।

मृतक-श्राद्ध का प्रभाव दायभाग पर भी पड़ा है। हम ऊपर कह चुके हैं कि 'पिंड' का एक अर्थ भोजन है। पिंड का दूसरा अर्थ है उस भोजन से बना हुआ शरीर। पिंड का हिन्दी पर्य्याय लोथड़ा प्रसिद्ध ही है। जैसे मृत्-पिंड अर्थात् मिट्टी का लोथड़ा। पिंड के इसी अर्थ से सम्बद्ध 'सपिंड' है जिसका अर्थ है एक ही शरीर से सम्बन्ध रखने वाला। अर्थात् एक ही माता-पिता

की सन्तान या एक ही परिवार का। याज्ञवल्क्य स्मृति आचाराध्याय विवाह प्रकरण में यह श्लोक है :—

अविप्लुत ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिंडां यवीयसीम्॥
(याज्ञ० १।५२)

विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा टीका में इस श्लोक के 'अस पिंड' शब्द की इस प्रकार व्याख्या की है।

'असपिंडां समान एकः पिंडो देहो यस्याः सा सपिंडा न सपिंडा असपिंडा ताम्। सपिंडता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति। तथा हि पुत्रस्य पितृशरीरावयवान्वयेन पित्रासह। एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात्। एव मातृशरीरावयवान्वयेन मात्रा। तथा मातामहादिभिरपि मातृद्वारेण। तथा मातृष्वसृमातुलादिभिरप्येकशरीरावयवान्वयात्। तथा पितृव्य ष्पितृस्वस्रादिभिरपि। तथा पत्यासह पत्न्या एकशरीरारम्भकतया। एवं भ्रातृभार्याणामपि परस्परमेकशरीरारब्धैः सहैक शरीरारम्भकत्वेन। एवं यत्र यत्र सपिंडशब्दस्तत्र तत्र साक्षात् परम्परया वा एक शरीरावयवान्वयो वेदितव्यः।'

बतलाना यह था कि ऐसी युवती कन्या से विवाह करे जो 'असपिंडा' हो। यहाँ विज्ञानेश्वर कहते हैं कि असपिंड वह है जो सपिंड न हो। पिंड कहते हैं देह को। जिसकी एक देह हो वह सपिंड है। शरीर के अवयवों के अन्वय से सपिंडता होती है। पुत्र के शरीर में पिता के शरीर के अवयव होते हैं इसलिये पिता और पुत्र सपिंड हैं। इसी प्रकार से पितामह के शरीर के अवयव पिता के द्वारा पुत्र के शरीर में आते हैं। इसलिये पितामह भी पौत्र का सपिंड है। इसी प्रकार माता के शरीर के अवयव भी पुत्र के शरीर में आते हैं। इसलिये माता और पुत्र सपिंड हुये। इसी प्रकार नाना के शरीर के अवयव भी माता के द्वारा पुत्र में आते हैं इसलिये नाना भी दौहित्र का सपिंड हुआ। इसी प्रकार मौसी और मामा के साथ भी सपिंडता होती है। इसी प्रकार चचा और फूफी के साथ भी। इसी प्रकार पति और पत्नी की सपिंडता आरम्भ हो जाती है। इसी प्रकार भौजाइयों के साथ भी। इस प्रकार जहां जहां सपिंड शब्द है वहां वहां सीधा या परम्परा से शरीर के अवयवों का अन्वय समझना चाहिये।"

विज्ञानेश्वर ने यहाँ बड़ी उत्तमरीति से 'सपिंड' शब्द का अर्थ समझा दिया। जो लोग यह समझते हैं कि 'सपिंड' शब्द मृतक श्राद्ध के पिंडों से सम्बन्ध रखता है वे भारी भूल करते हैं और पिंड के मौलिक अर्थों को त्याग कर उसके गौण और कल्पित अर्थ ले लेते हैं। दायभाग का भी मुख्य प्रयोजन यही था। अर्थात् पिता की सम्पत्ति पुत्र को इस लिये मिलती है कि वह उसका सपिंड है अर्थात् पिता के शरीर के अधिकांश अवयव पुत्र के शरीर में विद्यमान हैं। पितामह की सम्पत्ति के कई पौत्र

अधिकारी हैं क्योंकि पितामह से शरीर के अवयव बंट कर पौत्रों तक पहुँचते हैं। पुत्र के शरीर में अधिक अवयव पिता के शरीर के होते हैं और पितामह के शरीर के कम। परिवार और कुटुम्ब के पुरुषों का अधिकार इसी अपेक्षा से कम होता जाता है। संभव है कि जब मृतक श्राद्ध की परिपाटी चल पड़ी तो श्राद्ध करने का कर्तव्य भी उनका अधिकार ठहरा जो सपिंड थे। अर्थात् जिनके शरीर में अपने पूर्वजों के शरीर के अधिक अवयव थे। पीछे से सपिंड शब्द का अर्थ उलट गया। सपिंड इस लिये नहीं है कि पिंडे देता है किन्तु इस लिये है कि पिंड अर्थात् देह के अवयवों का साझी है। यह भी कुछ कम आश्चर्य जनक बात नहीं है कि वेदों में 'सपिंड' शब्द कहीं नहीं आया। एक स्थान पर अर्थात् ऋग्वेद, १।६२।१९ या यजुर्वेद २५।४२ में 'पिण्डानां' शब्द आया है। और इसी वेद मंत्र में उसका पर्य्याय 'गात्रारंभाम्' पड़ा है। इससे सिद्ध होता है कि पिण्ड का अर्थ शरीर है। और मृतक श्राद्ध और दायभाग में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। पितृ शब्द का अर्थ बहुत से लोग मृत पितरों का ही लेने लगे हैं और वेद के कई मंत्रों में आये हुये "पितरों" का अर्थ ऐसा ही मान बैठे हैं। यहाँ सायणाचार्य के ऋग्वेद-भाष्य से एक उदाहरण ही पर्य्याप्त होगा। ऋग्वेद मण्डल १, सूत्र १०६ का ३ रा मंत्र यह है :—

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचना उतदेवी देवपुत्रे ऋतावृधाः।

(ऋ० १।१०६।३)

इस पर श्री सायणाचार्य लिखते हैं :—

नोऽस्मान् पितरोऽग्निष्वात्तादयोऽवन्तु । रक्षन्तु । कीदृशाः । सुप्रवाचनाः सुखेन प्रवक्तुं स्तोतुं शक्याः ।

अर्थात् अग्निष्वात्ता आदि पितर हमारी रक्षा करें। कैसे ? जो भली भांति बातचीत करने में समर्थ हैं। यहाँ 'अग्निष्वात्ता' शब्द इसलिये दिया है कि ऋग्वेद के एक और मंत्र की ओर संकेत हैं जहाँ इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

दायभाग सम्बन्धी श्लोकों के विषय में हम आगे भी कहेंगे। यहाँ केवल श्राद्ध-सम्बन्धी संकेत कर दिया गया है।

(३) तीसरी मिलावट वर्णों को जन्म के अनुसार निश्चित करने के सम्बन्ध में है।

वर्ण सम्बन्धी क्षेपक

आज कल हिन्दू जाति बहुत सी उपजातियों में विभक्त है। यह सब जन्म पर निर्भर हैं। अर्थात् ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण होता है और कान्यकुब्ज ब्राह्मण का कान्यकुब्ज। क्षत्रिय का लड़का क्षत्रिय होता है। चौहान क्षत्रिय का चौहान। इसी प्रकार नाई का लड़का नाई, कहार का कहार। वेदों में इन उपजातियों के नाम तो हैं नहीं। हां, चार वर्णों का वर्णन आता है। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। हिन्दुओं में यह जनश्रुति प्रचलित है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुये, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य उरू से और शूद्र पैर से। परन्तु आज तक किसी भलेमानस ने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि इसका अर्थ क्या हुआ ? ईश्वर का मुख क्या है और उससे ब्राह्मण कैसे उत्पन्न

हो गये ? ईश्वर का पैर क्या है और उससे शूद्र कैसे उत्पन्न हो गये ? क्या यह आलङ्कारिक भाषा है या वास्तविक ? यदि आलंकारिक है तो वास्तविक अर्थ क्या है ? यदि वास्तविक है तो अर्थ क्या हुआ ? यदि कोई कहे कि आकाश के मुख से हाथी उत्पन्न होगया तो पूछना चाहिये कि आकाश के मुख से क्या तात्पर्य है और उससे हाथी कैसे हो सकता है ? तमाशा यह है कि सैकड़ों वर्षों से हिन्दू यह कहते चले आते हैं कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुये और शूद्र पैरों से। परन्तु किसी ने यह नहीं पूछा कि ईश्वर का पैर क्या है और उससे स्त्री या पुरुष कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। लोग कहते हैं कि वेद में ऐसा लिखा है। जिस वेदमंत्र का प्रमाण दिया जाता है वह यह है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

(यजु० ३१।११)

शब्दार्थ यह है :—

(१) "ब्राह्मणः अस्य मुखं आसीत्।" 'ब्राह्मण इसका मुख था।"

(२) "बाहू राजन्यः कृतः". क्षत्रिय भुजा बनाया गया।

(३) "ऊरू तत् अस्य यत् वैश्यः" जो वैश्य है वह उसकी जंघा थी।

इसमें यह नहीं लिखा गया कि ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय बाँह से और वैश्य जंघा से। अर्थ निकालने के दो ही उपाय हैं। या तो शब्दों से सीधा अर्थ निकलता हो या आलंकारिक अर्थ लेने के लिये कोई विशेष कारण हों। प्रत्येक शब्द

के आलंकारिक अर्थ भी नहीं लेने चाहिये जब तक सीधा अर्थ लेना अप्रासंगिक न हो। और ऐसे आलंकारिक अर्थ भी न लेने चाहिये जो असम्भव या निरर्थक हों।

अब देखना चाहिये कि "ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ" ऐसा अर्थ निकालने के लिये क्या हेतु है? 'मुखं' का अर्थ 'मुखात्' नहीं हो सकता। यह स्पष्ट हैं। न 'आसीत्' का अर्थ उत्पन्न हुआ हो सकता है। "ऊरू तत् अस्य यद् वैश्यः" "जो वैश्य है वही ऊरू है" वाक्य की इस शैली से भी स्पष्ट है कि ऊरू से वैश्य के उत्पन्न होने की कल्पना बुद्धि-शून्य है। फिर यह सब अर्थ कैसे ले लिया गया? इसमें सन्देह नहीं कि समस्त पौराणिक साहित्य इस प्रकार की प्रतिपत्ति से व्याप्त हो रहा है। परन्तु इसको वेदों का आधार तो नहीं मिल सकता। मंत्र के चौथे पाद में अवश्य "पद्भ्यां शूद्रः अजायत" पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ" ऐसे शब्द हैं। परन्तु इस चौथे पाद की प्रत्यनुवृत्ति पहले तीनों तक ले जाना ठीक नहीं। यदि कल्पना कीजिये कि चारों पादों में ऐसा ही होता कि ब्राह्मणोऽस्य मुखादजायत। इत्यादि तो भी प्रसंग को देख कर कुछ और अर्थ लेना पड़ता क्योंकि मुख या बाहू से तो मनुष्य उत्पन्न हो नहीं सकते और न पैरों से, पूर्वापर देखने से अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं क्योंकि जो मंत्र हमने ऊपर दिया है उससे पहला मंत्र यह है:—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्यते। (यजु० ३१।१०)

शब्दार्थ इस प्रकार है:—

यत् = जब

पुरुषं = पुरुष को
व्यदधुः = बनाया
कतिधा = किस किस प्रकार से
व्यकल्पयन् = कल्पना की
मुखं किं अस्य आसीत् - इस का मुख क्या था ?
किं बाहू—भुजायें क्या थीं ?
किं ऊरू = जंघायें क्या थीं ?
पादा उच्येते = दोनों पैर क्या कहे जाते हैं अर्थात किस नाम से पुकारे जाते हैं ।

यहाँ तो शूद्र के सम्बन्ध में भी न पंचमी विभक्ति है, न उत्पन्न होने का सूचक शब्द है । केवल चार प्रश्न हैं कि पुरुष की किस किस रूप से कल्पना की गई है । अर्थात् किस को मुख माना गया, किसको बाहू, किसकी ऊरू, किसको पैर ? इन प्रश्नों से उपमालंकार स्पष्ट है और उसी के अनुसार अर्थ लेने चाहिये । उव्बट ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है :—

वेदों में वर्ण

१—"कति प्रकारं विकल्पितवन्तः"
२—"ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः स्थिता इत्यर्थः"
(उव्बट भाष्य)

महीधर कहते हैं

किं च पादौ उच्येते पादावपि किमास्तामित्यर्थः ।
(महीधर भाष्य)

इनसे स्पष्ट है कि यहाँ मुख आदि अंगों से ब्राह्मणादि के उत्पन्न होने की कथा न केवल असंगत किन्तु असंभव भी है

और कोई थोड़ी सी बुद्धिवाला मनुष्य भी ऐसी अंड बंड कल्पना न कर सकेगा। हम महीधर के इन शब्दों से सहमत हैं कि

"प्रश्नोत्तर रूपेणब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्म-वादिनां प्रश्ना उच्यन्ते।"

अर्थात् प्रश्न-उत्तर रूप से ब्राह्मण आदि की सृष्टि का कथन करने के लिये ब्रह्मवादियों के प्रश्न कहे जाते हैं।

इन मंत्रों का सीधा, सुसंगत तथा युक्ति-युक्त अर्थ यही है कि यह जो पुरुष-संघ या मनुष्य जाति है उसमें मुख ब्राह्मण हैं, बाहू क्षत्रिय, ऊरू वैश्य और पैर शूद्र। अर्थात् सब से उत्कृष्ट ज्ञानवान नेता ब्राह्मण कहे जाने के योग्य हैं। बाहू के तुल्य रक्षा करने वाले क्षत्रिय कहे जाने के योग्य हैं। ऊरू के तुल्य धन संचय करने वाले वैश्य और निम्न श्रेणी के लोग शूद्र। मनु-स्मृति के निम्न श्लोक से भी यही ज्ञात होता है:—

मनुस्मृति में वर्ण

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥

(२।१५५)

ब्राह्मणों में बड़प्पन ज्ञान की अपेक्षा से है, क्षत्रियों में शक्ति की अपेक्षा से, वैश्य में धन-धान्य से और शूद्रों में जन्म से। अर्थात् जन्म के द्वारा बड़प्पन मनुष्य की निकृष्टतम वृत्ति है। नीचे के श्लोकों में ब्राह्मण आदि के जो कर्तव्य बताये गये हैं वह भी इसी दृष्टि-कोण को बताते हैं:—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दान प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक् पथं कुसीदंच वैश्यस्य कृषिमेव च॥
एवमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
(मनु० १।८८-९१)

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इनसे पहले श्लोक में "मुख बाहूरुपज्जानां" का क्या अर्थ है। जब अन्य प्रसंगों से अर्थ निश्चित हो गये तो इस वाक्य का अर्थ कुछ अड़चन नहीं डाल सकता। "जनी प्रादुर्भावे" 'जन्' धातु का अर्थ है प्रादुर्भाव जिसके 'जायते' 'अजायत' आदि रूप हैं। इस लिये जब मुख बाहू आदि से उत्पन्न होना एक असंभव बात हो गई तो ऐसे वाक्यों का यही अर्थ लेना चाहिये कि मुख आदि रूप से जिनका प्रादुर्भाव हुआ। अर्थात् जो पुरुष मुख बाहू आदि रूप से कार्य्य करते हैं।

चातुर्वर्ण्य का मूल सिद्धान्त.

यदि कोई जाति सांसारिक व्यवहार के हेतु अपने व्यक्तियों के इस प्रकार के चार भेद कर दे तो यह कोई दोष नहीं, किन्तु गुण है। क्योंकि बिना विभाग किये कार्य्य चल नहीं सकता। आज कल भी प्रत्येक जाति अपने व्यक्तियों

का किसी न किसी प्रकार का विभाग करती है। "सब धान बाईस पसेरी" नहीं हो सकते। मनुष्य स्वभाव से विषम है। यह विषमता प्रकृति और प्रवृत्ति दोनों में पाई जाती है। मनुष्य का हित भी इसी में है। पूर्ण समानता समाज का निर्माण नहीं कर सकती। समाज के निर्माण का मूल तत्व यह है कि प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों के अस्तित्व को अपने अस्तित्व के लिये आवश्यक समझे। इसको आप परस्परतंत्रता (Interdependence) कह सकते हैं। यह परस्परतंत्रता विषमता से ही उत्पन्न होती है। एक कृषक समझता है कि मैं कृषक तो हूँ परन्तु सैनिक नहीं हूँ। सैनिक समझता है कि मैं सैनिक तो हूँ परन्तु कृषक नहीं हूँ। यह भाव इनको एक दूसरे का आश्रय तकने पर बाधित करता है। समाज शास्त्र के प्राचीन, मध्यकालीन तथा अर्वाचीन पंडितों ने समाज के विभाग की जितनी कल्पनायें की हैं उन सब में उत्कृष्टतम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का चातुर्वर्ण्य विभाग है। प्लैटो ने रिपब्लिक में तीन विभाग किये हैं। वे तीनों विभाग पहले तीन वर्णों से मिलते हैं।

प्लैटो और मनु

मौलिक सिद्धान्त वही हैं। परन्तु प्लैटो की त्रयी में बहुत सी त्रुटियां है जो वैदिक चातुर्वर्ण्य में नहीं हैं। यही कारण है कि प्लैटो की त्रयी कभी और कहीं भी सफल नहीं हो सकी। चातुर्वर्ण्य में आजकल त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं। परन्तु इसके पक्ष में एक बात कही जा सकती हैं अर्थात् यह चातुर्वर्ण्य इतनी त्रुटियाँ होते हुए भी आज तक स्थित हैं। मानवी समाज के इतिहास पर अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि आज तक कोई ऐसा त्रुटि-शून्य वर्गीकरण सोचा नहीं जा सका, जो किसी देश या जाति में बहुत दिनों तक सफलता

पूर्वक रह सकें। पाश्चात्य देशों में इस युग के समाज-शास्त्र-विशारद बहुत दिनों से इस धुन में लगे हुये हैं। जो नेता उठता है वर्त्तमान वर्गीकरण के विरुद्ध आवाज़ उठाता है और उसे विध्वंस करने का प्रयत्न करता है। लोगों को शिकायत है कि भारतवर्ष को जाति पांति ने ले डाला। यह सत्य है। वैदिक चातुर्वर्ण्य के स्थान पर ही उसका विकृति रूप जात-पांत भेद है। और जैसे सड़ा दूध पीने से रोग उत्पन्न हो जाते है उसी प्रकार यह जात-पांत का भेद भाव भारतवर्ष के नाश का कारण हो रहा है। परन्तु आक्षेप करने वाले एक बात को भूल जाते हैं। हम उन दोषों पर दृष्टि नहीं डालते जो अन्य देश या जातियों में अन्य प्रकार के वर्तमान-वर्गीकरणों के कारण हो रहे हैं। एक अंगरेज़ ब्राह्मणों को बुरा भला कह सकता है कि वे शूद्रों से मनुष्यता का व्यवहार नहीं करते। और यह ठीक भी है। परन्तु वह भूल जाता है कि उसकी गोरी जातियाँ अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की काली जातियों के साथ भी तो मनुष्यता का वर्ताव नहीं करतीं। वैदिक-वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध जो इस समय चिल्लपौं मच रही है वह सब अच्छे ही भावों को लेकर नहीं है। अधिकतर तो यह इसलिये है कि किसी प्रकार हिन्दू-सभ्यता के विरुद्ध हिन्दुओं को उभार दिया जाय और इस प्रकार इस प्राचीन जाति की प्राचीनतम पूँजी को नष्टभ्रष्ट कर दिया जाय। यदि हम मनुस्मृति तथा अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करें तो इस विषय में हम को इतनी बातों का पता लगेगा :—

(१) चातुर्वर्ण्य—अर्थात् मनुष्य जाति का चार वर्गों में विभाजन आरम्भ में जन्म पर निर्भर न था किन्तु गुणकर्म स्वभाव पर। गीता में कहा है:—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

(२) इससे उत्कृष्ट वर्गीकरण कोई सोच भी नहीं सकता ।

(३) जाति के ह्रास और वैदिक धर्म के लोप के कारण वर्णव्यवस्था जन्म पर मान ली गई और इसी कारण हिन्दू जाति जन्म के अनुसार बहुत सी उपजातियों में विभाजित होगई ।

(४) इस जन्म-मूलक वर्गीकरण ने परस्पर द्वेषाग्नि भड़का दी और स्पृश्य, अस्पश्य, दलित, अदलित, नीच-ऊँच बीसियों ऐसे भेद उत्पन्न कर दिये जिससे हिन्दू संगठन नष्ट होगया । इसका आरम्भ आज नहीं किन्तु कई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ । परशुराम की विख्यात कथा से विदित होता है कि कोई ऐसा युग आगया था जब ब्राह्मण और क्षत्रिय एक दूसरे के घोर शत्रु हो गये थे और ब्राह्मणों ने पृथ्वी को क्षत्रिय-शून्य करने का बीड़ा उठा रक्खा था । यह ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि गुणकर्म स्वभाव के अनुसार होते तो यह युद्ध कभी न हो सकता । प्रतीत होता है कि यह विभाग उस समय जन्म के आधार पर था । परशुराम को इसलिये ब्राह्मण कहा गया है कि उनके पिता ब्राह्मण थे । नहीं तो परशु लिये कोप की अग्नि प्रज्वलित करने वाला ब्राह्मण कैसे हो सकता है ?

(५) जब वर्णों को जन्म के आश्रित मान लिया गया तो प्रत्येक ने अपनी उच्चता और अन्यों की नीचता सिद्ध करने की कोशिश की । और वैदिक साहित्य में ऐसे प्रक्षेप कर दिये गये कि समस्त वायुमंडल दूषित होगया ।

मनुस्मृति और पीछे की पुस्तकों के अवलोकन से यह भेद स्पष्ट हो जाता है । मनुस्मृति में यह मिलावट स्पष्ट है । पीछे की पुस्तकों में तो वर्गीकरण जन्म के आधार पर ही किया गया है

अतः मिलावट का पता नहीं चलता। मनुस्मृति पर प्रायः लांछन लगाया गया है कि इसमें जाति पाँति के भेद भाव को स्थान दे दिया गया है। हिन्दू जाति की वर्तमान अवस्था को देखते हुये यह आक्षेप ठीक सा प्रतीत होता है। परन्तु यह केवल प्रतीति मात्र है। हम प्राचीन काल को देखते समय वर्तमान काल की ऐनक लगा लेते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि हिन्दू जाति की वर्तमान दशा का उत्तरदायित्व मनुस्मृति पर नहीं किन्तु उन लोगों पर है जिन्होंने प्रमादवश मनु के उपदेशों को भुला दिया या स्वार्थवश उसमें क्षेपक मिला दिये। लोग कहते हैं कि मनु ने ब्राह्मणों को उच्चपद क्यों दिया? यह आक्षेप इसलिये हैं कि हम ब्राह्मण का अर्थ 'ब्राह्मणवंशज' ले लेते हैं। यदि ब्राह्मण का अर्थ उस कर्त्तव्य से युक्त मनुष्य का लें जो मनु ने बताया है अर्थात्—"अध्यापन अध्ययन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह" तो प्रत्येक मनुष्य मनु से सहमत होना अपना गौरव समझेगा। प्रत्येक जाति और देश में ऐसे लोग सर्वोपरि समझे जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म और क्षत्र की अच्छी व्याख्या की है।

"क्रतूदक्षौ ह वाऽअस्य मित्रावरुणौ। एतन्न्वध्यात्म ॐ स यद्देव मनसा कामयतऽइदं मे स्यादिद, कुर्वीयेति स एवं क्रतुरथ यदस्मै तत् समृध्यते स दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणोऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्त्ता क्षत्रियः। तेहैतेऽअग्रे नानेवासतुः ब्रह्म च क्षत्रं च ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद् वरुणात् स्थातुम्। न क्षत्रं वरुणः ऋते ब्रह्मणो मित्राद् यद्ध किं च वरुणः कर्म चक्रेऽ

प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैं वास्मै तत्समानृधे । स क्षत्रं वरुणः ब्रह्ममित्रमुपमन्त्रयां चक्रऽउपमावर्तस्व सᳬसृजावहै पुरस्त्वा करवै त्वत् प्रसूतःकर्मकरवाऽ इति तथेति तौ समसृजेताम् ।

(शतपथ काण्ड ४, अध्याय १, ब्राह्मण ४ । १—४)

यहाँ मित्र और वरुण, क्रतु, और दक्ष, ब्रह्म और क्षत्र का जोड़ मिलाया गया है। अर्थात् मित्र, क्रतु और ब्रह्म समानार्थक हैं और वरुण, दक्ष और क्षत्र समानार्थक हैं। शब्दार्थ यह है :—

"मित्र और वरुण इसके क्रतु और दक्ष हैं। यह इनका अध्यात्म है। **अर्थात् क्रतु और दक्ष आत्मिक वृत्तियें हैं**। जब वह मनमें सोचता है कि 'मेरा ऐसा हो जाय, मैं यह करूँ' यही क्रतु और दक्ष अर्थात् मित्र है। और जब उसकी यह इच्छा पूरी हो जाती है तो यह दक्ष हुआ मित्र क्रतु है और वरुण दक्ष। ब्रह्म मित्र है और क्षत्र वरुण। ब्राह्मण सोचता है और क्षत्रिय करता है।

आरम्भ में यह ब्राह्मण और क्षत्रिय अलग थे। तब मित्र अर्थात् ब्राह्मण वरुण अर्थात् क्षत्रिय के बिना रह सकता था लेकिन वरुण या क्षत्रिय मित्र अर्थात् ब्राह्मण के बिना नहीं रह सकता था। वरुण जो कुछ कर्म मित्र या ब्राह्मण की प्रेरणा के बिना करता उसी में असफलता हो जाती।

वह क्षत्रिय वरुण ब्राह्मण मित्र के पास आया और कहा "तू मेरी ओर आ कि हम दोनों मिल जाँय'। **तुझी को आगे रक्खू तेरी ही प्रेरणा से काम करूँ**। उसने कहा 'अच्छा' और वे दोनों मिल गये"।

इस आख्यायिका में शतपथ ब्राह्मण में उस शैली के अनुसार इतनी बातें बताई गई हैं:—

(१) ब्राह्मण और क्षत्रिय आत्मिक वृत्तियें हैं। "सोचने" की वृत्ति को ब्रह्म कहते हैं और "करने" की वृत्ति को क्षत्रिय।

(२) बिना सोचे कर्म नहीं हो सकता है। इसी प्रकार बिना ब्राह्मण के क्षत्रिय सफल नहीं हो सकता। इसलिये ब्राह्मण क्षत्रिय की अपेक्षा उच्च है।

(३) जब दोनों वृत्तियाँ अलग अलग रहती हैं तो असफलता रहती हैं। जब यह दोनों मिल जाती हैं तो सफलता होती है।

आजकल भी सभी सभ्य जातियाँ अपनी ब्रह्मशक्ति का मान करती हैं। सर्वोपरि ब्रह्मशक्ति ही है। वह मस्तिष्क है। विना मस्तिष्क के भुजायें कुछ नहीं कर सकतीं। जिस मूल तत्व को शतपथ ब्राह्मण ने आख्यायिका के रूप में वर्णन किया है, और जिसकी व्याख्या मनुस्मृति में विद्यमान है उसी मूलतत्व का प्रचार हम वर्तमान सभ्य जातियों में पाते हैं। क्योंकि मनु के उपदेश सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि वैदिक सभ्यता के शत्रु गुण को भी अवगुण मानकर हिन्दू जाति की वर्तमान दुर्दशा का दोष मनु के ऊपर थोप रहे हैं। इस दोष का कारण वह क्षेपक हैं जिन में चातुर्वण्य के अतिरिक्त बहुत सी अन्तर्जातियाँ गिना दी गई हैं जो सर्वथा जन्म के ही अश्रित हैं। जन्म के आश्रित जाति भेद करने से प्रायः दो दोष लग जाते हैं जिनके कारण जातियाँ नष्ट हो जाती हैं :—

(१) प्रथम तो अधिकारी पुरुषों की सन्तान अनधिकार चेष्टा करके सब अधिकारों को छीन बैठती है।

(२) दूसरे अन्य परिवार जिनके अधिकार में कुछ नहीं है, बढ़ने नहीं पाते और उनकी सन्तान पददलित हो जाती है।

पहली बात प्रायः तीनों वर्णों में होती है। एक अच्छे राजा का अयोग्य पुत्र भी राज दबा बैठता है। एक योग्य पंडित का मूर्ख लड़का भी अपने बाप की कीर्ति तथा मान का स्वामी बन बैठता है। एक योग्य वैश्य का अयोग्य पुत्र भी अपने बाप का धन ले लेता है। भारतवर्ष में यह तीनों बातें हुईं। और जो लोग किसी समय अपने गुणों के कारण शूद्र थे उनकी सन्तान को उभरने नहीं दिया गया। वे दलित, अछूत तथा विद्या और शुभ गुणों से वंचित कर दिये गये। जैसा जैसा समय आया, स्मृतियों में उसी प्रकार की मिलावट भी कर दी गई। लोगों का आक्षेप कि हिन्दू जाति की वर्ण-व्यवस्था का यह परिणाम है सर्वथा अनुचित है। हम मानते हैं कि आधुनिक हिन्दू जाति का यह दोष है। परन्तु ऐसे दोष उन समस्त जातियों में उत्पन्न हो जाया करते हैं जो एक समय स[illegible]ालिनी हुआ करती हैं। जिस वंश में कभी कोई राजा हो जायगा उसके वंशजों को अयोग्य होते हुये भी राज्याभिलाषा का अवसर मिलेगा। जिस घर में विद्या की एक समय वृद्धि हो जायगी उसके मूर्ख पुत्रों को भी कभी झूठा अभिमान करने का अवसर मिल जायगा। यह आज भी तो होता है। पाश्चात्य देशों में जिन अपराधों के लिये काले नीग्रो या रैड इण्डियन लोग जीवित जला दिये जाते हैं उन्हीं अपराधों के लिये गोरी जातियों के लोगों को साधारण सी सज़ा मिल जाती है। इसी प्रकार यदि किसी काल में किसी स्मृति-

कार ने यह कह दिया कि ब्राह्मण को किसी अपराध में भी प्राण दण्ड न दिया जाय तो इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी। दण्ड का विधान भिन्न भिन्न पद और भिन्न भिन्न गुणों के पुरुषों के लिये आज कल भी भिन्न भिन्न है। आज यदि कोई गवर्नर या राजा किसी ग़रीब का वध कर डाले तो उसको उसी प्रकार का दण्ड न दिया जायगा जो किसी नितान्त दरिद्र को। परन्तु इस विषमता का दुरुपयोग भी किया जा सकता है और हमको यह बात अस्वीकार नहीं है कि जो रियाये केवल उच्चकोटि के ब्राह्मणों के लिये ही थीं वे साधारण मूर्ख ब्राह्मण कहलाने वाले व्यक्तियों को भी दी जाने लगीं और जाति का सत्यानाश हो गया। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि इन नामधारी ब्राह्मणों ने अपना उल्लू सीधा करने के लिये कुछ ऐसे घृणित नियम भी बना दिये जिससे अन्य लोगों का सर्वथा अपमान और स्वयं इनका अधोपतन हो गया। जैसे दक्षिण में ब्राह्मण का अधिकार होगया कि वह शूद्रा स्त्रियों से संसर्ग कर सके और शूद्र स्त्रियाँ पाप के भय से उसका प्रतिरोध न कर सकें। दालभ्य ऋषि की कथा है कि उसने किसी राजा को कहा कि यदि अमुक पाप से बचना चाहते हो तो तुम्हारी रानी किसी ब्राह्मण के साथ संपर्क करे। ऐसी घृणित बातों की जितनी निन्दा की जाय थोड़ा है। ऐसा उपदेश देने वाले ऋषि नहीं किन्तु धूर्त थे। परन्तु इनका मनु या मनुस्मृति से कोई सम्बन्ध नहीं। और आजकल मनुस्मृति से ऐसा कूड़ा निकाल कर फेंक देना चाहिये।

दण्ड विधान

(४) चौथी बात दण्ड विधान की है। मनु का दण्ड विधान सरल, समतायुक्त तथा स्वाभाविक है। परन्तु पीछे के सुधारकों ने या तो सुधार की गति को तीव्र करने के

लिये या पक्षपात में फंस कर अनेक स्थलों पर दण्ड विधान को विषम तथा अन्याय पूर्ण बना दिया है। शूद्रों के लिये व्यर्थ ही कड़े दण्डों का विधान है, और कहीं कहीं तो दण्ड विधान के साथ साथ व्याख्यान रूप में श्लोक के श्लोक मिला दिये गये हैं। यह बात उन उन स्थलों को देखने से विदित हो जाती है। मनुस्मृति के माथे से इस कलंक को दूर करने का एक मात्र उपाय यह है कि इन स्थलों को छांट दिया जाय।

मनु और स्त्रियाँ

मनुस्मृति पर एक और आक्षेप किया जाता है। वैदिक सभ्यता के विरोधियों ने वैदिक सभ्यता के प्रत्येक गुण को अव गुण सिद्ध करने का यत्न किया है और वहुत से कल्पित अवगुण वैदिक सभ्यता के मत्थे मढ़ दिये हैं। यह विरोधी नित्य प्रति वैदिक धर्मियों में असन्तोष का बीज बोते रहते हैं। इनमें से एक है 'स्त्रियों के अधिकारों का प्रश्न'। कहा जाता है कि मनु ने स्त्री के पद को मनुष्य-समाज में वहुत नीचा माना है। वहुत सी पढ़ी लिखी हिन्दू रमणियां हिन्दू धर्म ग्रन्थों के प्रति इस लिये भी घृणा प्रकट करने लगी हैं। यह आक्षेप इतनी कोटियों में विभक्त हो सकता है :—

(१) हिन्दू घरों में स्त्रियों को नीच समझा जाता है।
(२) उनको वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है।
(३) उनको सदा पुरुषों के अधीन रहना होता है।
(४) उनको पैतृक सम्पत्ति में कुछ भाग नहीं मिलता।
(५) सदाचार के नियम स्त्रियों के लिये पुरुषों की अपेक्षा अधिक कड़े हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न देशों में स्त्रियों की स्थिति के भिन्न भिन्न नियम रहे हैं। आज से कुछ

दिनों पूर्व भारतवर्ष की स्त्रियों की दशा अवश्य ही दयनीय थी। पुरुषों के अत्याचार बहुत कुछ बढ़ गये थे। परन्तु आक्षेप करने वाले दो बातों को भूल जाते हैं। पहली यह कि स्त्रियों के इस पतन के लिये वेद या मनुस्मृति उत्तरदाता नहीं हैं। दूसरी यह कि न केवल भारतवर्ष ही किन्तु अन्य देशों और जातियों में भी स्त्रियों की दशा वैसी ही थी। स्त्रियों में वैदिक धर्म के प्रति घृणा उत्पन्न करने का विशेष काम ईसाइयों की ओर से होता है। इसमें इनका अपना स्वार्थ है। यह स्वार्थ उनको प्रेरित करता है कि वैदिक ग्रन्थों को उनके निज रूप से अन्यथा दिखाया जाय। ईसाई अपने प्रयास में शीघ्र ही क्यों सफल हो जाते हैं इसके दो मुख्य हेतु हैं। आजकल अंगरेज़ी भाषा का प्रचार है। उसी की पूछ भी है। अंगरेज़ी साहित्य अधिकतर ईसाइयों का साहित्य है। जो मिल्टन के स्वर्ग विछोह (Paradise Lost) को पढ़ता है वह साथ साथ ईसाई धर्म की बातों को भी धीरे धीरे पीता सा जाता है। अंगरेज़ी साहित्य के धुरन्धर विद्वान प्रायः ईसाई ही हैं। अतः उनके आदर्श का भी कुछ न कुछ प्रभाव पढ़ता ही है। दूसरा कारण यह है कि हमारे युवक और युवतियों की शिक्षा अपने धर्म ग्रन्थों में कम होती है। स्त्रियाँ समझती हैं कि स्त्रियों की स्वतंत्रता में ईसाई धर्म का विशेष हाथ है। इसलिये चाहे खुल्लमखुल्ला ईसाई धर्म स्वीकार न भी करें तो भी अपने धर्म के प्रति घृणा न सही, उपेक्षा ही उत्पन्न हो जाती है और शनैः शनैः उसका फल बुरा निकलता है। हमारी धारणा है कि स्त्रियों की वेद या वैदिक शास्त्रों में वही स्थिति है जो उनकी मनुष्य समाज में होनी चाहिये अर्थात् जो उनके और मनुष्य समाज के लिये उपयोगी है। इनका पतन पीछे से हुआ है और इसके दो कारण हैं। पहला और मुख्य कारण तो यह है कि

स्त्रियां स्वभावतः पुरुषों की अपेक्षा शारीरिक बल में कम होती हैं। इसलिये जब मनुष्य समाज सभ्यता में कम हो जाता है तो उसमें शारीरिक बल को ही सबसे उत्कृष्ट और उसी को न्याय समझ लिया जाता है। स्त्रियाँ शारीरिक बल के आधार पर न पहले कोई अधिकार ले सकीं थीं, न अब कभी ले सकेंगीं। यह तो उनकी प्राकृतिक कमी है। स्त्रियों के मान का आधार उनके और गुण हैं जिनको केवल सभ्य समाज ही समझ सकता है। असभ्य जातियों में विद्वानों का उतना मान नहीं होता जितना बलवानों का। जिसकी लाठी उसकी भैंस। यही बात स्त्रियों के साथ भी लागू होती है। पुरुष शारीरिक बल के कारण स्त्रियों को अपने आधीन कर लेते हैं और फिर उनको स्वतंत्र होने नहीं देते। जब पुरुषों का आधिपत्य हो जाता है तो नियम भी उसी प्रकार के गढ़ लिये जाते हैं। स्त्रियों की अधोगति को जारी रखने में यहूदी ईसाई तथा उनसे उत्पन्न होने वाले धर्मों ने भी बड़ा काम किया है। और तमाशा यह है कि यही लोग आज बढ़ बढ़ कर बातें मार रहे हैं। सबसे पहिले इन्हीं धर्मों ने स्त्री को पुरुष की अपेक्षा नीच ठहराया। इनका यह सिद्धान्त कि हव्वा को आदम की पसली से बनाया, आदम के पीछे बनाया और आदम के लिये बनाया, समस्त वायुमंडल में प्रविष्ट हो गया है। हमारे मस्तिष्क इससे अन्यथा सोच ही नहीं सकते। जब परमेश्वर ने ही स्त्री को पुरुष के लिये बनाया तो किसमें शक्ति है कि उसके पद को ऊँचा कर सकें। कुछ स्त्रियां अंग्रेजी शब्द better-half की बाहरी रोचकता पर मुग्ध हो जाती हैं। उन को क्या पता है कि इस खुशामद के पीछे भी विलासिता छिपी हुई है जो स्त्रियों के पद को ऊँचा नहीं होने देती। हम यहाँ बाइबिल की कुछ आयतें देते हैं:—

(1) But for Adam there was not found an help meet for him. And the Lord God caused a deep sleep to fall upon Adam, and he slept: and he took one of his ribs, and closed up the flesh instead there of. And the rib which the Lord God had taken from man, made he a woman, and brought her unto the man. And Adam said, this is now bone of my bones and flesh of my flesh. She shall be called woman, because she was taken out of man. (Genesis II. 20-23).

"पर आदम के लिये ऐसा कोई सहायक न मिला जो उससे मेल खाए। तब यहोवा परमेश्वर ने आदम को भारी नींद में डाल दिया और जब वह सो गया तब उसने उसकी एक पसुली निकाल कर उसकी सन्ती मांस भर दिया। और यहोवा परमेश्वर ने उस पसुली को जो उसने आदम में से निकाली थी स्त्री बना दिया और उसको आदम के पास ले आये। और आदम ने कहा अब यह मेरी हड्डियों में की हड्डी और मेरे मांस में का मांस है तो इसका नाम नारी होगा क्योंकि यह नर में से निकाली गई।"

(उत्पत्ति २।२०-२३)

इससे पता चलता है कि ईसाई धर्म के अनुसार स्त्री की उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं हुई जैसे पुरुष की। यह उत्पत्ति बहुत घटिया है। ईसाइयों में बहुत दिनों तक यह विचार फैला हुआ था कि परमात्मा ने आदम तो अपने स्वरूप में (In his

own image) उत्पन्न किया परन्तु स्त्री को इस प्रकार उत्पन्न नहीं किया। सब से पहला अपराध स्त्री का बताया जाता है क्योंकि यह सब से पहले शैतान के बहकाने में आई। शैतान ने सब से प्रथम उसी को चेला बनाय और उसी के द्वारा आदम को ठगा। इसी लिये ईश्वर आज तक उसको दण्ड दे रहा है। देखिये :—

(2) Unto the woman he said, I shall greatly multiply thy sorrow and thy conception; in sorrow thou shalt bring forth children; and thy desire shall be to thy husband, and he shall rule over thee."

(Genesis III. 16)

"फिर स्त्री से उसने कहा मैं तेरी पीड़ा और तेरे गर्भवती होने के दुख को बहुत बढ़ाऊँगा, तू पीड़ित हो कर बालक जनेगी और तेरी लालसा तेरे पति की ओर होगी और वह तुझ पर प्रभुता करेगा।"

(उत्पत्ति ३।१६)

इसका परिणाम-स्वरूप नीचे की आज्ञा है:—

(3) For the man is not of the woman; but the woman of the man. Neither was the man created for the woman, but the woman for the man.

(I. Corinthians XI, 8, 9).

"क्योंकि पुरुष स्त्री से नहीं हुआ पर स्त्री पुरुष से हुई है। और पुरुष स्त्री के लिये नहीं सिरजा गया पर स्त्री पुरुष के लिये सिरजी गई।"

(कुरिन्थियों के नाम पौलुस प्रेरित की पहली पत्री ११।८,९)

(4) Let your women keep silence in the churches; for it is not permitted unto them to speak; but they are commanded to be under obedience as also saith the law. And if they will learn anything, let them ask their husbands at home; for it is a shame for women to speak in the church.

(I. Corinthians XIV, 34, 35)

"स्त्रियां मण्डलियों में चुप रहें क्योंकि उन्हें बातें करने की आज्ञा नहीं ? पर अधीन रहने की आज्ञा है जैसा व्यवस्था में लिखा भी है। और यदि वे कुछ सीखना चाहें तो घर में अपने अपने पति से पूछें, क्योंकि स्त्री का मण्डली में बातें करना लज्जा की बात है।"

(कुरिन्थियों के नाम पौलुस प्रेरित की पहली पत्री १४।३४-३५)

(5) Wives, submit yourselves unto your own husbands as unto the Lord, for the husband is the head of the wife, even as Christ is of the church; and he is the "Saviour of the body."

(Ephesians V, 22, 23).

"हे पत्नियो, अपने अपने पति के ऐसे अधीन रहो जैसे प्रभु के क्योंकि पति पत्नी का सिर है जैसे कि मसीह कलीसिया का सिर है और यह ही देह का उद्धार कर्त्ता है।"

(इफिसियों के नाम पत्री, ५।२२-२३),

(6) Let the woman learn in silence with all subjection. But I suffer not a woman to teach, not to usurp authority over the man, but to be in silence. For Adam was first formed then Eve. And Adam was not deceived but the woman being deceived was in the transgression.

(I. Timothy II - 11 to 14).

"स्त्री को चुपचाप पूरी अधीनता से सीखना चाहिये। और मैं कहता हूँ कि स्त्री न उपदेश करे और न पुरुष पर आज्ञा चलाये परन्तु चुपचाप रहे। क्योंकि आदम पहिले उसके पीछे हुव्वा बनाई गई। और आदम वहकाया गया नहीं, पर स्त्री वहकाने में आकर अपराधिनी हुई।"

(तीमुथियुस के नाम पहली पत्री २।११-१४),

(7) Likewise, ye wives, be in subjection to your husbands; that, if any obey not the word they also may without the word be won by the conversation of the wives.

(I Peter III - 1),

"हे पत्नियो तुम भी अपने अपने पति के अधीन रहो, इसलिये कि यदि इनमें से कोई कोई वचन को न मानते हों तौ भी तुम्हारा भय सहित पवित्र चाल चलन देखकर वचन विना अपनी अपनी पत्नी के द्वारा खींचे जाएँ।"

(पतरस की पहली पत्री ३।१)

यह है वाइविल का धर्म और ईसाई प्रचारकों का उपदेश। इससे तो स्त्रियों के मान की गन्ध तक नहीं आती। हिन्दुओं के "स्त्री शूद्रो नाधीयताम्" पर खिल्ली उड़ाने वाले सोचें तो सही। जिस प्रकार काशी के पुराने ढंग के पंडित स्त्री को वेद मंत्र नहीं पढ़ाते इसी प्रकार मिल्टन अपनी लड़कियों को लैटिन नहीं पढ़ने देता था क्योंकि लैटिन पवित्र भाषा समझी जाती थी जिसका अधिकार स्त्री जाति को न था।

आप पूछेंगे कि यह तो वाइविल की बात रही। तुम्हारा वेद किस बात में इससे उच्च है। लीजिये।

वेद यह नहीं मानता कि स्त्री पुरुष के पीछे हुई, न यह मानता है कि उसके शरीर से हुई और न यह मानता है कि पुरुष के लिये हुई। पुराणों में यह तो आया है कि देवी से ब्रह्मा, विष्णु और महेश उत्पन्न हुये। वह भी वैदिक धर्म के विरुद्ध है परन्तु उससे कम से कम स्त्री की उत्कृष्टता ही सिद्ध हो जाती है। भारतवर्ष का आदर्श तो यह था कि न पुरुष better half (उत्कृष्टार्द्ध) है, न स्त्री। दोनों एक दूसरे के

---

*अनुवाद हिन्दी बाइबिल (धर्मशास्त्र) अर्थात् पुराना और नया धर्म नियम, ब्रिटिश एंड फ़ारेन बाइबिल सोसाइटी, इलाहाबाद सन् १९३६ से लिया गया है।

बराबर हैं। रथ के दो पहियों का दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है। ऋग्वेद का एक मंत्र यही आशय प्रकट करता है :—

माता पितरमृत आ बभाज।

(ऋ० १।१६४।८)

"ऋत' अर्थात् प्राकृतिक नियम में 'माता' अर्थात् स्त्री ने 'पिता' अर्थात् पुरुष को बराबर बराबर बांटा हुआ है। इसी लिये तो उसको पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी कहते हैं। वह पीछे से नहीं बनाई गई। किन्तु उसकी उत्पत्ति साथ साथ हुई है। देखिये नीचे का मंत्र—

क उ नु ते महिमनः समस्यास्मत् पूर्व ऋषयोऽन्तमापुः। यन् मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः॥

(ऋ० १०।५४।३)

"वे कौन से ऋषि थे जिन्होंने हम से पूर्व तेरी महिमा के अन्त को पहचाना। जिस तूने माता और पिता को अपनी निज 'तनु' अर्थात् प्रकृति से साथ साथ (साकमजनयथाः) उत्पन्न किया।"

मेरी धारणा है कि इसी "तन्वः स्वायाः" का बिगड़ा हुआ रूप "अपने अनुरूप" ("in his own image") है जिसका भाष्य करने में ईसाई विद्वानों को इतना कठिनाई उठानी पड़ी। अब जब कि वेदों के विषय में इतनी जानकारी हो चुकी है लोगों को यह मानना छोड़ देना चाहिये कि हव्वा आदम की पसली से बनाई गई। इस सिद्धान्त की व्याख्या करने में

ईसाई विद्वानों ने एंड़ी चोटी का पसीना लगाया है तब भी वे सफल न हो सके। मैक्समूलर ने इसका अर्थ लगाने में वेदों की सहायता ली है। वह कहते हैं: —

Bone, seemed a telling expression for what we should call the innermost essence. ......In the ancient hymns of the Veda, too, a poet asks—"who has seen the first-born, when, he who had no *bones, i.e.*, no form, bore him that has *bones, i.e.*, when that which was formless assumed form, or it may be when that which had no essence, received an essence." (*Introduction to the Science of Religion*, page 46)

मैक्समूलर का तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद में जो शब्द 'अस्थि' अर्थात् हड्डी के लिये आया है वही 'स्वरूप' के लिये भी आता है। इससे वे नतीजा निकालते हैं कि जहाँ बाइबिल में यह कहा गया है कि आदम और हव्वा एक ही हड्डी और एक ही मांस के हैं (bone of my bones & flesh of my flesh) वहाँ इसका आलंकारिक अर्थ स्थिति, या स्वरूप का है। अर्थात् आदम और हव्वा की प्रकृति एक है उसमें भेद नहीं।

हमको मैक्समूलर की बात मानने में कोई आपत्ति न होती, परन्तु बाइबिल में तो स्पष्ट लिखा है कि आदम की एक पसली निकाली गई और उसके स्थान में मांस भर दिया गया। इससे दो बातें ही मानी जा सकती हैं। एक तो यह कि वेदों के उस

मूल वाक्य को जिसमें लिखा है कि "साकमजनयथास्तन्वः स्वायाः" (अपनी प्रकृति से तू ने दोनों को साथ साथ बनाया) बिगाड़ कर और बेसमझी से उलटा समझकर ही युहूदी, ईसाई आदि धर्मों ने आदम की पसली से हव्वा के उत्पन्न होने का सिद्धान्त बना लिया। दूसरी यह कि यह सिद्धान्त जो ईसाई धर्म के कारण जगत भर में फैल गया है, अविद्या पर आधारित है और इसको शीघ्र ही छोड़ देना चाहिये। वेद में स्त्री की पदवी ऊँची है। वह अपने को पति की दासी नहीं कहती, वह कहती है:—

(१) अहं तद् विद् बला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः।

मैं बला अर्थात बलशाली हूँ (अबला नहीं)। मैंने पति को जीता है।

(२) अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।

मैं केतु हूँ। मैं मूर्द्धा हूँ। मैं उग्र निर्णायक हूँ।

(ऋ० मं० १०।१५९।१-२)

अब मनुस्मृति पर दृष्टि डालिये।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥

(मनु ३।५६)

जहाँ स्त्रियों का मान होता है वहाँ देवों का निवास है। जहाँ उनका मान नहीं होता वहाँ के सब कामों में असफलता होती है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्याभूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
(मनु० ३ । ५५)

अर्थात् जो पिता, भाई, पति, देवर आदि अपना कल्याण चाहते हैं उन सबको चाहिये कि स्त्रियों का सम्मान करें और उन को विभूषित करते रहें ।

मनु को इस आदेश के करने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि वे पुरुष की प्रकृति को जानते थे । पुरुष शरीरकी अपेक्षा से बलवान होते हैं । उनके लिये अत्याचार करने और स्त्री को दबाने की अधिक संभावना है ।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत् कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ।
(मनु० ३।५७)

जिस कुल में स्त्रियों को कष्ट दिया जाता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । जहाँ स्त्रियों को कष्ट नहीं होता वहां अवश्य वृद्धि होती है ।

इन श्लोकों में तो स्त्रियों को नीच, शूद्र या दमनीय समझने की गंध भी नहीं है । हाँ, नवें अध्याय के कुछ श्लोक हैं जिनका अर्थ ऐसा लगाया जा सकता है—जैसे

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
(मनु० ९।३)

अर्थात् बाल्य अवस्था में पिता रक्षा करता है । यौवन में पति, बुढ़ापे में पुत्र । स्त्री कभी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है ।

परन्तु आक्षेप करने वाले भूल जाते हैं कि स्त्री जाति को रक्षा की कितनी आवश्यकता है। वह शरीर से निर्बल है। उसके लिये रक्षक या बौडीगार्ड चाहिये जो उसको आपत्तियों से बचाता रहे। आजकल जिन सभ्य देशों की दुहाई दी जाती है वहाँ भी स्त्रियों की रक्षा के लिये विशेष सामाजिक नियम हैं क्योंकि उनको दुष्टों से अधिक भय है। मनु ने यदि स्त्री के कल्याण के लिये उसकी रक्षा का भार उसके पुरुष सम्बन्धियों को सौंप दिया तो बुराई क्या की? पुरुष से रक्षा की आशा रखना स्त्री का अधिकार है जो उसे सभ्यता के नाते प्राप्त है। यह उसके लिये बंधन नहीं। इसीलिये तो मनु ने स्त्रियों के सम्बन्धियों को रक्षा न करने पर अपराधी ठहराया। देखिये अगला, श्लोकः—

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन् पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता॥

(९।४)

अर्थात् जो पिता समय पर कन्या का विवाह न करे, जो पति समय पर अपनी स्त्री को रति-सुख न दे, जो पुत्र अपने पिता की मृत्यु पर अपनी माता के संरक्षण का भार अपने ऊपर न ले वह दोषी और अपराधी है। इससे यह सिद्ध तो नहीं होता कि स्त्री को बेड़ियों से जकड़ दिया गया। यदि स्त्रियों में सौन्दर्य अधिक है, यदि इस सौन्दर्य के कारण उनके लुट जाने की अधिक सम्भावना है, यदि संभव है कि बदमाश लोग उन पर अत्याचार कर सकें और यदि इन आपत्तियों से बचाने के लिये समाज की ओर से उनकी रक्षा का भार किसी को सौंप दिया जाय तो इससे निन्दा सिद्ध नहीं होती। कहा जा सकता है कि पिता, पति तथा पुत्र ने अपनी इस कर्त्तव्य-परायणता के बहाने

उनको क़ैद कर दिया। उनको परदे में जकड़ दिया उनको अन्यान्य विधि से तंग किया। परन्तु यह तो उनके अधिकारों का दुरुपयोग था। मनु ने तो इसके विरुद्ध यह नियम भी बना दिये थे जिनसे यह रक्षक इस अति को न कर सकें। परन्तु कल्पना कीजिये कि स्त्री को सर्वथा इतना स्वतन्त्र कर दिया जाय कि पिता, पति या पुत्र उसकी रक्षा के भार से मुक्त हो जाँय तो क्या दशा होगी। कुछ नई रोशनी की स्त्रियां कहेंगी कि अच्छा तो है, हम को छोड़ दो हम सब कुछ कर लेंगीं। परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि इन स्त्रियों को अपनी तथा पुरुषों की प्रकृति का पूरा ज्ञान नहीं है। 'सभी चमकने वाली चीज़ें सोना नहीं हैं'। हम नित्य प्रति देखते हैं कि सभ्य तथा असभ्य सभी देशों में स्त्रियों को ठगने के लिये क्या क्या जाल नहीं रचे जाते। भेद केवल इतना है कि कहीं उन को फांसने के लिये लोहे के पिंजड़े बनाये जाते हैं और कहीं सोने के। सोने के पिंजड़ों को देखकर युवतियां ख़ुश हो जाती हैं। परन्तु उनको शीघ्र ही पता चल जाता है कि सोने के पिंजड़े लोहे के पिंजड़े से अधिक कड़ा है। बात यह है कि जब तक पुरुषों में विलासिता और स्त्रियों में विलासिता रहेगी उस समय तक स्त्रियों के स्वतन्त्र होने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। और यदि यह विलासिता दूर हो जाय तो स्वतन्त्रता का प्रश्न नहीं उठता। पहली दशा में स्वतन्त्रता असंभव है और दूसरी दशा में स्वयं सिद्ध। इसलिये रक्षा का भार पिता, पति या पुत्र पर सौंपने के कारण मनु को कोसना मानवी प्रकृति तथा प्रवृत्ति से अनभिज्ञता प्रकट करना है। आज यदि किसी सभ्य देश में कोई लड़की चुरा ली जाती है तो वहाँ के राजकर्मचारियों तथा समस्त पुरुषों को धिक्कारा जाता है कि लज्जा का स्थान है कि तुम्हारे होते हुये तुम्हारी एक लड़की को अमुक पुरुष उठा ले गया। क्यों? इस-

लिये कि उसके संरक्षण का भार औरों पर है। मान लिया गया है कि अमुक अवस्थाओं में वह अपनी रक्षा स्वयं करने अयोग्य है। यदि अलाउद्दीन ने पद्मावती को छीनने की इच्छा की और यदि रत्नसेन ने उसकी रक्षा के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया तो इसमें न तो रत्नसेन का दोष था न धर्म का जिससे प्रेरित होकर वह उसकी रक्षा के लिये कटिबद्ध हो गया। इसीलिये तो मनु ने कहा था:—

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम्।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि॥

(९।६)

रही यह बात कि स्त्रियों की रक्षा का यह अर्थ नहीं कि उन को बांध कर रक्खा जाय। यह तो ठीक ही है। मनुस्मृति स्वयं कहती है:—

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।

(मनु० ९।१०)

अर्थात् कोई जबरदस्ती बाँधकर स्त्री की रक्षा नहीं कर सकता।

मनु ने न केवल स्त्रियों की रक्षा न करने से पिता, पति और पुत्र को ही दोषी ठहराया है प्रत्युत कई अवस्थाओं में एक के संरक्षण का भार दूसरे पर सौंपा है जैसे विद्वान् के भूखा मरने से राजा को दोष लगता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विद्वान् को राजा के अधीन कर दिया। आजकल स्त्रियां जिस स्वच्छन्दता की इच्छुक हो रही हैं वह शीघ्र ही उनकी आंखें खोल देगी

क्योंकि यह उन्हीं के लिये भयानक है। सैकड़ों लड़कियाँ इस स्वच्छन्दता के कारण सभ्य देशों में अकथनीय कष्ट उठा रही हैं। आरम्भ में तो झूठी स्वच्छन्दता के लोभ में आकर वह प्रसन्न हो जाती हैं परन्तु शीघ्र ही उनको अपनी भूल मालूम हो जाती है।

अब रहा दायभाग का प्रश्न। लोगों को शिकायत है कि स्त्रियों को हिन्दू धर्म में अपनी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भी नहीं मिलता। यह एक मौलिक प्रश्न है और इस पर गंभीरता से विचार करना चाहिये।

मनुस्मृति वेद मूलक है। अतः सब से पूर्व देखें कि इस विषय में वेद क्या कहते हैं। ऋग्वेद में एक मंत्र है :—

शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् संशग्म्येन मनसा दधन्वे॥

(ऋ० ३।३१।१)

इस मंत्र का प्रमाण देकर यास्काचार्य निरुक्त में लिखते हैं:—

अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति। पुत्रदायाद्य इत्येके।

(निरुक्त ३।२)

अर्थात् यह ऋचा लड़की के दायभाग के लिये उदाहरण में दी जाती है। कुछ लोग इसको लड़के के दायभाग के सम्बन्ध में लेते हैं।

यहाँ प्रसंग यह था कि निघण्टु में १५ नाम 'अपत्य' वाचक गिनाये थे (१) तुक् (२) तोकम् (३) 'तनयः' या 'तनयम्' (४) तोक्म (५) तक्म (६) शेषः (७) अप्रः (८) गयः (९) जाः (१०) अपत्यम् (११) यहुः (१२) सूनुः (१३) नपात् (१४) प्रजा (१५) बीजम्।

निरुक्तकार को इनमें से कुछ की उदाहरण सहित व्याख्या करनी थी। पहले उन्होंने 'अपत्य' की व्याख्या की:—

अपत्यं कस्मादपततं भवति, नानेन पततीति वा।

यहाँ 'अपत्य' की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की :—

(१) "अप + ततं"

अर्थात् अपत्य वह है जिससे संतति अर्थात् सिलसिला जारी रहे। वंश विच्छेद न हो जाय।

(२) 'न अनेन पतति इति'

अर्थात् अपत्य वह है जिसके कारण वंश गिरता नहीं। बना रहता है। व्याकरण के अनुसार व्युत्पत्ति दो हैं परन्तु सारांश एक है अर्थात् जिसके कारण वंश जारी रहे वह 'अपत्य' है। (लड़की भी और लड़का भी) इसीके पर्य्याय 'शेष' शब्द का ऋग्वेद ७।४।७ से उदाहरण दिया :—

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्यरायः पतयः स्याम। न शेषो अग्ने अन्य जातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः॥

(ऋ० ७।४।७)

शेष का अर्थ करते हैं अपत्य (लड़का और लड़की दोनों)।

"शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतः"

अर्थात् पिता के मरने पर शेष रहती है सन्तान इसलिये उसको कहते हैं शेष।

अब कहते हैं

अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति।
तदेतद्दक श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्।

अर्थात् लड़का और लड़की दोनों ही पुत्र अर्थात् दायभाग के अधिकारी हैं। इसको एक ऋचा और एक श्लोक से स्पष्ट किया है।

अंगादंगात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्।

यह हुई ऋचा। इसका अर्थ है कि अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न होता है। हृदय से प्रकट होता है। इस लिये हे पुत्र तू आत्मा है। सौ वर्ष तक जी। यहां 'पुत्र' से लड़का और लड़की दोनों को लिया है क्योंकि दोनों ही अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न होते हैं। लड़की की उत्पत्ति और लड़के की उत्पत्ति में कुछ भेद नहीं है।

परन्तु श्लोक से तो अत्यन्त विस्पष्ट हो जाताः है:—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

अर्थात् बिना किसी विशेषता के लड़का और लड़की दोनों (पुत्राणां मिथुनानां) दाय भाग के अधिकारी हैं। ऐसा सृष्टि के आरंभ में स्वायम्भुव मनु ने कहा था।

इससे पता चलता है कि यास्क के समय में मनुस्मृति या मनु के किसी उपदेश के आधार पर 'पुत्र' से लड़का और लड़की दोनों ही अभिप्रेत थे और दोनों दायभाग के अधिकारी थे। हाँ, एक बात प्रतीत होती है वह यह कि उस समय कुछ लोग लड़की को दायभाग का अधिकारी नहीं भी समझते थे। इन दोनों पक्षों की युक्तियाँ भिन्न २ थीं। यास्क ने इसी प्रसंग में यह कहा है:—

न दुहितर इत्येके। तस्मात् पुमान् दायादोऽदायादा स्त्री हि विज्ञायते। तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसमिति च। स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः।

अर्थात् कुछ लोग इस मंत्र से लड़की का अर्थ नहीं लेते। उनका मत है कि दायभाग का अधिकारी पुरुष ही है, स्त्री नहीं। क्योंकि स्त्री को दूसरे के घर जाना पड़ता है पुरुष को नहीं। स्त्री का दान, विक्रय और अतिसर्ग होता है पुरुष का नहीं।

इस युक्ति के खंड में दूसरा पक्ष कहता है कि

पुंसोऽपीत्येके शौनःशेपे दर्शनात्।

शुनःशेप का भी तो विक्रय हुआ था इसलिये यदि किसी ने स्त्री का विक्रय कर दिया और इस कारण से उसको दायभाग से वंचित किया गया तो इस युक्ति के अनुसार पुरुष को भी वंचित होना चाहिये क्योंकि शुनःशेप लड़का था। उसको बेच दिया गया था। यह हुई गाथा के आधार पर दोनों पक्षों की युक्तियाँ। परन्तु मनु का जो आदेश यास्क ने दिया है वह तो स्पष्टतया

लड़की को दायभाग का अधिकारी ठहराता है और यास्क की यही राय मालूम होती है। 'अपत्य' के पर्याय गिनाते समय इन मंत्रों या श्लोकों का देना यही प्रकट करता है कि अपत्य से लड़का और लड़की दोनों समझने चाहियें और 'पुत्र' शब्द का भी दोनों के लिये प्रयोग होता था। संस्कृत में लिंग का सम्बन्ध शब्दों से है, अर्थ से नहीं। अतः संभव है कि पीछे से इस प्रसंग में भी पुत्र शब्द केवल लड़के के लिये प्रयुक्त होगया और लड़कियाँ दाय भाग से वंचित कर दी गई।

दायभाग के नियम निर्धारित करने से पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि इन नियमों का मूलाधार क्या है। पिता मरने पर सन्तान के लिये क्या छोड़ सकता है यह पहला प्रश्न है। यह छोड़ी हुई वस्तु किसको मिलनी चाहिये यह दूसरा प्रश्न है। सन्तान को पिता माता का ऋणी कहते हैं। उनको पितृ ऋण चुकाने का आदेश है। यह पितृ-ऋण क्या है? सबसे मुख्य वस्तु जो सन्तान को अपने पितरों से मिलती है शरीर है। शरीर केवल माँस या रक्त का पिंड ही नहीं है। उस पिंड के साथ संस्कार, भाषा, विद्या, वंश परम्परागत प्रथायें सभी सम्मिलित हैं। यह सन्तान को (लड़के और लड़की दोनों को) दायभाग में मिलती हैं। यह स्वाभाविक बात है। इसके लिये समाज़नियम या राजनियम की आवश्यकता नहीं, न स्मृतिकारों को कुछ आदेश करने की ज़रूरत है। दूसरी चीज़ है रुपया, पैसा, गाय, बैल, धन-धान्य इत्यादि वस्तुयें जिनका साधारणतया बाँट किया जा सकता है। इन पर सन्तान में झगड़ा हो सकता है इस लिये राजनियम की आवश्यकता है। परन्तु यहां राज का आक्षेप दो दृष्टियों से होता है या होना चाहिये, प्रथम तो शान्ति भंग न हो। दूसरे उत्तराधिकारियों को अपनी अपनी उन्नति करने के

लियें समान पैतृक-अवलम्बन मिल जाय । आज कल धन की अत्यन्त वृद्धि होने के कारण अमेरिका की रियासतों (United States of America) में कुछ ऐसे नियम बना दिये गये हैं कि सन्तान को पैतृक धन की एक नियत मात्रा से अधिक नहीं मिल सकती । क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि परिश्रमी पिता की बहुत बढ़ी हुई जायदाद का स्वामी होकर पुत्र प्रायः आलस्य, प्रमाद तथा व्यभिचार का जीवन व्यतीत करने लगता है । इस से देश को हानि होती है । मनुस्मृति के देखने से पता चलता है कि समाज में उस समय इतना धन-बाहुल्य का रोग (disease of capitalism) न था । इससे इस प्रकार के नियम बनाने की आवश्यकता न थी ।

तीसरी चीज़ है भू-सम्पत्ति जिसको आजकल की भाषा में जायदाद (landed property) कहते हैं । भू-सम्पत्ति की नींव कब से पड़ी यह कहना कठिन है । आजकल तो भू-सम्पत्ति को एक भयानक रोग समझा जाता है । साम्यवादियों का विचार है कि कोई जायदाद किसी विशेष पुरुष की नहीं होनी चाहिये । जो जोते वह काटे । यह सिद्धांत कहां तक व्यवहार में लाया जा सकता है यह एक कठिन समस्या है । यदि 'जायदाद' का प्रश्न उठा दिया जाय तो क्या मानवी समाज अधिक सुख में हो जायगा ? यह एक टेढ़ा प्रश्न है, और कल्पना क्षेत्र के बाहर हम ने अभी पग नहीं बढ़ाया । कल्पना में तो अनेक बातें भी की जा सकती हैं । परन्तु कोई समाज या राष्ट्र केवल कल्पना की भित्ति पर खड़ा नहीं हो सकता । जायदाद यदि किसी मात्रा में आवश्यक है तो इसके सुसंगठित रखने का भी प्रश्न उपस्थित हो जायगा । मैं यदि एक घर बनाता हूँ तो यह भी चाहता हूँ कि यथाशक्ति बना रहे । क्योंकि उसका बना रहना न केवल वैयक्तिक

ही किन्तु सामाजिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकता है। यदि मेरे मरने के बाद मेरे चार लड़के एक मकान को बराबर बराबर बांटने पर कटिबद्ध हो जांय तो ईट से ईंट बज जाय और किसी को भी कुछ लाभ न पहुँचे। यदि चार बीघे जमीन के चार टुकड़े किये जांय तो एक एक बीघा बांट में पड़े। यदि एक दुकान के चार टुकड़े किये जांय तो किसके हाथ क्या लगे? यह तो हुई एक पीढ़ी की बात। यदि इसी प्रकार उन चार लड़कों के चार २ लड़के हुये और इसी प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी बाँट होता चला गया तो कहां अन्त होगा।

यह तो हुआ लड़कों के हिसाब से। अब लीजिये लड़कियों को। लड़कियों का विवाह दूसरे कुल में होता है। और वैदिक संस्कृति के अनुसार दूर देश में भी। "दुहिता दूरेहिता।" अब यदि लड़कियां खेत, या मकान या दुकान का बांट कर के अपने अपने साथ ले जाया करें तो पारिवारिक तथा जातीय सब प्रकार की हानि होगी। दूसरी जातियों ने इसका उपाय और सोचा। मेरी समझ में ईसाई, मुसलमान आदि में एक ही कुल में विवाहने की प्रथा इसीलिये पड़ी कि लड़कियों को दायभाग के कुछ अंश का अधिकारी ठहराया गया। चचेरी बहन के साथ विवाह करने में बहन जायदाद को दूरस्थ कुल में नहीं ले जाती। प्राचीन मिश्र में टाल्मी आदि के समय में राजवंश के लोग अपनी सगी बहिन से विवाह करते थे। ब्रह्मदेश के पूर्व की कुछ जातियों में यह प्रथा है कि जो राजा होता है वह अपनी सब सगी बहिनों से विवाह कर लेता है। यदि विवाह की दृष्टि से देखा जाय तो यह विधान सर्वथा दोष-युक्त है। विवाह का उद्देश्य उत्तम सन्तान है। एक परिवार या एक वंश में विवाह करना वैदिक धर्म में इसी लिये

वर्जित है कि शारीरिक और मानसिक विकास में बाधा पड़ती है। इसी लिये वैदिक संस्कृति में इसे पाशविक प्रथा बताया गया है। भाई बहन का सम्बन्ध इतना पवित्र बताया गया है कि कोई वैवाहिक सम्बन्ध का विचार तक नहीं कर सकता। वैदिक संस्कृति में पले हुये किसी स्त्री पुरुष के यह ध्यान में भी नहीं आ सकता कि इस प्रकार की बात संभव भी है। कुछ लोग समझते हैं कि हिन्दुओं का अपने कुल में विवाह न करना भ्रान्ति युक्त है। कुछ का विचार है कि इस निषेध की नींव उस जंगली अवस्था में पड़ी जब लोग विवाह करने के लिये पड़ोसी जातियां की लड़कियों को बलात्कार पकड़ लाया करते थे। यह प्रथा प्राचीन यहूदियों, स्पार्टनों, रोमनों में प्रचलित थी। कई जंगली जातियों में अब भी है। विजेता लोग पराजित जातियों की लड़कियों से बलात्कार विवाह कर लिया करते थे। विजेताओं की यह एक साधारण शर्त होती है कि इतना देश दो और अपनी लड़की विवाह दो। इंगलैण्ड के पंचम हेनरी ने जब फ्रांस को जीता तो फ्रांस नरेश की कन्या कैथरायन को भी हेनरी से विवाह करना पड़ा। परन्तु हम इस प्रथा को एक कुल में विवाह न करने की प्रथा का एक विकृत और दोषपूर्ण रूप समझते हैं। हमारा विचार है कि बलात्कार पड़ोसियों की लड़की छीन लाने की प्रथा से एक कुल में विवाह न करने की प्रथा नहीं निकली किन्तु एक कुल में विवाह न करने की प्रथा से बलात्कार पड़ोसियों की लड़कियां छीनने की प्रथा निकली। यहां कारण-कार्य का विपर्यय हो गया है। एक कुल में विवाह न करने की प्रथा बहुत बहुत पुरानी है। यही स्वाभाविक भी है और धार्मिक भी। इसी लिये जो जातियां चचेरी बहन से विवाह कर लेती हैं वह भी अपनी सगी बहन को बचा देती

हैं। टाल्मी आदि के दो एक अपवाद इसलिये पाये जाते हैं कि या तो कभी किसी दुष्ट राजा ने अपनी वासनाओं का दास होकर यह प्रथा चला दी होगी या राज-सम्बन्धी झगड़ों को बचाने के लिये किसी ने ऐसा कर दिया होगा। एक कुल में विवाह करने के पक्ष में जो युक्तियां दी जाती हैं वे सब सगे भाई बहिन की शादी के पक्ष में लागू हो जायगीं। इससे सिद्ध होता है कि सगे भाई बहिन के विवाह को सभ्य तथा असभ्य सभी जातियों ने घृणा की दृष्टि देखा है। भेद इतना है कि जब तक सभ्यता रही अन्य कुलों की लड़कियों से उनकी इच्छानुसार विवाह किया जाता रहा। जब असभ्यता फैली तो बलात्कार छीन लेना, आदि राक्षस विवाहों की प्रथा चल गई जिनको मनुस्मृति में निकृष्ट बताया गया है। मनुस्मृति में विवाह के सम्बन्ध में सपिंड, सगोत्र आदि के जो निषेध बताये गये हैं वह इतने उपयोगी हैं कि इनसे उत्तम प्रथाओं का सोचना भी कठिन है। चचेरे भाई बहनों के विवाह का निषेध क्यों है इस सम्बन्ध में हम सर गुरुदास बनर्जी की एक पुस्तक "*The Hindu Law of Marriage & Stridhan*" (विवाह और स्त्रीधन सम्बन्धी हिन्दू कानून) से कुछ उद्धृत करते हैं:—

"It is thought by some that the rule is based upon physical ground and that it is meant to prevent that physical degeneracy of the race which marriage between near relations will lead to. That may be true. But there is a still stranger reason for the rule. It is intended to prevent moral degeneracy and consequent social evils which would

otherwise result. These have been so forcibly pointed out by Bentham that I feel tempted to quote his words:—'If there were not an insurmountable barrier between near relatives called to live together in the greatest intimacy, this contact, continued opportunities, friendship itself and its innocent caresses might kindle fatal passions. The family—that retreat, where repose ought to be found in the bosom of order and where the movements of the soul, agitated by the scenes of the world, ought to grow calm——world itself became a prey to all the inquietudes of rivalry, and to all the furies of passion. Suspicions would banish confidence——the tenderest sentiments of the heart would be quenched —external enmities or vengeance, of which the bare idea is fearful, would take their place. This belief in the chastity of young girls, that powerful attraction to marriage, would have no foundation to rest upon; the most dangeraus snares would be spread for youth in the very asylum, where it could least escape them.' (*Principles of the Civil Code*, Pt.III, Ch.V. section I).

"कुछ लोगों का विचार है कि यह नियम (चचेरे भाई बहिन के में विवाह का निषेध) शारीरिक कारणों पर अवलम्बित है। इसका प्रयोजन यह है कि निकटवर्त्ती सम्बन्धियों में विवाह करने से जो शारीरिक ह्रास होता है उसको बचाया जा सके। यह बात भी सच हो सकती है। परन्तु इस नियम के लिये इससे भी प्रबलतर कारण है। इसका प्रयोजन यह है कि सदाचार सम्बन्धी ह्रास तथा अन्य सामाजिक बुराइयाँ न उत्पन्न होने पावें जो अन्यथा (अर्थात् निकट सम्बन्ध से) हो सकती हैं। इनका उल्लेख **बैंथम** ने ऐसे बलयुक्त शब्दों में किया है कि मैं उन्हीं के शब्दों को उद्धृत करना चाहता हूँ:—

'निकटस्थ सम्बन्धी (नज़दीकी रिश्तेदार) जो नित्य प्रति साथ रहते हैं और जिनका प्रतिदिन घनिष्ट सम्बन्ध रहता है उनके बीच में यदि कोई अलंघनीय बाधा खड़ी न कर दी जाय तो परस्पर का मेल, निरन्तर के अवसर, मैत्री, तथा उससे उत्पन्न होने वाला स्नेह घातक **भावों** को उत्पन्न कर सकते हैं। वह घर जहाँ कि शान्ति मिलनी चाहिये और जहाँ संसार के झंझटों से विक्षुब्ध आत्मा निश्चिततया विकास पा सके, शत्रुता तथा बुरी वासनाओं का शिकार हो जाता है। सन्देह के कारण विश्वास नहीं रहने पाता और हृदय के कोमल भाव मुरझा जाते हैं। और बाह्य वैर भाव तथा बदला लेने की भयानक इच्छा उनकी स्थानापन्न बन जाती है। युवतियों के सतीत्व का विश्वास जो विवाह के लिये विशेष आकर्षण रखता है स्थापित नहीं रह सकता। युवकों के लिये भयानक जाल उस स्थान पर फैल जाते हैं जहां उनसे छुटकारा पाना सुगम नहीं है।' (प्रिंसिपिल्स आफ़ सिविल कोड, भाग ३, अध्याय ५, परिच्छेद १)

बैंथम ने यहाँ स्पष्टतया वर्णन किया है कि एक ही वंश में विवाह की प्रथा के कारण घर के भाई भाई ही एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं और वह दुर्व्यसनों से अपने को बचा नहीं सकते। भाई बहिन का रिश्ता मनुष्य को असंख्य पापों से बचाता है। एक वंश में ही विवाह होने से इस कोमल सम्बन्ध में झटका लग जाता है। और वह भयानक परिणाम होते हैं जिनकी कल्पना करने से भी रोंगटे खड़े होते हैं। बाइबिल की एक प्रसिद्ध गाथा है कि आदम के लड़के हाबील को उसीके भाई क़ाबी ने मार डाला। परन्तु न जाने कितने हाबील और क़ाबील इसी रोग के शिकार हो जाते हैं।

यह हुई आचार सम्बन्धी त्रुटि। शारीरिक त्रुटि जिसको सर गुरुदास बनर्जी ने 'स्यात्' (That may be true) कह कर टाल दिया है अनेक डाक्टरों की साक्षी से जानी जा सकती है। सर बनर्जी डाक्टर न थे। क़ानूनदां थे। इसलिये उन्होंने अपने वर्णन को क़ानून तक सीमित रक्खा। परन्तु शारीरिक ह्रास के लिये कुछ साक्षियाँ सुनिये:—

डाक्टर होवे की रिपोर्ट का सारांश यह है :—

(१) पागलों की संख्या का १/२० भाग मामूं और चचा की सन्तान के परस्पर विवाह का परिणाम था। ख़ून के रिश्तेदारों में इस प्रकार के १७ विवाह हुये जिनके बच्चों की संख्या ९५ थी। इन ९५ बच्चों में से ४४ तो बिलकुल पागल थे और १२ छोटे क़द के।

(२) डाक्टर डैवी कहते हैं कि १२१ खून के रिश्तेदारों की शादियों में २२ के कोई सन्तान न हुई।

(३) डाक्टर जे० जी० सुपरजहम लिखते हैं कि यूरोप के इन राजघरानों में जो पीढ़ी दर पीढ़ी आपस में विवाह करते चले आये हैं शायद ही कोई ऐसा होगा जो किसी वैज्ञानिक, विद्या सम्बन्धी या सदाचार सम्बन्धी विषय पर एक पृष्ठ युक्तियुक्त, तथा ठीक लिख सकता हो।

(४) डाक्टर काल्डवैल का कथन है कि एक वंश के लोगों का परस्पर विवाह सम्बन्ध करना मानवी ह्रास का कारण है। इस प्रकार के विवाह के कारण यूरोप के कई राजघराने लगभग नष्ट होगये। यद्यपि पहले वह शारीरिक शक्ति, सदाचार तथा साहस के लिये प्रसिद्ध थे।

(५) लिवपूल के डाक्टर बकस्टन लिखते हैं कि ख़ून के रिश्तेदारों से उत्पन्न सन्तान दस से लेकर बारह फ़ीसदी तक बहरी होती है। १७० विवाह जो इस प्रकार हुये और उनसे जो सन्तान हुई इसमें २६९ बच्चे बहरे और गूंगे थे।

(६) डाक्टर कैडिस्ट (Cadist) कहते हैं कि इस प्रकार के ५४ विवाह हुये। १४ बांझ निकले। सात की सन्तान बचपन में मर गई। १८ के श्वासरोगी, क्षयी रोगी, बहरे, गूंगे और बुद्धिहीन सन्तान हुई।

(७) डाक्टर मिचिल (Mitchel) कहते हैं कि स्काटलेण्ड में जो पागलपन के रोगी होते हैं, उनमें दस प्रतिशतक ख़ून के रिश्तेदारों के विवाह के परिणाम हैं।

(८) हिरेडीटेरी डिसेंट (Herditary Descent) नामक पुस्तक में लिखा है कि बेडोल, पागल, लुंजे, लंगड़े, काने, कमज़ोर, दुबले, अंगहीन, गूंगे, बहरे, ठिगने, अन्धे और कुरूप

बच्चे उन वंशोंमें पाये जाते हैं जहाँ .खून की रिश्तेदारियों में विवाह होते हैं।

(९) डाक्टर एडवर्ड रीच (Dr. Edward Reich) लिखते हैं :—

"विचित्र कानून के कारण या किसी और कारण से जो छोटी छोटी रियासतें अलग हो बैठी हैं इनको विवाह अपने सीमित क्षेत्र में ही करना पड़ता है यदि इन रियासतों के गिरोहों में जाति की क़ैद को पूरी तरह पालन किया जाय और जाति से बाहर विवाह न किया जाय तो नौबत यह आयेगी कि .खून के रिश्तेदारों में विवाह होने लगेंगे और इसीके साथ शारीरिक तथा आचार सम्बन्धी सब पारिवारिक दोष पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ते जायंगे और सब सामाजिक तथा नैतिक नियम अपनी आरम्भिक दशा से गिर जायंगे।"

"जब निर्बुद्धि मनुष्य अपनी निकटस्थ रिश्तेदारी की तंग सीमा के भीतर विवाह करने लग जाते हैं तो वह अपने शारीरिक दोषों के साथ अपने मस्तिष्क की बनावट भी दायभाग में छोड़ते हैं। और यही कारण इनकी सन्तान की न्यून-बुद्धि का होता है। इस प्रकार के लोगों की सन्तान यदि परस्पर विवाह के पीछे जीवित रह जाय तो इनके यहाँ अर्द्ध-पागल सन्तान उत्पन्न होती है। यूरोप की बहुत सी छोटी छोटी रियासतों में राजवंश इसी प्रकार के हैं और इनकी मूर्खता तथा अन्धविश्वास के परिणाम सामाजिक और नैतिक बातों में भी देखे जा सकते हैं।"

(१०) डैविस (Davis) साहेब अपनी किताब 'रिफार्मर' (Reformer) में लिखते हैं कि जिस प्रकार धन-विद्युत् धन-विद्युत् को परे फेंकती है उसको आकर्षित नहीं करती इसी

प्रकार निकटस्थ रिश्ते के विवाह से एक दूसरे को घृणा करते और तलाक़ देते हैं।

(११) डाक्टर ट्राल (Trall) लिखते हैं कि "यदि .खून के रिश्तेदारों में शादी की जावेगी तो सन्तान भद्दी और उन्नति न करने वाली उत्पन्न होगी। खाने पीने और सोने में तो वह चतुर होगी परन्तु बुद्धि, धार्मिकता, राजनीति और परोपकार के कामों में सर्वथा अयोग्य और स्वार्थी होगी। चूँकि .खून के रिश्तेदारों में शादी करने वालों के माता पिता के स्वभाव तथा कारोबार की लग्न एक ही प्रकार की होती है। इससे इनकी सन्तान में शारीरिक और अन्य दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि .खून के रिश्तेदारों में विवाह करने की प्रथा वंद न हुई तो मानवी सन्तान घोर नाश का मुँह देखेंगी। इस प्रकार के विवाह के विरुद्ध मैं फ़िज़ियोलोजी (physiology) के अनुसार लिख रहा हूँ। और भी युक्तियाँ इसके विरुद्ध होंगी। संसार में सबसे बुरी बात यह पाई जाती है कि लोगों में अत्यन्त विषयासक्ति की रुचि पाई जाती है। यह रुचि .खून के रिश्तेदारों से उत्पन्न सन्तान में बड़े वेग से पाई जाती है अर्थात् यह अत्यंन्त विषयी होते हैं। संसार में मानवी सन्तान को कोई चीज़ इतनी जल्दी तबाह नहीं कर सकती जितनी विषयासक्ति। बहरे, गूँगे, अन्धे लोगों की अवस्था को खोजने से पता लगा है कि वह .खून के रिश्तेदारों की शादियों की सन्तान होते हैं। अमेरिका की बहुत सी रियासतों में पुकार मच रही है कि सरकार की ओर से .खून से रिश्तेदारों की शादियों को अनुचित और दण्डनीय माना जावे जिससे संसार में बुरी सन्तान उत्पन्न न हो।"

(विस्तृत विवरण के लिये देखो "विवाहादर्श" मास्टर आत्माराम कृत)

जो लोग मनुस्मृति को नष्ट करने पर तुले हुये हैं उनको सोचना चाहिये कि मनु का एक एक नियम कितनी घोर विपत्तियों की औषध है। जिन्होंने अपनी रियासत बचाने के लिये अपने घरानों में ही विवाह करना आरंभ कर दिया उन्होंने रियासत को बचाकर भी मृत्यु को मोल ले लिया। सुधार का यह अर्थ नहीं है कि चूल्हे में से निकल कर भाड़ में कूद पड़ो। इसलिये दायभाग के नियम ही ऐसे बनाने चाहिये जिनसे सांप मरे लाठी न टूटे। या लाठी में कुछ खरोंच ही आजाय, अधिक क्षति न होने पावे।

कुछ लोगों का विचार है कि जायदाद के झगड़े को ही मिटा दो। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसरी। जायदाद नष्ट होते ही दायभाग के झगड़े ही समाप्त हो जायंगे। जितनी जायदाद होगी, वह जाति भर की। जाति जिसको जितनी आवश्यकता होगी उतना दे देगी। यह सिद्धान्त बहुत ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है। परन्तु संस्कृत की कहावत है कि

"दूराद्धि पर्वता रम्याः"

पहाड़ दूर से ही सुन्दर प्रतीत होते हैं, जो बात व्यवहार में नहीं आ सकती उसकी मीमांसा से क्या लाभ? जो लोग भूल-भुलइयों को पसन्द करते हैं वह करते रहें। हमतो किसी को मूर्खों के स्वर्ग" (fool's paradise) की इच्छा करने का परामर्श नहीं दे सकते। जायदाद वह चीज है जिसके स्थापित करने के लिये मनुष्य अपनी बुद्धि, शक्ति तथा अनेक शुभ गुणों का विकास करता है। यदि यह कामना न रहे तो लाखों पीछे एक दो सन्यास-वृत्ति वालों को छोड़कर शेष उदासीन, आलसी, प्रमादी तथा विषयी हो जायँगे और जायदाद के होने से जो बुराइयां उत्पन्न हो रही हैं उनसे सहस्र-गुणी उठ खड़ी होंगी।

यह ठीक है कि कभी कभी आंख के फूटने से पीड़ा दूर हो जाती है परन्तु आंख का फोड़ डालना पीड़ा का इलाज नहीं है। मनु ने जायदाद को स्थापित रखने के लिये उपाय बताये हैं:—

(१) जायदाद केवल लड़कों को ही मिले।

(२) लड़कियों को स्त्री धन मिले।

इससे साधारणतया जाति की हानि नहीं, क्योंकि जो लड़की अपने पति के घर जाती है वह उस जायदाद की स्वामिनी बन जाती है जो उसके पति की है। इसी प्रकार उसके पिता की जायदाद जो उसके भाई को मिली उस पर उसकी भौजाई का स्वत्व हो गया। इससे न तो जायदाद के टुकड़े हुये, न एक वंश में ही विवाह करने पड़े, न स्त्रियाँ ही अपने स्वत्व से वंचित रहीं। जहाँ बड़ी बड़ी जायदाद हैं जैसे राज्य आदि, वहां के लिये और नियम बनाये। अर्थात् राज का अधिकारी ज्येष्ठ पुत्र हो। अन्य पुत्रों को गुज़ारा मिले। तात्पर्य यह है कि छोटी छोटी जायदाद तो परिवारों की अपनी है परन्तु बड़ी रियासतें राजा की निज सम्पत्ति नहीं। वह तो प्रजा के हित के लिये प्रबन्धक मात्र है अतएव परिवार के लोगों को उसके बांटने का अधिकार नहीं। अन्यथा राज के टुकड़े होने से अनेक नैतिक दोष उत्पन्न हो जायंगे। और जातीय एकता नष्ट हो जायगी।

पुत्र न होने की अवस्था में 'पुत्रिका' का नियम बनाया गया है। यास्क कहते हैं:—

"अभ्रातृमती वाद इत्यपरम्"

अर्थात् जिस लड़की के भाई न हो उसके लिये अलग नियम है। मनुस्मृति में लिखा है।

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम् ॥
(अध्याय ९।१२७)

अर्थात् जिसके पुत्र न हो और जायदाद हो वह अपनी लड़की को 'पुत्रिका' बनाले। पुत्रिका उस लड़की को कहते हैं जो विवाह के पश्चात् पति के घर नहीं जाती किन्तु पति ही उसके यहाँ आकर रहता है और उनकी सन्तान अपने नाना की जायदाद की दायभागी होती है।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥
(९।१३०)

"जैसे स्वयं वैसा पुत्र। पुत्र के बराबर पुत्री। उसके रहते हुये अन्य कौन धन ले सकता है।"

यह नियम विशेष अवस्था का है। साधारणतया तो कोई पुरुष अपनी पत्नी के घर रहना नहीं चाहता। विशेष अवस्था में ही यह सम्भव हो सकता है। इसीलिये यह नियम बना दिया। इससे स्त्री के अधिकार को छीना नहीं गया। अपितु, उसके लिये एक व्यवस्था बना दी। जिससे वंशीय जायदाद की स्थिरता में कोई बाधा न पड़ सके।

मनुस्मृति में जायज़ और नाजायज़ दोनों प्रकार की सन्तान के अधिकारों की व्यवस्था की है। क्योंकि मानवी समाज में अच्छे बुरे सभी हो सकते हैं। सभी धर्मात्मा हों तो राजनियम या राजदण्ड की कुछ भी आवश्यकता न हो। परन्तु ऐसा नहीं

है। जहाँ लोग अन्य नियमों का उल्लङ्घन कर सकते हैं वही विवाह सम्बन्धी नियम भी तोड़ सकते हैं। इनसे नाजायज्ञ सन्तान भी उत्पन्न हो सकती है। परन्तु इस नाजायज्ञ सन्तान को न तो भूखा ही मरने देना चाहिये न उनको जायज्ञ सन्तान के सर्वथा बराबर समझना चाहिये जिससे लोगों को इन नियमों के उल्लङ्घन् का साहस न हो सकें। इस लिये औरस पुत्र, पुत्रिका के पुत्र तथा अन्य कई प्रकार के पुत्रों की तारतम्यात्मक तुलना दी गई है।

बहुधा कहा जाता है कि स्मृतियों के अनुसार स्त्री का कोई अधिकार ही नहीं रक्खा। परन्तु ऐसी बात नहीं है। मनुस्मृति का दायभाग के सम्बन्ध में सब से पहला श्लोक यह है:—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥

(९।१०४)

अर्थात् पिता और माता दोनों के मरने पर भाई पैतृक जायदाद को बराबर बराबर बांट लें। उनके जीवन में वे पुत्र कुछ अधिकार नहीं रखते। यहां 'मातुश्च' शब्द से प्रकट होता है कि माता के जीवन काल में माता ही अधिकारी है पुत्र नहीं। 'अनीशास्ते हि जीवतोः' में 'जीवतोः' द्विवचन में आया है अर्थात् जब तक माता जीवित है तब तक लड़कों को अधिकार नहीं है। यदि माता को वंचित रखना होता तो द्विवचन का प्रयोग व्यर्थ था।

और देखिये:—

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥

(९।२१७)

अर्थात् यदि कोई पुत्ररहित मर जाय तो उसकी जायदाद माता ले। माता न हो तो पिता की माता अर्थात् दादी लेवे। कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि:—

मातरि मृतायां पत्नीपितृभ्रातृभ्रातृजाभावे पितुर्माता धनं गृह्णीयात् ।

अर्थात् माता मर जाय, और स्त्री, पिता, भाई या भतीजा न हो तो दादी को धन मिले।

पुरुष के मरजाने पर स्त्री को दायभाग मिलने का विधान अन्य नवीन स्मृतियों में भी पाया जाता है जैसे:—

यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति ।
जीवत्यर्धशरीरेऽर्थों कथमन्यः समाप्नुयात् ॥

(बृहस्पति २५।४७)

"जिसकी स्त्री जीवित है उसका आधा शरीर जीवित है। आधे शरीर के जीते हुये अन्य कौन दायभाग पा सकता है।"

क्योंकि शतपथ ब्राह्मणों में लिखा है।

अर्धो ह वा एष आत्मनो यज् जाया ।

(५।२।१।१०)

"यह जो पत्नी है व पुरुष का आधा भाग है।" प्रतीत होता है कि पत्नी को दायभाग से वंचित करने की प्रथा पीछे

से चली। जो बात मूल में न थी वह भाष्यकारों ने अपनी कल्पना से उत्पन्न कर दी। कुल्लूक भट्ट ने मनु ९।१८७ पर भाष्य करते हुये एक श्लोक दिया है:—

पत्नीनामंशभागित्वं बृहस्पत्यादि संमतम्।
मेधातिथिर्निराकुर्वन्न प्रीणाति सतां मनः॥

अर्थात् "बृहस्पति आदि के मतानुसार पत्नियों को दायभाग मिलना चाहिये था। मेधातिथि ने इसका खण्डन किया है। यह बात साधु पुरुषों के मन को नहीं भाती।"

लड़की को लड़के के बराबर मानने का विधान हम ऊपर दे चुके हैं। मनुस्मृति कहती है:—

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥

(मनु० ९।१३०)

जैसा आत्मा वैसा लड़का। लड़के के समान ही लड़की। जब लड़की विद्यमान है तो अन्य कौन धन ले सकता है।

मातुस्तु यौतकं यत् स्यात् कुमारीभाग एव सः।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम्॥

(मनु० ९।१३१)

माता का जो भाग है वह कुमारी का ही भाग है। जो पुत्र-रहित मर जाय उसका सब धन धेवता (लड़की का पुत्र) ले।

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः।
तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः॥

(मनु०।१३३)

"लोक में पोते और धेवते में कुछ भेद नहीं है क्योंकि उन दोनों के माता पिता उसी एक देह से जन्मे हैं।"

१३१ वें श्लोक में जो 'कुमारी' शब्द है वह हमारी राय में साधारणतया 'लड़की' का वाचक है। परन्तु कुछ ने इसका अर्थ 'अविवाहिता कन्या' लिया है। आगे देखिये।

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥

(मनु० ९।१९२)

माता के मरने पर सब भाई और सहोदरा बहनें माता की जायदाद का बांट कर लें।

इतना ही नहीं, धेवतियों का भी भाग है :—

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातामह्या धनात् किंचित् प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥

(मनु० ९।१९३)

उन लड़कियों की यदि लड़कियां हों तो उनको भी नीनी के धन में से कुछ प्रीतिपूर्वक देना चाहिये।

स्त्रीधन के विषय में लोगों का विचार है कि यह एक अकिंचित् वस्तु थी। परन्तु मनुस्मृति के देखने से पता चलता है कि मनु ने स्त्रीधन को विशेषता दी है। यह धन पिता या भाइयों की इच्छा पर निर्भर नहीं रक्खा :—

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥

(मनु० ९।११८)

अर्थात् भाई लोग अपने अपने अंश का चौथाई भाग बहनों को दें। न देना चाहें तो पतित समझे जावें।

इससे प्रतीत होता है कि राजनियम से भी कड़ा समाज-नियम बना दिया गया था जिससे स्त्रियाँ भाग-शून्य न रहने पावें। पीछे से लोगों ने खींचातानी करके कुछ का कुछ अर्थ निकाल लिया। उदाहरण के लिये कुछ लोग कहते हैं कि इससे केवल विवाह मात्र का व्यय अभिप्रेत है। परन्तु यह भी पीछे की कल्पना है जब भाइयों ने बहनों को धन देने से इनकार किया होगा।

दायभाग के सम्बन्ध में एक बात ने बड़ा झमेला डाला है। प्रायः यह समझा जाता है कि दायभाग के नियमों का आधार मृतक श्राद्ध और तर्पण पर है। अर्थात् जिसका अपने मृत पिता को पिण्ड देने का कर्तव्य है वही उसकी जायदाद का भी अधिकारी है। डाक्टर गंगानाथ झा ने *Hindu Law in its Sources, vol. 1* की भूमिका में यही सम्मति दी है। वे लिखते हैं कि

So far as I have been able to understand these laws, the order of precedence among inheritors is strictly in accordance with the liability to offer the Shraddha.

"जहाँ तक मैं हिन्दू कानून को समझ सका हूँ दायभाग पाने वालों का क्रम बिलकुल श्राद्ध करने के उत्तरदायित्व के क्रम से है।"

आजकल हिन्दुओं में मुख्यतः दो विधान दायभाग के सम्बन्ध में पाये जाते हैं। एक को 'मिताक्षरा' विधान कहा जाता है, दूसरे

९

को 'दायभाग' विधान। वस्तुतः 'मिताक्षरा' याज्ञवल्क्य स्मृति पर एक भाष्य है जो 'विज्ञानेश्वर' का बनाया हुआ है। 'दायभाग' एक और ग्रन्थ है जिसको जीमूतवाहन ने बनाया है। बंगाल में 'दायभाग' के अनुसार ही काम होता है और अन्य उत्तरी भारत में मिताक्षरा के अनुसार। कानूनदां लोगों की तथा हाईकोर्ट आदि न्यायालयों की व्यवस्था से पता चलता है कि 'मिताक्षरा' में दायभाग के नियमों का मूलाधार "खून का सम्बन्ध है" और 'दायभाग' में श्राद्ध का। दिनशा फर्दुनजी मुल्ला अपनी पुस्तक *Principles of Hindu Law* में लिखते हैं कि

The difference between the two systems arises from the fact that while consanguinity is the guiding principle for determining the right of inheritance under the Mitakshara School, the doctrine of religious efficacy is the guiding principle under the Dayabhag School. (page 16).

उन्होंने इसी के साथ दो मुक़द्दमों की नज़ीरें दी हैं। एक लल्लू भाई और काशी बाई के बीच, १८८ ई० की बम्बई की नजीर है जिसमें हाईकोर्ट की राय है कि

By the law of the Mitakshara, the right to inherit is to be determined by family relationship.

अर्थात् मिताक्षरा विधान के अनुसार दायभाग का निश्चय परिवार के रिश्ते के अनुसार होता है। दूसरी, १८७२ की टगोर के बीच जो मुकद्दमा हुआ उसकी बंगाल की नजीर है—

According to the Bengal School, the persons selected as heirs are those who are most capable of exercising the religious rites which are considered to be beneficial to the deceased.

अर्थात् बंगाल विधान के अनुसार वही दायभाग के अधिकारी समझे जाते हैं जो मृत-पुरुष की आत्मा के लिये सद्गति प्राप्त कराने वाले धार्मिक कृत्य (तात्पर्य श्राद्ध तर्पण आदि से है) कर सकते हैं।

परन्तु १९१५ ई० की इलाहाबाद हाईकोर्ट की बुद्धूसिंह—लल्लूसिंह के मुकद्दमे के फैसले की नज़ीर है जिसमें ज्यूडीशल कमेटी ने यह सम्मति दी है—

"The Mitakshara whilst holding that the right to inherit does not spring from the right to offer oblations does not exclude it from considerations as a test of propinquity or nearness of blood."

"यद्यपि मिताक्षरा के अनुसार दायभाग का अधिकार मृतक श्राद्ध के अधिकार के आश्रित नहीं है तथापि मिताक्षरा यह नहीं कहती कि ख़ून के रिश्ते की निकटता देखने के लिये इस अधिकार (मृतक श्राद्ध के अधिकार) पर विचार न किया जाय।"

इसी मुकद्दमे में आगे चल कर लिखा है:—

"Now it is absolutely clear that under the Mitakshara, whilst the right of inheri-

tance arises from Sapinda relationship or community of blood, in judging of the rearness of blood relationship, or propinquity among the *gotraja*, the test to be applied to discover the preferential heir is the capacity to offer oblations. Mitra Misra, the author of Virmitrodaya, an authoritative commentary on the Mitakshara, lays down this doctrine in express terms."

"अब यह बिलकुल स्पष्ट होगया कि मिताक्षरा विधान के अनुसार यद्यपि दायभाग का अधिकार सपिण्ड सम्बन्ध अर्थात् ख़ून की नज़दीकी के ऊपर है तो भी ख़ून की नज़दीकी या गोत्रजों की निकटता देखने के लिये यही एक कसौटी है कि किसको श्राद्ध करने का अधिकार है। मिताक्षरा की प्रमाणित टीका 'वीर मित्रोदय' के लेखक मित्र मिश्र ने विस्पष्ट शब्दों में इस नियम का उल्लेख कर दिया है।"

इससे इस बात का पता चलता है कि दायभाग और श्राद्ध का सम्बन्ध भाष्यकारों और टीकाकारों के मस्तिष्क की उपज है। मिताक्षरा के समय तक सपिण्ड का अर्थ 'शरीर की निकटता' या "ख़ून की नज़दीकी" समझा जाता था। पीछे से 'सपिण्ड' का अर्थ मृतक-पिण्ड-दान का ले लिया गया। और जब मृतश्राद्ध इतना प्रचलित हो गया कि प्रत्येक हिन्दू को इसके विपरीत कल्पना करनी भी कठिन हो गई तो शनैः २ यह दायभाग का एक अंश होगया। हाईकोर्ट के इस फ़ैसले में भी 'सपिण्ड' का

अर्थ 'रक्त की एकता' (community of blood) ही लिया गया है। अब जब कि बहुत से लोग यह मानने लगे हैं कि वैदिक धर्म के अनुसार मृतकों का श्राद्ध या तर्पण एक व्यर्थ अनावश्यक तथा धर्मके विरुद्ध बात है और मृतकों के आत्मा की सद्गति पुत्रों के द्वारा पिण्डा पारे जाने से नहीं होती, तो इन भाष्यकारों का आश्रय लेना सर्वथा अनुचित है। दायभाग का प्रकरण मनुस्मृति अध्याय ९ के १०३ वें श्लोक से आरम्भ होता है और ९ वें अध्याय के २२० श्लोक तक जाता है। इसके देखने से प्रतीत होता है कि आरंभ में तो पिंडा पारने या पानी देने का नाम तक नहीं है। न यह दिखाया गया है कि दायभाग का आश्रय पिंडा देने के अधिकार पर है। नीचे के श्लोकों में इसकी झलक है वह इस प्रकार—

(१) दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत्।
स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च॥
(मनु० ९। १३२)

पुत्र रहित पुरुष का धन धेवते को मिले। वह दो पिण्ड देवे, एक बाप को, और दूसरा नाना को।

(२) अकृता वा कृता वापि यं विन्देत् सदृशात् सुतम्।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात् पिण्डं हरेद् धनम्॥
(मनु० ९। १३६)

चाहे पुत्रिका बनाई गई हो या न। उसका जो पुत्र हो उससे नाना और अपने को पौत्रवाला समझे। यह धेवता पिंड दे और धन ले लेवे।

(३) मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत् पुत्रिकासुतः ।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत् पितुः पितुः ॥
(मनु० ९ । १४०)

पुत्रिका का पुत्र पहला पिण्ड माता को देवे, दूसरा उसके पिता (नाना) को, तीसरा उसके पिता के पिता (नाना के बाप या परनाना) को ।

(४) त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ।
चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ।
(मनु० ९ । १८६)

तीन को जल देना चाहिये, तीन को पिंडे पारने चाहिये । इन में चौथा तो पिण्ड और जलदान करने वाला ही है । यहाँ पांचवें का सम्बन्ध नहीं है ।

(५) अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।
अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥
(मनु० ९ । १८७)

सपिण्डों में जो पहले पहले हों उनको धन मिले । इनके पीछे 'सकुल्यों' को, फिर आचार्य या शिष्य को ।

इन श्लोकों के आगे पीछे के श्लोकों तथा प्रसंग को देखने से प्रतीत होता है कि किसी ने इनको बीच में मिला दिया है । पीछे की स्मृतियों में पिण्डदान तथा तर्पण का दायभाग के साथ जैसा नियमित सम्बन्ध बताया गया है वह मनुस्मृति में नहीं है । फिर कुछ मनुस्मृतियों में १८६ और १८७ के बीच में एक श्लोक और मिलता है:—

असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः ।
पिता मह्यश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्तिताः ॥

"पिता की स्त्रियाँ यदि सन्तान रहित हों तो उनको भी समान अंश मिलना चाहिये, और दादियों को भी । यह सब माता के समान हैं ।"

संभव है कि यह श्लोक किसी स्मृति से निकल गया या कालान्तर में किसी में जोड़ दिया गया हो । परन्तु मिलावट होना तो सिद्ध है ।

एक और विचित्र बात है । दायभाग के समस्त प्रकरण में कहीं भी सपिण्ड और समानोदक के भेद का वह विवरण नहीं है जो पीछे की स्मृतियों में है । समानोदक शब्द ५ वें अध्याय के ६० वें श्लोक में आता है:—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥

(मनु० ५ । ६०)

पुरुष की सपिण्डता सातवीं पीढ़ी तक जाती है । और 'समानोदकता' वहां तक जहाँ कुल में उत्पन्न हुये जन्म का नाम भी याद रहे ।

यह श्लोक शौच अशौच के प्रकरण का है । दायभाग का नहीं । और 'समानोदक' शब्द का अन्य किसी श्लोक में हवाला भी नहीं आया । सपिण्ड-शब्द तो इससे पहले के श्लोक में है । फिर क्या आवश्यकता थी 'समानोदक' की परिभाषा देने की । श्लोक ९ । १८७ में जो 'सकुल्य' शब्द है उसका अर्थ लोगों ने

'समानोदक' लिया है। परन्तु 'सकुल्य' का सीधा अर्थ 'कुटुम्बी' है।' 'कुल' शब्द में 'यत्' प्रत्यय लगाने से 'कुल्य' और 'सकुल्य' बनता है।

प्रायः यह समझा जाता है कि पिंडा न पाने से पिता नरक को जाता है इसलिये पिता की जायदाद उसको मिलनी चाहिये जो उसको पिण्ड देकर स्वर्ग पहुँचा सके। परन्तु यह प्राचीन मत नहीं है। जैसा इस श्रुति से प्रकट होता है:—

जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणोयः पुत्री, यज्वा, ब्रह्मचारी च।

अर्थात् जो ब्राह्मण उत्पन्न होता है वह जन्ममात्र से ही तीन ऋणों का ऋणी हो जाता है, ब्रह्मचर्य से ऋषियों का, यज्ञ से देवों का और सन्तान से पितरों का। पुत्र की उत्पुत्ति से वह पितृऋण से मुक्त हो जाता है। यज्ञ करने से देव ऋण से और ब्रह्मचारी रहने से ऋषि-ऋण से। इससे विदित होता है कि पुत्र की उत्पत्ति पिण्डों की प्राप्ति के लिये नहीं किन्तु पितृ-ऋण चुकाने के लिये है। कुछ लोग शायद कहें कि पुत्र कहते हीं उसको हैं जो पिता को 'पुन्' नाम नरक से बचावे। इसमें निरुक्त का प्रमाण भी है। परन्तु यह लोग यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि नरक से पिता कैसे बचता है। यदि यास्क के वाक्य का ऊपर की श्रुति से मिलान किया जाय तो समस्त युक्ति विस्पष्ट हो जाती है। इसको हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :—

(१) ऋण का न चुकाना पाप है।

(२) पापी की सद्गति नहीं हो सकती।

(३) जो ऋण को नहीं चुकाता उसकी सद्गति नहीं हो सकती।

(४) पितृ ऋण को न चुकाने वाली की सद्गति न होगी।

(५) पितृ-ऋण पुत्र उत्पन्न होने से चुकता है।

(६) इसलिये पुत्र की उत्पत्ति मनुष्य को नरक से बचाती है।

क्यों ? इसको पुत्र का ही पर्य्याय दूसरा शब्द विस्पष्ट करता है। पुत्र को संतान इसलिये कहते हैं कि संतान से सिलसिला (संतति) चलता है। पुत्र न हो तो पुराने पुरखों से जो वंश की परम्परा चली आई वह टूट जायगी। इसलिये मनुष्य पुत्र को उत्पन्न करके उस सिलसिले को आगे बढ़ा देता है। इससे विदित होता है कि पुत्र की उत्पत्ति ऋण का चुकाना है न कि ऋण को देना। पुत्र यदि अपने पितृ-ऋण को न चुकावे तो उससे पुत्र की सद्गति में बाधा पड़ेगी न कि पिता की। वह तो अपना कर्तव्य पालन कर चुका। श्री पं० गोपालचन्द्र सरकार शास्त्री अपनी पुस्तक हिन्दूला (*Hindu Law*) में ठीक लिखते हैं कि—

It is erroneous to suppose that the law of adoption owed its origin to the doctrine of spiritual benefit conferred by sons. One cannot associate the sacred name of religion with practices based upon in morality and looseness of sexual relations: there is no system of religion known, that coun-

tenances an institution partly founded on adultery, seduction and lust. The Hindu religion which is moulded on asceticism; is least likely to sanction the unmoral usages relating to several descriptions of sons recognized by ancient society. As regards ancestor-worship upon which the erroneous view is founded, its ritual shows that that ceremony is performed not so much for the purpose of conferring any benefits on the ancestors, as for the purpose of receiving benefits from them.

"गोद लेने के नियमों को पुत्रों द्वारा सद्गति प्राप्त करने के सिद्धान्त पर आश्रित करना भूल है। धर्म के पवित्र नाम को दुराचार या व्यभिचार मूलक कृत्यों के साथ सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। कोई धर्म ऐसा नहीं है जो व्यभिचार या विषय-वासना मूलक विधान का पोषक हो सके। फिर हिन्दू धर्म तो त्याग के सिद्धान्त के आश्रित है। इसलिये इससे तो और भी आशा नहीं की जा सकती कि वह प्राचीन-समाज द्वारा सम्मत भिन्न भिन्न प्रकार के पुत्रों को विहित समझता हो। रही पितृ-पूजन की बात। सो पितृ-पूजन पितरों की भलाई के लिये नहीं है किन्तु पितरों से स्वयं अपने हित की कामना करने के लिये है।" सरकार शास्त्री महोदय का तात्पर्य यह है कि लोग किसी अन्य के पुत्र को इसलिये गोद नहीं रखते कि वह उनके पिण्डे पारेगा किन्तु इसलिये कि वंश चलेगा। जो बात गोद रखने के

सम्बन्ध में है वही औरस पुत्रों के सम्बन्ध में। पुत्रों की तीन कोटियां हैं :—

(१) औरस और पुत्रिका-पुत्र। यह सब से श्रेष्ठ हैं। क्योंकि इन्हीं के द्वारा सपिण्डता अर्थात् ख़ून का सिलसिला चलता है। पौत्र और दौहित्र में तो भेद ही नहीं।

(२) दत्तक पुत्र—गोद रक्खा हुआ। यह पहली कोटि के पुत्रों के अभाव में होता है। इससे यद्यपि ख़ून का सिलसिला कट जाता है तथापि वंश चलता रहता है। यह दैवीगति थी कि पुत्र, पौत्र या दौहित्र न हुआ। इसलिये दूसरे के पुत्र को पुत्र मान लिया।

(३) अन्य पुत्र निकृष्ट हैं क्योंकि इनसे व्यभिचार बढ़ता और सदाचार का ह्रास होता है। इनको कानून की दृष्टि में कुछ थोड़ा सा भाग इसलिये दिया है कि उन वेचारों को मरने तो न देना चाहिये। व्यभिचार का उत्तरदायित्व उनके ऊपर नहीं किन्तु उनके पिता माता के ऊपर है। यदि उनको औरस पुत्र के बराबर माना जाता तो विवाह का पवित्र विधान ही नष्ट हो जाता और यदि उनके लिये कुछ भी न किया जाता तो उनको भूखों मरने की समस्या उपस्थित होती। अतः उनको अधम और विधि-शून्य श्रेणी में रख दिया।

हिन्दुओं में दायभाग का नियम बड़ा जटिल है। इसका यह कारण नहीं कि प्राचीन स्मृतियों का उद्देश्य ही इनको जटिल करना था। वस्तुतः उन्होंने तो सुगम और सरल नियम बनाये, पीछे से जटिलता आगई। हिन्दू एक प्राचीन जाति है। समय समय पर दायभाग के विषय में झगड़े हुये। भिन्न भिन्न पक्षों ने अवश्य ही अपने अपने पक्ष के लिये पंडितों से सहायता ली। इन्होंने

अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये प्रक्षिप्त डाल दिया। यह केवल कल्पना नहीं है किन्तु इसके लिये ऐतिहासिक प्रमाण भी हैं। दत्तक मीमांसा को नन्द परिडत ने इसी उद्देश्य से बनाया था। यह बहुत थोड़े दिनों का ग्रन्थ है और ब्रिटिश राज्य स्थापित होने से सौ सवा सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। ब्रिटिश राज्य के आरंभ में भूल से इसका अंगरेज़ी में अनुवाद हो गया और अंगरेज़ी न्यायालयों ने इसको प्रमाण मान लिया। इलाहाबाद हाइकोर्ट की पूरी सभा (Full bench) ने सर जान एज (Sir John Edge) के सभापतित्व में एक फैसला दिया था उसमें इस बात को विस्तार-पूर्वक सिद्ध किया गया है कि नन्द परिडत के क्षेपकों को आदर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। कहते हैं कि दत्तक-मीमांसा एक धेवते को दायभाग से वंचित करने के लिये लिखी गई थी।

दत्तक-चन्द्रिका एक दूसरी पुस्तक है जिसके विषय में सभी वंगाली विद्वानों को पता है कि यह रघुमणि विद्याभूषण का बनाया हुआ जाल है। रघुमणि कोलब्रूक (Colebrooke) साहेब के साथी पंडित थे। बंगाल के एक राजा थे। उन्होंने एक लड़का गोद रक्खा था। पीछे से उनके अपना लड़का हो गया। उनके मरने पर प्रश्न हुआ कि राजा का अधिकार किसको मिले। गोद के रक्खे हुये लड़के का पक्ष सिद्ध करने के लिये रघुमणि महोदय ने पुस्तक लिख दी। इसके हिसाब से गोद के लड़के को आधा राज मिलना चाहिये। यदि पुस्तक न होती तो पुराने विधान से एक तिहाई। यह मुकद्दमा आगे नहीं चला क्योंकि सन्धि होगई। इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है:—

र-म्यैषा चन्द्रिकादत्त-पद्धतेर्दर्शिका ल-घु-
म-नोरमा सन्निविशैरंगिणां धर्मतार-णिः ॥

इसके पहले और पिछले अक्षरों से 'रघुमणि' शब्द बनता है।

१८३२ ई० में कलकत्ता संस्कृत कालेज के पंडितों ने एक और जाल रचा। जैनियों का एक मुकद्दमा था। इनकी व्यवस्था मानी जाया करती थी। इन्होंने एक पुस्तक लिखकर कालिज के पुस्तकाध्यक्ष को रिश्वत देकर पुस्तकालय के रजिस्टर में दर्ज करादी। डाक्टर एच०एच० विल्सन (Dr. H. H. Wilson) कालेज के मंत्री थे। उनको सन्देह हो गया। पुस्तक पकड़ी गई। पंडित महोदय ने अपना अपराध स्वीकार किया। उस दिन से वहाँ पंडितों से व्यवस्था देने का अधिकार छीन लिया गया। (देखो सरकार शास्त्री का हिन्दूला पृ० १८७)

जब यह क्षेपकों का जाल इस समय तक जारी है तो न ज़ाने मध्यकाल में कितने अवसर ज़ाल बनाने के लिये उपस्थित न हो चुके होंगे। और मानव धर्म शास्त्र को कितनी बार बिगाड़ा न गया होगा। दायभाग का सम्बन्ध धन से है। धन का लोभ से, लोभ का मिलावट से। इस प्रकार लोभ सभी कुछ करा सकता है। वैदिक संस्कृति के प्रेमियों को इसकी कृत्तियों से सावधान रहने की आवश्यकता है।

मनुस्मृति के लिये आर्य्य जाति में इस समय भी श्रद्धा है। परन्तु इस श्रद्धा का रूप विचित्र है। वर्तमान आर्य्य जाति की मनोवृत्ति इस प्रकार की है कि प्राचीन ग्रन्थों का आदर कीजिये, उनके सामने आरती कीजिये, उन पर पुष्प चढ़ाइये और उनके सामने माथा भी टेकिये। परन्तु उनको या तो पढ़िये न, या

मानिये न। वेदों के विषय में लोगों की यही धारणा है। वेदों के नाम के लिये अगाध श्रद्धा है। वेद शब्द ही एक विचित्र और अकथनीय श्रद्धा उत्पन्न कर देता है। परन्तु जब पढ़ने और अनुशरण करने का प्रश्न आता है तो कह दिया जाता है कि ये सब सत्‌युग के लिये थे। आजकल कलियुग है। पंडितों ने यह एक सरल उपाय निकाल रक्खा है। कोई पूछता है कि वैदिक ग्रन्थों में गो वध क्यों है तो इसका यही उत्तर मिलता है कि सत्‌युग में विहित था। उस समय लोगों में मरे हुये पशु को जिला देने की शक्ति थी। कलि में ऐसा वर्जित है। यही उत्तर नियोग के लिये है। यही अन्य कई जटिल प्रश्नों के लिये। परन्तु पण्डित लोग यह नहीं समझते कि इससे तो वैदिक साहित्य का लाघव ही सिद्ध होता है। यदि वेद और मनुस्मृति सत्‌युग के लिये थी, कलिकाल के लिये नहीं तो इनको याद रखने से क्या लाभ। इसलिये तो बहुत से लोग कहने लगे हैं कि व्यर्थ का टंटा क्यों खड़ा किया जाय। जिन वृक्षों के आम नहीं खाने उनको गिनने से क्या लाभ। जिस मकान में रहना नहीं उसकी मरम्मत व्यर्थ। जो कोड बदल गया उसको भूल जाइये। यही कारण था कि प्राचीन आर्ष ग्रन्थों को भूलकर लोग आधुनिक ग्रन्थों को मानने और उन्हीं के अनुसार चलने लगे हैं। श्री डाक्टर गंगानाथ झा ने इस अवस्था को *Hindu Law in its Sources*, vol. I की भूमिका में विस्तारपूर्वक लिखा है। अन्त में सारांश देते हुये वह लिखते हैं:—

From the above it is clear that the centre of gravity of authority, which originally rested entirely in the *Shruti*, gradually shifted from *Shruti* to *Smriti*, from *Smriti* to

custom, and finally to the writings of a few learned and very modern authors. (page 11)

अर्थात् पहले तो केवल श्रुति को ही मुख्य प्रमाण माना जाता था। अब शनैः शनैः प्रमाणों की मुख्यता श्रुति से हटकर स्मृति तक आ गई। फिर स्मृति से चलकर आचार तक और अब अन्त में आचार से चलकर कुछ थोड़े से आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थों तक।"

तात्पर्य यह है कि पहले श्रुति के सामने स्मृति की नहीं चलता थी। स्मृति के आगे आचार की नहीं। परन्तु अब इस श्लोक के अनुसार कार्य्य होता है:—

देशाचारस्तावदादौ विचिन्त्यो
यस्मिन् देशे या स्थितिः सैव कार्या।

अर्थात देशाचार के सामने न स्मृति का मान है न श्रुति का।

श्री डाक्टर झा ने अपना एक निज का अनुभव दिया है:—

"A case exactly like this has come within my personal experience. Having met with a smriti text declaring that a shraddha offering of which *wheat* does not form a part is futile, I asked a great maithila Pandit, why in our shraddhas we do not insist upon having wheat, and he said that the text I had cited had not been found in any Nibandha and as such cannot be regarded as authoritative."

"ऐसा ही मेरा निज का अनुभव है। मुझको एक स्मृति-वाक्य मिला जिसके अनुसार जिस श्राद्ध में गेहूँ का भाग न हो वह व्यर्थ है। मैंने एक बड़े मैथिल पंडित से पूछा कि हम श्राद्ध में गेहूँ के भाग का क्यों आग्रह नहीं करते। उन्होंने उत्तर दिया कि जो वाक्य तुमने दिया है वह किसी निबन्ध में नहीं पाया जाता अतएव माननीय नहीं है।"

मालूम नहीं कि डाक्टर महोदय का मनु के उन श्लोकों के विषय में क्या विचार है जिनमें भिन्न २ पशुओं के मांस को श्राद्ध में खिलाने से पितर लोग भिन्न २ समयों के लिये तृप्त होते हैं। (देखो, मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक २६०—२८१) परन्तु यह तो सर्वथा ही सच है कि वर्तमान निबन्धों के सामने प्राचीन शास्त्रों का कुछ मान नहीं रहा। जब वैदिक संस्कृति की जड़ खुखली हो गई तो शाखायें कब तक पल्लवित और पुष्पित रह सकती हैं। इसीलिये लोगों ने कहना आरंभ कर दिया है कि इस गड़-बड़झाला को परे फेंक दो।

इसका मुख्य कारण यह है कि हमने मौलिक वैदिक स्रोत को मैला होने दिया। कभी शुद्ध करने का यत्न न किया। यह साहस कौन करता कि छानबीन करे और प्रक्षिप्त को निकाल बाहर करे। यहाँ तो प्रयत्न यही रहा कि जिसकी जिस प्रकार स्वार्थ सिद्धि हो सके, वहीं अपने पक्ष में प्रक्षिप्त श्लोकों या प्रक्षिप्त ग्रन्थों की भरमार कर ले। स्वयं लिखे और बड़े बड़े ऋषियों का नाम रख दे। अब इस जल को गंदला देखकर लोग इसके फेंकने पर उतारू हो गये हैं।

हम मानते हैं कि मनुस्मृति में बहुत सी गड़बड़ मिल गई है और इसका त्यागना ही हितकर है। परन्तु हमारे विचार में

मौलिक उपदेश रूपी रत्नों को भी इनके साथ साथ फेंक देना समस्त मनुष्य जाति की अकथनीय हानि का कारण होगा। मानव धर्मशास्त्र केवल इसीलिये मानव धर्मशास्त्र नहीं है कि यह मनु का उपदेश (मनो इति मानवः) है किन्तु इसलिये भी मानव धर्मशास्त्र है कि यह समस्त मानवजाति का धर्मशास्त्र है। यह मुमुक्षु से लेकर व्यसनी तक और वेदज्ञ से लेकर मूर्ख तक सभी के हर समय के काम की चीज़ है। यह गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सभी बातों का आदेश करता है।

प्रक्षेपों के दूर करने का प्रयत्न

अब तक मनुस्मृति के जितने संस्करण छपे हैं उन सब में प्रक्षिप्त स्थलों को ज्यों का त्यों छाप दिया गया है। पं० तुलसीराम स्वामी जी ने मनुस्मृति का जो भाषानुवाद लिखा था उसमें प्रक्षिप्त स्थलों को छोटे अक्षरों और कोष्ठों के बीच में दे दिया था और उनके प्रक्षिप्त होने के हेतु भी दे दिये थे। यह बात पण्डितों और मीमांसकों के लिये बड़े काम की है। मेधातिथि, कुल्लूक आदि के संस्कृत भाष्यों में भी इतस्ततः कुछ ऐसी टिप्पणियां मिलती हैं कि अमुक श्लोक अमुक पुस्तक में है अमुक में नहीं, परन्तु सर्व-साधारण को इनसे कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि यह स्वयं तो मीमांसा कर नहीं सकते। दूसरों की मीमांसा को समझ भी नहीं सकते। स्वार्थी पक्षपाती लोग इनको बहका देते हैं। जिस जल में विषयुक्त कीटाणु मिल गये हैं उसको वैज्ञानिक रीति से छानने की शक्ति सबमें तो है ही नहीं। इनके लिये तो आवश्यक है कि वाटर्वर्कस् द्वारा छना हुआ (filtered) जल दिया जाय। इसी हेतु को दृष्टि में रखकर और मनुस्मृति के कलंक को दूर करने के विचार से हमने यह साहस किया है कि प्रक्षिप्त अंशों को सर्वथा

१०

निकालकर श्लोकों का क्रम अपना देकर हिन्दी अनुवाद सहित मनुस्मृति का एक संस्करण निकाला जाय। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपने पुराने "मुन्शीराम" नाम से गुरुकुल कांगड़ी के विद्यार्थियों के लाभार्थ "वेदानुकूल संक्षिप्त मनुस्मृति" के नाम से एक संस्करण प्रकाशित किया था जिससे प्रक्षिप्त श्लोकों को निकाल दिया था। परन्तु यह संस्करण केवल संस्कृत में था इसीलिये सर्व-साधारण में इसका मान नहीं हुआ। हमारा तो विचार है कि यह इस ओर पहला ही प्रयास था। अभी इधर पं॰ चन्द्रमणि जी विद्यालंकार ने 'आर्ष मनुस्मृति' में भी इसी प्रकार का प्रयत्न किया है। पर इससे भी आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

कुछ लोग हम पर आक्षेप करेंगे कि प्रक्षिप्त अंशों को पहचानने के तुम्हारे पास क्या साधन हैं और तुम कैसे कह सकते हो कि तुम्हारे छन्ने में केवल अनिष्ट अंश ही निकाला गया है और सम्पूर्ण इष्ट अंश ले लिया गया है। हमारा इस आक्षेप के लिये यह उत्तर है कि प्रक्षेपों के पहचानने की कसौटियाँ हैं। पहली यह कि प्रसंग में अन्तर पड़ जाता है, दूसरी यह कि निकाल देने से प्रसंग में गड़बड़ नहीं होती। तीसरी यह कि बहुधा प्रक्षिप्त अंश परस्पर विरोध कर देते हैं जैसा मनुस्मृति में बहुत है और भाष्य-कर्त्ताओं का विद्वत्ता-पूर्ण-प्रयास भी उस विरोध को मिटा नहीं नहीं सका। चौथी यह है कि भाषा की शैली से भी पता चलता है। पाँचवीं यह कि अनावश्यक व्याख्यान जैसा कि कई स्थलों में आगया है मनु की निज शैली हैं ही नहीं, और न धर्मशास्त्र (codes) की यह रीति हो सकती है। जो पैवन्द कपड़ा फाड़ कर बीच में लगाया जाता है वह सभी को दिखाई देता है। कोई कोई चालाक रफ़ूगर ऐसे होशियार होते हैं कि चतुर पुरुष भी धोखा खा जाते हैं। मनुस्मृति में पेवन्द लगाने वाले चतुर अचतुर

दोनों प्रकार के लोग हैं। यदि चतुर रफूगरों की चातुरी ने हमको धोखा दिया है तो हम अपनी इस अल्पता को स्वीकार करने के लिये तैय्यार हैं। इतनी शक्ति तो किसी में नहीं है कि निस्सन्देह और निर्भ्रान्त रूप से कह सकें कि इतना इतना भाग अमुक अमुक समय पर मिलाया गया है। जब डाक्टर फोड़े में चीरा देता है तो कभी कभी रोगयुक्त रक्त के साथ साथ दो चार बूँद रोगशून्य रक्त भी निकल जाता है और कभी कभी रोगयुक्त रक्त की दो चार बूँद रह भी जाती हैं। हमने भी इसी प्रकार नश्तर लगाने का यत्न किया है। यदि उपर्युक्त प्रकार की कोई भूल हमसे भी रह गई हो तो असम्भव नहीं है। परन्तु हमने यह आवश्यक समझा कि रोगी के हित के लिये चीरा अवश्य लगाना चाहिये। अन्यथा रोगी बच नहीं सकता। हमने यथाशक्ति यत्न किया है कि जनता का अहित न हो। बढ़ाया तो हमने कुछ भी नहीं है। कुछ घटाया अवश्य है। जो सज्जन हमसे इस बात में सहमत न हों वह यही समझ लें कि यह संक्षिप्त मनुस्मृति है अथवा इसमें मनुस्मृति का एक अंश ही है। जिनको विस्तार से देखना हो उनके लिये अन्य संस्करण दुष्प्राप्य नहीं हैं।

एक बात हमसे नहीं हो सकी। इसके लिये योग्यता और समय दोनों की आवश्यकता है। क्षेपक मिलाने वाले न केवल पूरे पूरे श्लोक ही मिलाते हैं किन्तु अपने प्रयोजन के अनुसार श्लोकों के अन्तर्गत एक दो शब्दों का ही परिवर्तन कर देते हैं। इससे अर्थ में आकाश पाताल का भेद हो जाता है। हमको मनुस्मृति के कई श्लोकों में ऐसी झलक दिखाई पड़ी। कई स्थलों पर तो शब्दों के हेर फेर के कारण ही आशय बड़ा सन्दिग्ध सा हो गया है। संस्कृत में इस प्रकार के हस्ताक्षेप बहुत सुगमता से किये जा सकते हैं। 'अ' कार को तो कहीं जोड़ दीजिये और कहीं

से निकाल दीजिये। न छन्दोभंग होगा न और कुछ, और आशय अवश्य ही उलट जायगा। इसी प्रकार च, एव, इव, तु आदि बहुत से शब्द हैं। इनके अतिरिक्त चतुर रफूगर के लिये संस्कृत का शब्द-सागर भरा पड़ा है। जहां से चाहा दो बूँद उठालीं और इधर की उधर रखदीं। हम इस सम्बन्ध में अपनी शक्तियों की अल्पता का अनुभव करके हताश हो गये और इस ओर एक पग भी नहीं बढ़ा सके। हमने पाठ वही रक्खा है जो निर्णय सागर प्रेस बम्बई की सन् १९१५ ई० की छपी हुई कुल्लूक भट्ट विरचित मन्वर्थ मुक्तावली नामी टीका का है। इसमें यदि कोई स्खलन हुआ हो तो इसमें हमारी जानबूझ कर भूल नहीं हुई।

भाषानुवाद करने में हमने यह नियम निर्धारित किये हैं।

१—आरंभ में प्रत्येक संस्कृत शब्द को कोष्ठ में देकर उसका हिन्दी अनुवाद दे दिया है और फिर समस्त श्लोक का भावार्थ दे दिया है।

२—जहां अन्वय सीधा है वहां भावार्थ नहीं दिया। क्योंकि यदि कोष्ठान्तर्गत संस्कृत शब्द छोड़ कर केवल हिन्दी भाग ही पढ़ा जाय तो भावार्थ स्पष्ट हो जाता है।

३—आगे चलकर संस्कृत शब्द श्लोक के क्रम से नहीं किन्तु अन्वय करके दिये गये हैं।

४—जहां शब्द क्लिष्ट नहीं समझे वहां भावार्थ ही दे दिया है। यदि इस बीच में यह समझा गया कि पढ़ने वाले को किसी शब्द के समझने में अड़चन होगी तो उस शब्द को कोष्ठ में दे दिया गया या अलग टिप्पणी दे दी।

५—उन सरल शब्दों को तो अवश्य ही कोष्ठ में दे दिया गया है जिनके अर्थ में दो सम्मतियां हो सकती हैं, अथवा जिनके समझने में कुछ भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

इस सब मिली जुली शैली का प्रयोजन यह है कि पुस्तक का परिमाण बहुत न बढ़ जाय।

हमारी इच्छा है कि मनु के विचारों का प्रचार अधिक हो।

गंगाप्रसाद उपाध्याय

श्लोकों में पाठ भेद

पुराने भाष्यकारों में से जिनकी टीकायें इस समय प्राप्त हैं वे हैं, मेधातिथि, गोविन्दराज, सर्वज्ञनारायण, राघवानन्द, नन्दन और कुल्लूक । इनमें सबसे पुरानी टीका मेधातिथि की है जो बूहलर के मतानुसार नवीं शताब्दी में लिखी गई है। इसका नाम मनुभाष्य है। कई हस्त लिखित पुस्तकों के आधार पर मेधातिथि की टीका का एक प्रामाणिक संस्करण डा० गंगानाथ झा ने संपादित किया है। गोविन्दराज की 'मनु-टीका' बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी की है। सर्वज्ञनारायण की 'मन्वर्थ-विवृत्ति' संभवतः चौदहवीं शताब्दी की है। नन्दन की नन्दनी, या मन्वर्थ-व्याख्यान या मानव-व्याख्यान' की रचना संदिग्ध समय की है, और इसमें दिये गये पाठ अन्य प्रतिलिपियों से बहुत भिन्न हैं। कुल्लूक की 'मन्वर्थ-मुक्तावली' संभवतः १५वीं शताब्दी में लिखी गई। गोविन्दराज की टीका में अनेक स्थल इसमेंसे अपहरण किये गये हैं। अपनी ओर से पाठ में कुछ पर्य्याय-शब्द भी मिला दिये गये हैं।

हमने मनुस्मृति का जो पाठ दिया है, वह कुल्लूक का है पर पाद-टिप्पणी में मेधातिथि आदि टीकाकारों के पाठ भेद भी दे दिये हैं। ये पाठ भेद अनेक हस्तलिखित प्रतिलिपियों के आधार पर हैं जिनका विस्तृत विवरण डा० जे० जौली (J. Jolly) ने अपने 'मानवधर्मशास्त्र' (लंडन, ट्रूबनर एण्ड कम्पनी, १८८७) में दिया है। साथ ही साथ, हमने कुछ पाठ-भेद वे भी दे दिये हैं, जो स्वामीदयानन्द के उद्धृत श्लोकों में

मिलते हैं। स्वामी जी ने अपने सत्यार्थप्रकाश, संस्कार विधि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका आदि ग्रन्थों में लगभग ४६० श्लोक मनुस्मृति के उद्धृत किये हैं। कहीं कहीं पूरे श्लोक दिये हैं और कहीं कहीं आवश्यकीय अंश ही। अपनी स्मृति के आधार पर ही लिखने के कारण, और कुछ लेखकों और छापाखानों की असावधानी के कारण पाठान्तरों का होना कुछ अस्वाभाविक नहीं है।

पाठान्तरों के लिये टीकाकारों की अपेक्षा से हमने भिन्न संकेत-चिह्नों का अवलम्बन लिया है—

द० स्वामीदयानन्द	J—J. Jolly
मे० मेधातिथि	J—H—Jones—Haughton
गो० गोविन्दराज	L—Loiseleur Deslong champs
स० सर्वज्ञनारायण	B—Burnell—Hopkins
रा० राघवानन्द	Bu—Buhler
न० नन्दन	

श्लोकों की संख्या

संस्कृत के श्लोकों के साथ दो प्रकार की संख्या दी गई है। पहली तो हमारे क्रमानुसार है। दूसरी संख्या जो कोष्ठ में दी गई है वह कुल्लूक की क्रमसंख्या है। कोष्ट में इसके देने का प्रयोजन यह है जिससे मनुस्मृति के प्रमाणों को खोजने में सरलता हो।

मनुस्मृतिः

प्रथम अध्याय

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥१॥ (१)

(एकाग्रम् आसीनम्) एकाग्र चित्त बैठे हुये (मनुम्) मनु जी महाराज के पास (अभिगम्य) आकर (महर्षयः) महर्षि लोग (यथान्यायम्) विधि-पूर्वक (प्रतिपूज्य) प्रणाम करके (इदं वचनम्) यह बात (अब्रुवन्) बोले।

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥२॥ (२)

(भगवन्) हे महाराज! (सर्ववर्णानम्) सब वर्णों के (यथावत्) ठीक ठीक (अनुपूर्वशः) क्रम पूर्वक (अन्तरप्रभवाणां च) और उपजातियों के (धर्मान्) कर्त्तव्यों को (नः) हमको (वक्तुम् अर्हसि) बताइये।

हे महाराज! आप हमको ठीक ठीक क्रम पूर्वक सब वर्णों और उपजातियों के कर्त्तव्यों का व्याख्यान कीजिये।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥३॥ (३)

(त्वम् एकः हि) केवल आप ही (अस्य सर्वस्य विधानस्य) इस सब वेद शास्त्र के (स्वयंभुवः) ईश्वर प्रदत्त या अपौरुषेय के (अचिन्त्यस्य) तर्क से परे (अप्रमेयस्य) प्रमाण से परे के (कार्यतत्वार्थवित्) व्यावहारिक तत्व के जानने वाले (प्रभो) हे महाराज !

'विधान' का अर्थ है आचारशास्त्र, कोड या वेद । यहां इसके तीन विशेषण हैं 'स्वयंभू' अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान, 'अचिन्त्य' और 'अप्रमेय' अर्थात् अत्यन्त कठिन और गूढ़ ।

हे महाराज, इस गूढ़ ईश्वरीय ज्ञान वेद के व्यावहारिक तत्व को समझने वाले केवल आप ही हैं । (इसलिये हम आप के पास आये हैं ।)

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥४॥ (४)

(सः) वह मनु (तैः) उनके द्वारा (पृष्टः) पूछा गया (तथा) इस प्रकार (सम्यक्) भलीभांति (अमित ओजाः) अपार तेज वाला, (महात्मभिः) महात्माओं द्वारा, (प्रत्युवाच) उत्तर दिया (अर्च्य) सत्कार करके (तान् सर्वान् महर्षीन्) उन सब महर्षियों का, (श्रूयताम् इति) सुनिये ।

---

४ अमितौजमहर्षिभिः ।
प्रत्युवाचार्चयित्वा तान् ॥ (मे)

जब इन महात्माओं ने इन महान् तेजस्वी मनु जी से ऐसा प्रश्न किया तो मनु जी ने उन सब महर्षियों का सत्कार करके उत्तर दिया, "आप सुनिये" (मैं कहता हूँ)।

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ५ (८७)

सर्वस्य तु सर्गस्य) सब सृष्टि की (गुप्ति अर्थम्) रक्षा के लिये (स महाद्युतिः) उस तेजस्वी ब्रह्मा ने (मुख बाहु उरु पत् जानाम्) मुख, बाहु, जंघा और पैर के स्थानापन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के (पृथक् कर्माणि अकल्पयत्) अलग अलग कर्म बनाये।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ६ (८८)

(अध्यापनम्) पढ़ाना (अध्ययनम्) पढ़ना (यजनम्) यज्ञ करना (याजनं तथा) और यज्ञ कराना (दानं) दान देना (प्रतिग्रहं च एव) और दान लेना (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों के धर्म (अकल्पयत्) निश्चित किये।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ७ (८९)

---

८८ प्रतिग्रहश्चैव (द)

८९ प्रसक्तिं च (J)
क्षत्रियस्य समादिशत् (मे, रा)
क्षत्रियस्य समासतः (गो, कु, J-H, L, B)
क्षत्रियाणामकल्पयत् (न)

(प्रजानां रक्षणम्) प्रजा की रक्षा (दानम्) दान, (इज्या) यज्ञ (अध्ययनम् एव च) और पढ़ना (विषयेषु, अप्रसक्तिः च) और विषयों में न लगना (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय के धर्म हैं (समासतः) संक्षेप से ।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥८॥ (९०)

(पशूनां रक्षणम्) पशु पालन (दानम्) दान (इज्या) यज्ञ (अध्ययनम् एव च) और पढ़ना (वणिक् पथम्) व्यापार (कुसीदं च) और लैन देन (वैश्यस्य) वैश्य के धर्म हैं । (कृषिम् एव च) और खेती ।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९ ॥ (९१)

(एकम् एव तु शूद्रस्य) शूद्र का केवल एक (प्रभुः) ब्रह्मा ने (कर्म) काम (सम् आदिशत्) बताया । (एतेषाम् एव वर्णानाम्) इन वर्णों की ही (शुश्रूषां) सेवा को (अनुसूयया) विना निन्दा के ।

शूद्र को विना संकोच अन्य वर्णों की सेवा करना चाहिये ।

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।
तस्मान्मेध्यतम त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥१०(९२)

(ऊर्ध्वं नाभेः) नाभि से ऊपर (मेध्यतरः) पवित्र (पुरुषः परिकीर्तितः) पुरुष बताया गया है (तस्मात्) उससे भी (मेध्य-

९२ त्वस्य (मे.रा), तस्य (गो, कु), वास्य (न)

तमम्) पवित्र (तु) तो (अस्य मुखम्) इसका मुख (उत्तमः) बताया गया (स्वयंभुवा) ब्रह्मा से।

ब्रह्मा ने बताया है कि नाभि से ऊपर जितना जितना चलते जाओ उतना उतना पवित्र है और मुख सबसे पवित्र है।

उत्तमांगोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥ ११(९३)

(उत्तम-अंग-उद्भवात्) उत्तम अंग होने से (ज्यैष्ठ्यात्) ज्येष्ठ होने से (ब्रह्मणः च एव धारणात्) और वेद के धारण करने से (सर्वस्य एव अस्य सर्गस्य) इस सब सृष्टि का (धर्मतः) धर्म के हिसाब से (ब्राह्मणः प्रभुः) ब्राह्मण प्रभु है।

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥ १२(९६)

(भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः) सब चीजों में जीव श्रेष्ठ हैं। (प्राणिनां बुद्धिजीविनः) जीवधारियों में बुद्धि वाले श्रेष्ठ हैं। (बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः) बुद्धि वालों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं। (नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः) और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥ १३॥ (९७)

(ब्राह्मणेषु च विद्वांसः) और ब्राह्मणों में विद्वान् श्रेष्ठ हैं। (विद्वत्सु कृतबुद्धयः) विद्वानों में विचित्र बुद्धि वाले श्रेष्ठ हैं। (कृतबुद्धिषु कर्तारः) विचित्र बुद्धि-वालों में वे जो नया आवि-

---

९७ ब्राह्मणेषु तु; ब्रह्मवादिनः (मे, न, स); ब्रह्मवेदिनः (गो, रा, J-H, Bu, L, B.

ष्कार करते हैं। (कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः) और आविष्कार कर्त्ताओं में वह श्रेष्ठ हैं जो ब्रह्म का ज्ञान रखते हैं।

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४ (९८)

(उत्पत्तिः एव विप्रस्य) ब्राह्मण की उत्पत्ति अर्थात् नियुक्ति ही (मूर्तिः धर्मस्य शाश्वती) सदा धर्म की मूर्ति है। (स हि धर्मार्थम् उत्पन्नः) वह तो धर्म के लिये ही बनाया गया है। (ब्रह्मभूयाय) मोक्ष के लिये (कल्पते) माना जाता है।

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये। १५ (९९)

(ब्राह्मणः जायमानः हि) ब्राह्मण उत्पन्न होकर ही (पृथिव्याम् अधिजायते) पृथिवी में सर्वोपरि होता है। (ईश्वरः सर्वभूतानाम्) सब प्राणियों में मुख्य और (धर्मकोशस्य गुप्तये) धर्म कोश की रक्षा के लिये।

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥१६(१००)

(सर्वं स्वं ब्राह्मणस्य इदम्) यह सब ब्राह्मण का है (यत्किंचित् जगतीगतम्) जो कुछ जगत् में है। (श्रैष्ठ्येन अभिजनेन) श्रेष्ठ योनि के कारण (इदं सर्वं वै ब्राह्मणो अर्हति) ब्राह्मण इस सबके योग्य है। अर्थात् देहधारियों में श्रेष्ठ होने के कारण ब्राह्मण को समस्त जगत् की रक्षा का भार सौंपा गया है। गत श्लोक में कहा गया है कि ब्राह्मण धर्म कोश की रक्षा के लिये है।

---

९८ उत्पात्तरषा (कु) उत्पत्तिरेव (J)

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥१७(१०१)

(स्वम् एव ब्राह्मणः भुंक्ते) ब्राह्मण अपना ही खाता है । (स्वं वस्ते) अपना ही पहनता है (स्वं ददाति च) और अपना ही दान करता है । (आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की कृपा से ही (भुंजते) खाते हैं (हि इतरे जनाः) दूसरे मनुष्य ।

अर्थात् यदि ब्राह्मण धर्म कोश की रक्षा करने की कृपा न करे तो जगत् विगड़ जाय और अन्य लोगों को सुख न मिले ।

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् ।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥१८(१०७)

(अस्मिन्) इस शास्त्र में (धर्मः अखिलेन उक्तः) पूरा धर्म बताया गया है (गुण दोषौ च कर्मणाम्) और कर्मों के गुण दोष भी । (चतुर्णाम् अपि वर्णानाम् आचारः च एव शाश्वतः) और चारों वर्णों का नित्य का आचार भी ।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥१९॥ (१०८)

(आचारः परमः धर्मः श्रुति-उक्तः स्मार्त एव च) वेद में बताया हुआ और स्मृति में बताया हुआ सदाचार परम धर्म है । (तस्मात्) इसलिये (अस्मिन् सदा युक्तः नित्यं स्यात्) इसमें सदा तत्पर रहे (आत्मवान् द्विजः) आत्म ज्ञानी द्विज ।

१०७, ऽखिलः प्रोक्ता गुण दोषौच कर्मिणाम् (रा)

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥२०(१०९)

(आचारात् विच्युतः विप्रः) आचार से गिरा हुआ विद्वान् (न वेदफलम् अश्नुते) वेद के फल को नहीं पाता। (आचारेण तु संयुक्तः) और सदाचार से युक्त (सम्पूर्ण फलभाक् भवेत्) सब फल का भागी होता है।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥२०(११०)

(एवम्) इस प्रकार (आचारतः) आचार की अपेक्षा से (दृष्ट्वा) देखकर (धर्मस्य) धर्म के (मुनयः) मुनि लोगों ने (गतिम्) गति को (सर्वस्य तपसः) सब तप के (मूलम् आचारम्) मूल आचार को (जगृहुः) ग्रहण किया (परम्) बड़े को।

इस प्रकार मुनियों ने धर्म की गति को सदाचार की अपेक्षा से देखकर सब तप के मूल सदाचार का ग्रहण किया।

---

१०९ संपूर्ण फल भाक्स्मृतः (गो, न कु,)
संपूर्ण फल भाग्भवेत् (मे, रा, J-H, L, B, Bu)

दूसरा अध्याय

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥१ (१)

(विद्वद्भिः) विद्वानों से (सेवितः) पालन किया हुआ (सद्भिः) सत् पुरुषों से (नित्यम्) सदा (अद्वेषरागिभिः) राग द्वेष रहित (हृदयेन) हृदय से (अभि-अनुज्ञातः) जाना हुआ (यः धर्मः) जो धर्म है (तं निबोधत) उसको जानिये।

जिस धर्म का पालन सदा विद्वान्, राग-द्वेष दोषों से मुक्त सत्पुरुष समझबूझ कर किया करते हैं उस धर्म को आप सुनिये।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥२ (२)

(कामात्मता न प्रशस्ता) इच्छाओं का बहुत होना अच्छा नहीं, (न च एव इह अस्ति अकामता) और न सर्वथा इच्छा-शून्य होना ही अच्छा है। (काम्यः हि वेद-अधिगमः, कर्मयोगः च वैदिकः) वेदों का पढ़ना तथा वेद के अनुकूल आचरण करना इच्छा के द्वारा ही होता है। इच्छाओं का लोलुप न हो। परन्तु पत्थर की भांति इच्छा-शून्य भी न हो! अन्यथा धर्म कैसे करेगा ?

---

२ न चैवेहास्त्यकामतः (न)

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥३(३)

(संकल्प मूलः कामः वै) इच्छा ही संकल्प की जड़ है। जब इच्छा होगी तो मनुष्य संकल्प करेगा। (यज्ञाः संकल्प-संभवाः) संकल्प से यज्ञ उत्पन्न होते हैं। (वृतानि यमधर्माः च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः) वृत, नियम तथा धर्म सब संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं।

अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४ (४)

(अकामस्य) इच्छा शून्य मनुष्य की (क्रिया काचिद्) कोई क्रिया भी (दृश्यते न इह कर्हिचित्) इस संसार में कभी नहीं देखी जाती है। (यद् यद् हि कुरुते किंचित्) जो कुछ कर्म करता है (तत् तत् कामस्य चेष्टितम्) इच्छा की ही चेष्टा द्वारा होता है। इच्छा शून्य मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। मनुष्य जो कुछ करता है सदा इच्छा से ही प्रेरित होकर करता है।

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथासंकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥५ (५)

(तेषु सम्यक् वर्तमानः) शुभ कर्मों में ठीक रीति से लगा हुआ (गच्छति अमर लोकताम्) मुक्ति को प्राप्त होता है। (यथा संकल्पितान् च इह सर्वान् कामान् सम्-अश्नुते) जैसे जैसे संकल्प करता है यहां वैसी वैसी सब कामनाओं को सिद्ध करता है।

---

५ यथासंकल्पितांश्चेह (गो, रा, कु, न)
यथासंकल्पितांश्चैव (मे)

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ (६)

(वेदः अखिलः धर्ममूलम्) वेद सब धर्मों का मूल है । (स्मृति-शीले च तद्-विदाम्) और वेद के जानने वाले लोगों की स्मृति तथा शील भी धर्म के मूल हैं । (आचारः च एव साधूनाम्) सत्पुरुषों का सदाचार भी धर्म का मूल है (आत्मनः तुष्टिः एव च) और अन्तरात्मा का संतोष भी धर्म का मूल है ।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ (७)

(यः कश्चित् कस्यचित् धर्मः) जो कोई और जिस किसी का धर्म (मनुना परिकीर्तितः) मनु जी ने बताया है (स सर्वः अभिहितः वेदे) वह सब वेद में कहा है । (सर्वज्ञानमयः हि सः) वह मनु सब ज्ञान वाला है ।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥८ (८)

(सर्वं तु समवेक्ष्य इदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा) ज्ञान की आंख से इस सब को देख कर (श्रुति प्रामाण्यतः) वेद के प्रमाण से (विद्वान्) विद्वान् (स्वधर्मे निविशेत वै) अपने धर्म में प्रवेश करे ।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥९ (९)

---

८. सर्वेच

(श्रुति-स्मृति-उदितं धर्मम् अनुतिष्ठन् हि) श्रुति और स्मृति में कहे धर्म का अनुष्ठान करके ही (मानवः) मनुष्य (इह) इस संसार में (कीर्तिम् अव-आप्नोति) कीर्ति को पाता है। (प्रेत्य च) और मर कर (अन्-उत्तमं सुखम्) अपूर्व सुख को, ऐसे सुख को जिससे उत्तम कोई सुख है ही नहीं, अर्थात् मोक्ष को।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

१० (१०)

(श्रुतिः तु वेदः विज्ञेयः) वेद को श्रुति जानिये। (धर्म-शास्त्रं तु वै स्मृतिः) और धर्मशास्त्र को स्मृति। (ते सर्व-अर्थेषु अमीमांस्ये) यह दोनों, वेद और स्मृति, सब बातों में संदेह रहित अर्थात् निश्चित हैं। (ताभ्यां) इन दोनों से ही (धर्मः हि निर्बभौ) धर्म का प्रकाश होता है।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

११ (११)

(यः) जो (अवमन्येत) अपमान करे (ते मूले) इन दो धर्म के मूलों अर्थात् वेद और स्मृति का (हेतु शास्त्र-आश्रयात्) तर्क के आश्रय से (द्विजः) ब्राह्मण (स) वह (साधुभिः) साधुओं द्वारा (बहिष्कार्यः) निकाला जाना चाहिये। (नास्तिकः वेदनिन्दकः) नास्तिक वेद का निन्दक।

अर्थात् जो पुरुष कुतर्क से वेद और स्मृति की निन्दा करे उस वेद के निन्दक नास्तिक का भले आदमी बहिष्कार कर दें।

---

११ ते तूभे (मे, गो, न, रा, J);
तदुभयं (स) ते मूले (J-H, B, L, Bu)

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१२(१२)

(वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियम् आत्मनः) वेद, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा का प्रिय, (एतत् चतुर्विधम्) इस चार प्रकार का (प्राहुः) कहते हैं (साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्) धर्म का साक्षात् लक्षण । धर्म की चार पहचानें हैं (१) वेद (२) स्मृति (३) सत्पुरुषों का आचरण और (४) जो अपने आत्मा को प्रिय हो, जैसा कि सत्य भाषण ।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३(१३)

(अर्थकामेष्वसक्तानाम्) जो लोग लोभ और काम में फंसे हुये नहीं हैं उन्हीं को (धर्मज्ञानं विधीयते) धर्मज्ञान का बोध होता है । (धर्मजिज्ञासमानानाम्) धर्म जानने की इच्छा करने वालों के लिये (प्रमाणं परमम्) परम प्रमाण (श्रुतिः) वेद है ।

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥
१४ (१४)

(श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्) जहां श्रुति या वेद में दो भिन्न २ बातें मिलें (तत्र धर्मौ उभौ स्मृतौ) वहाँ स्मृतिकार ने दोनों को धर्म माना है । (उभौ अपि हि तौ धर्मौ सम्यक्-उक्तौ मनीषिभिः) विद्वानों ने उन दोनों को ही ठीक ठीक धर्म माना है ।

---

१३ प्रामाण्यं (मे); प्रमाणं (अन्य)

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१५ (१५)

(उदिते अनुदिते च एव) सूर्य्य के उदय होने पर, सूर्य्य के उदय न होने पर (समय-अधि-उषिते तथा) और ऐसे समय में जब सूर्य्य और नक्षत्र न हों (सर्वथा) सब प्रकार से (वर्त्तते यज्ञः) यज्ञ होता है। (इति इमं वैदिकी श्रुतिः) ऐसी वेद की श्रुति है।

अर्थात् वेद में कहा है कि सूर्य्य निकलने पर यज्ञ करो। यह भी लिखा कि सूर्य्य डूबने पर करो। यह विरुद्ध तो हैं परन्तु दोनों ठीक हैं।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥
१६ (१६)

(निषेक-आदि- श्मशानान्तः) गर्भाधान से लेकर शरीरान्त संस्कार तक (मंत्रैः) वेद मंत्रों से (यस्य उदितः विधिः) जिसका संस्कार कहा गया है। (तस्य) उसका (शास्त्रेऽधिकारः अस्मिन् ज्ञेयः) उसका इस शास्त्र में अधिकार जानना चाहिये (न अन्यस्य कस्यचित्) किसी दूसरे का नहीं।

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ (१७)

(सरस्वती—दृषद्वत्योः देवनद्योः) सरस्वती और दृषद्वती नामी दो देव-नदियों के (यत् अन्तरम्) जो बीच में है। (तं

१७ ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते (J); ब्रह्मावर्तं विदुर्बुधाः

देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते) उस देवों द्वारा बनाये हुये देश को ब्रह्मावर्त कहते हैं।

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥१८(१८)

(तस्मिन् देशे) उस देश में (य आचारः) जो आचार (पारम्पर्य क्रमागतः) सिलसिले से पीढ़ी दर पीढ़ी चला आता है। (वर्णानां स + अन्तरालानाम्) वर्गों का और बीच के लोगों का (अर्थात् जिनका वर्ण निश्चित नहीं है) (स सदाचार उच्यते) उसको सदाचार कहते हैं।

अर्थात् ब्रह्मावर्त देश के लोगों का आचार दूसरे लोगों के लिये माननीय है।

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥१९ (१९)

(कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पंचालाः शूरसेनकाः एष ब्रह्मर्षि देशः) कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल, शूरसेनक यह ब्रह्मर्षिदेश कहलाता है। (वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः) यह ब्रह्मावर्त से मिला हुआ है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥२०(२०)

(एतद् देशप्रसूतस्य) इस देश में उत्पन्न हुये, (सकाशात्) से (अग्रजन्मनः) बुज़ुर्गों की (स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्) अपने अपने चरित्र को सीखें। (पृथिव्याम्) पृथिवी में (सर्व-मानवः) सब मनुष्य।

---

१९ पञ्चालाः (गो, कु); पाञ्चालाः (रा, न)। एवं ब्रह्मर्षिदेशोऽयं ब्रह्मावर्तादनन्तरम् (रा)

मनु का आदेश है कि ब्रह्मर्षि देश के रहने वाले पूर्वजों से ही भूमण्डल के अन्य देशों के लोग सदाचार सीखें। क्योंकि यह लोग सदाचार में प्रमाण हैं।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥२१ (२१)

(हिमवत् + विन्ध्योः) हिमालय और विंध्याचल के (मध्यं) बीच में (यत्) जो (प्राक् + विनशनात् + अपि) जो सरस्वती से पूर्व में (प्रत्यक् एव प्रयागात् च) और प्रयाग के पश्चिम में है वही (मध्यदेशः प्रकीर्तितः) मध्य देश माना गया है।

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥२२(२२)

(आसमुद्रात् वै पूर्वात्) समुद्र तक पूर्व की ओर (आसमुद्रात् तु पश्चिमात्) और समुद्र तक पश्चिम की ओर (तयोः एव अन्तरं गिर्योः) दोनों पर्वतों के बीच में (आर्यावर्तं विदुः बुधः) आर्य्यवर्त जानते हैं बुद्धिमान लोग।

अर्थात् आर्य्यावर्त उस देश को कहते हैं जो दो पहाड़ों के बीच में समुद्र से समुद्र तक फैला हुआ है।

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥२३(२३)

---

२१ मध्यं (मे, न, कु); मध्ये (गो, रा)। सकीर्तितः (गो)

२२ समुद्राच्च (मे, गो, रा); समुद्रात्तु (न)। आर्यावर्तं प्रचक्षते (काश्मीरीय)

२३ यज्ञियो (J); याज्ञिको (रा)

(कृष्णसारः तु चरति मृगः यत्र स्वभावतः) जहाँ काला मृग स्वभावतः विचरता है (स ज्ञेयः यज्ञियः देशः) वह देश यज्ञ देश समझना चाहिये। (म्लेच्छ देशः तु अतः परः) म्लेच्छ-देश इसके परे हैं।

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः॥२४(२४)॥

(एतान्) इन (द्विजातयः) द्विज लोग (देशान्) देशों का (संश्रयेरन्) आश्रय लें (प्रयत्नतः) प्रयत्न करके। (शूद्रः तु) और शूद्र (यस्मिन् कस्मिन् वा) जहाँ कहीं (निवसेद्) वसे (वृत्तिकर्शितः) जीविका के वश।

अर्थात् द्विज लोगों को यत्न करके आर्य्यावर्त देश में ही वसना चाहिये। शूद्र लोग जीविका के वश हो कर कहीं रह सकते हैं।

यहाँ विद्वानों से अपील की गई है कि वह आर्य्यावर्त में विशेष रूप से रहें जिससे यह देश विद्या के लिये प्रसिद्ध हो जाय। इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ से वाहर जाने वालों को पाप लगता है।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत॥ २५ (२५)

(एषा) यह (धर्मस्य) धर्म की (वः) आप से (योनि) योनि या निकास (समासेन) संक्षेप से (प्रकीर्तिता) कहा

---

२४ कस्मिन्वा (J) कस्मिंश्चित् (रा, न)

२५ प्रकीर्तिता (J); प्रकीर्तितः (काश्मीरीय)। सर्वस्य के स्थान में धर्मस्य (रा)। सर्वधर्मान् (गो); वर्ण धर्मान् (अन्य)

गया (संभवः च) और उत्पत्ति (अस्य सर्वस्य) इस सब जगत् की (वर्णधर्मान्) वर्ण धर्मों को (निबोधत) आप जानिये ।

अर्थात् यहाँ संक्षेप से इस सब जगत् की तथा धर्म की उत्पत्ति का वर्णन कर दिया । किस किस वर्ण के क्या धर्म हैं यह आप लोग जानिये ।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥२६(२६)

(वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैः) वेदानुकूल पुण्य विधि से (निषेक आदिः) गर्भाधान आदि (द्विजन्मनाम्) द्विजों का (कार्य्यः) करना चाहिये (शरीर संस्कारः) शरीर संस्कार (पावनः) पवित्र करने वाला (प्रेत्य च) मरने के पीछे और (इह च) इस लोक में भी ।

द्विजों के वेदानुकूल गर्भाधान आदि सब संस्कार करने चाहिये । यह संस्कार इस लोक में और परलोक में भी पवित्र करने वाले होते हैं ।

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥२७(२७)

(गार्भैः होमैः) गर्भाधान संस्कार सम्वन्धी होमों से (जातकर्म, चौड मौञ्जीनिबंधनैः) जातकर्म, चूड़ाकर्म, मौंजी-बन्धन संस्कारों से (बैजिकम्) बीज सम्वन्धी (गार्भिकंच) तथा गर्भ सम्वन्धी (एनः) पाप (द्विजानाम्) द्विजों का (अपमृज्यते) धुल जाता है ।

द्विजों के वीर्य सम्बन्धी तथा गर्भ सम्बन्धी पाप गर्भाधान, जातकर्म, चूडाकर्म तथा यज्ञोपवीत संस्कारों द्वारा धुल जाते हैं।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२८(२८)

(स्वाध्यायेन) स्वाध्याय अर्थात् शास्त्रों के पढ़ने से (व्रतैः) व्रतों से (होमैः) होमों से (त्रैविद्येन) ऋक्—यजु—साम रूपी त्रैविद्या से (इज्यया) यज्ञ से (सुतैः) सन्तान उत्पत्ति के विषय में विधि-अनुकूल आचरण से (महायज्ञैः) पंच महायज्ञों से (यज्ञैः च) और पाक्षिक आदि यज्ञों से (ब्राह्मी-इयं-क्रियते तनुः) यह शरीर ब्राह्मण का हो जाता है।

अर्थात् जो यज्ञ आदि उत्तम कर्म करेगा वह ब्राह्मण कहलायेगा।

प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥२९(२९)

(प्राक्-नाभिवर्धनात्) नाल छेदने से पहिले (पुंसः) पुरुष का (जातकर्म विधीयते) जातकर्म संस्कार हो। (मंत्र-वत् प्राशनं च अस्य) और मंत्र के अनुकूल चटावे (हिरण्य-मधु-सर्पिषाम्) सोने की शलाका से शहद और घी।

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥३०(३०)

---

३० दशम्यां तु (J); दशम्यांच (गो)। पुण्येऽहनि (रा)

(नामधेयम्) और नामकरण (दशम्यां तु द्वादश्यां वा अस्य कारयेत्) इसके दसवें या बारहवें दिन करे। (पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते) अच्छी तिथि शुभ मुहूर्त या अच्छे नक्षत्र में।

मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥३१(३१)

(मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्) ब्राह्मण का नाम मंगलमय हो (क्षत्रियस्य बलान्वितम्) क्षत्रिय का बल-सूचक। (वैश्यस्य धन संयुक्तम्) वैश्य का धन सूचक, (शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्) शूद्र का सेवा सूचक।

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥३२(३२)

(शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्यात्) ब्राह्मण का शर्मा युक्त नाम हो (राज्ञो रक्षा समन्वितम्) क्षत्रिय का रक्षा सूचक (वैश्यस्य पुष्टि संयुक्तं) वैश्य का सम्पत्ति सूचक (शूद्रस्य प्रेष्य संयुक्तम्) शूद्र का सेवा शब्द सूचक।

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥३३(३३)

(स्त्रीणां सुखोद्यम् अक्रूरम् विस्पष्ट-अर्थम्, मनोहरम्, मंगल्यम् दीर्घवर्णान्तम्, आशीर्वाद-अभिधानवत्) स्त्रियों का नाम ऐसा

---

३१ वैश्यस्य धन संयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्

३२ वैश्यस्य धन संयुक्तं

३३ मनोरमम् (मनोहरम् के स्थानमें)

हो सुख से बोला जाने वाला, कठोर न हो, अर्थ स्पष्ट हो, मनोहर, शुभ, अन्त का अक्षर दीर्घ हो, आशीर्वाद सूचक हो।

इससे प्रकट होता है कि स्त्रियों का विशेष मान होता था।

चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले ॥३४(३४)

(चतुर्थे मासे कर्त्तव्यं शिशोः निष्क्रमणं गृहात्) चौथे मास में बच्चे को घर से बाहर निकाले। (षष्ठे अन्नप्राशनं मासि) छठे महीने में अन्नप्राशन (यद् वा इष्टं मङ्गलं कुले) या कुल में जैसा शुभ समझा जाता हो।

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीयेवा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥३५(३५)

(चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषां एव धर्मतः) सब द्विजों का धर्मानुकूल चूडाकर्म (प्रथमे अब्दे) पहले साल में (तृतीये वा) या तीसरे में (कर्त्तव्यम्) करना चाहिये (श्रुतिचोदनात्) वेद-वचन के अनुकूल।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥३६(३६)

(गर्भाष्टमे अब्दे) गर्भ के आठवें वर्ष में (कुर्वीत) करे (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण का (उपनायनम्) जनेऊ। (गर्भात् एकादशे राज्ञः) गर्भ से ग्यारहवें साल में क्षत्रिय का। (गर्भात् तु द्वादशे विशः) वैश्य का गर्भ से बारहवें वर्ष में।

---

३४ चतुर्थे मासि (मे, गो, रा, कु); मासे चतुर्थे या चतुर्थे मासे (न)। यद्वेष्टं (गो); यद्वेष्टं (J)

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥३७(३७)

(ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे) ब्रह्म तेज चाहने वाले ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में जनेऊ करे। (राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे) बल चाहने वाले क्षत्रिय का छठे में, (वैश्यस्य इह आर्थिनः अष्टमे) धन चाहने वाले वैश्य का आठवें साल में।

आषोडशाद्‌ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोरा चतुर्विंशतेर्विशः ॥३८ (३८)

(आ-षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री न अति वर्तते) सोलह वर्ष से आगे ब्राह्मण का गायत्री मंत्र अर्थात् जनेऊ संस्कार न टलना चाहिये। (आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोः) बाईस वर्ष के आगे क्षत्रिय का। (आ चतुर्विंशतेः विशः) चौबीस साल से आगे वैश्य का।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९
(३९)

(अतः ऊर्ध्वम्) इससे आगे (त्रयः अपि एते) यह तीनों ही (यथाकालम्) समय बीतने पर (असंस्कृताः) यदि जनेऊ संस्कार के बिना रह जांय तो वे (सावित्री-पतिता) गायत्री मंत्र के अधिकार से पतित (व्रात्या) दोषी (भवन्ति) हो जाते हैं। (आर्य्यविगर्हिताः) आर्य्यों में उनका आदर नहीं होता।

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥४०
(४०)

(न) न (एतैः अपूतैः विधिवत्) बिना विधि अनुसार प्रायश्चित्त किये इन लोगों के साथ (आपदि अपि हि) आपत्काल में भी (कर्हिचित्) कभी (ब्राह्मान् यौनान् च सम्बधान्) विद्या या योनि अर्थात् विवाह के सम्बन्धों को (न आचरेत् ब्राह्मणः) न करें ब्राह्मण ।

ब्राह्मण को चाहिये कि आपत् काल में भी ऊपर दिये हुये पतितों के साथ विद्या अथवा विवाह का सम्बन्ध न करे । जब तक वे विधि-अनुकुल प्रायश्चित न कर लें ।

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ४१(५०)

(मातरं वा, स्वसारं वा मातुः, वा भगिनीं निजाम्) मां से मां की बहन से या अपनी बहन से (भिक्षेत भिक्षां प्रथमम्) पहले भीख मांगे, (या च-एनं न-अवमानयेत्) और उससे जो उसका अनादर न करे ।

नोट—यह श्लोक उपनयन संस्कार के समय के लिये ही है। साधारण समय में तो रिश्तेदारों से मांगने का निषेध है ।

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥४२(५१)

---

४० राघव और नन्दनकी कुछ लिपियों में हैं, और कुछमें नहीं ।
संबंधान्न (L); संबंधानाचरेद् (मे, गो); संबंधान्ना०

(सम + आहृत्य तु) लाकर (तद् भैक्षम्) उस भिक्षा को (यावत् + अर्थम्) भूख के अनुसार (अमायया) निष्कपट होकर (निवेद्य गुरवे) गुरु से निवेदन करके (अश्नीयात्) खावे। (आचम्य) आचमन करके (प्राग्-मुखः) पूर्व की ओर मुँह करके (शुचिः) शुद्ध।

ब्रह्मचारी को चाहिये कि जब भीख ले आवे तो गुरु से आज्ञा मांग कर निष्कपट होकर आचमन करके और शुद्ध हो कर जितनी भूख हो उतना भोजन करे।

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥४३
(५३)

(उपस्पृश्य) जल से इन्द्रिय-स्पर्श करके (द्विजः) ब्राह्मण (नित्यम्) सदा (अन्नम् अद्यात्) अन्न खावे (समाहितः) विधि अनुकूल। (भुक्त्वा च) और खाकर (उपस्पृशेत् सम्यक्) अच्छी तरह आचमन करे (अद्भिः) जल से, (खानि) इंद्रियों को (च) और (संस्पृशेत्) छुये। अर्थात् भोजन के पहिले और पीछे दोनों बार मुँह की शुद्धि करनी चाहिये।

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥४४ (५४)

(पूजयेत्) शुद्ध करे (अशनम्) भोजन को (नित्यम्) नित्य। (अद्यात् च) और खावे (एनम्) इसको (अकुत्सयन्) बिना निन्दा के। (दृष्ट्वा) अन्न को देखकर (हृष्येत्) हर्ष करे (प्रसीदेत् च) और प्रसन्न होवे (प्रतिनन्देत् च सर्वशः) पूरा आनन्द मनावे।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ४५(५५)

(पूजितं हि) शुद्ध किया हुआ ही (अशनम्) भोजन (नित्यम्) सदा (बलम्) बल को (ऊर्जं च) और तेज को (यच्छति) देता है । (अपूजितं तु) और न शुद्ध किया हुआ (तद् भुक्तम्) खाया हुआ भोजन (उभयम्) बल और तेज दोनों को (नाशयेत्) नष्ट कर देता है (इदम्) यह ।

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥४६(५६)

(न उच्छिष्टं कस्यचित् दद्यात्) किसी का जूठान देवे । (न अद्यात् च एव तथान्तरा) और भोजन के बीच में भी भोजन न खावे । अर्थात् ठहर ठहर कर न खावे । (न च एव अधि-अशनं कुर्यात्) न अधिक भोजन करे (न च उच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत) न झूंठे मुँह कहीं जावे ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥४७(५७)

(अन् + आरोग्यम्, अन् + आयुष्यम्, अस्वर्ग्यं च अति भोजनम्) अधिक भोजन स्वास्थ्य को नहीं देता, न आयु को बढ़ाता है, न सुख को देता है । (अपुण्यम्) यह बुरा है, (लोक-विद्विष्ट)

---

५५ तद्भुक्त (J); यद्भुक्तम्
नाशयेदिदम् (J); नाशयेदिति (गो)
५६ नाद्यादेतत्तथान्तरा (मे); नाद्याच्चैतदथान्तरा;
नाद्याच्चैवतथान्तरा (गो)

संसार की भलाई के लिये भी नहीं है। (तस्मत् तत् परिवर्जयेत्) इस लिये उसे त्याग देना चाहिये।

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च॥४८(६०)

(त्रिः) तीन बार (आचामेत्) आचमन करे (अपः) जल से (पूर्वम्) पहले, (द्विः) दो बार (प्रमृज्यात्) मार्जन करे (तत्) तब (मुखम्) मुख का। (खानि च एव) और इन्द्रियों का (स्पृशेत् अद्भिः) जल से स्पर्श करे। (आत्मानम्) हृदय को (शिर एव च) और शिर को।

पहले तीन बार आचमन करे फिर दो बार मुँह धोवे और फिर इन्द्रियों, हृदय तथा शिर का स्पर्श करे।

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत्॥४९(६४)

(मेखलाम्) मेखला को (अजिनम्) मृगछाला को (दण्डम्) डंडे को (उपवीतं) जनेऊ (कमंडलुम्) कमंडलु को (अप्सु) जल में (प्रास्य) फेंक कर (विनष्टानि) टूटे हुओं को (गृह्णीत) ग्रहण करे (अन्यानि) अन्यों को (मंत्रवत्) विधि अनुसार।

यदि किसी द्विज की मेखला, मृगछाला, डंडा, जनेऊ कमण्डल आदि टूट जायं तो उनको जल में फेंक दें और मंत्र पढ़कर विधि के अनुसार अन्यों को ग्रहण करे।

---

६० खानिचैव स्पृशेद् (J); खानिचोप स्पृशेद् (गो)

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥५०(६५)

(केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते) ब्राह्मण का केशान्त संस्कार सोलहवें वर्ष करे । (राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे) क्षत्रिय का बाइसवें वर्ष (वैश्यस्य द्वि-अधिके ततः) और वैश्य का दो अधिक अर्थात् चौबीसवें वर्ष में ।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं चसंध्योपासनमेव च ॥ ५१(६९)

(उपनीय) उपनयन कराके (गुरुः शिष्यं शिक्षयेत्) गुरु शिष्य को शिक्षा दे (शौचम्) शुद्धि की (आदितः) आरंभ से (आचारम्) सदाचार की, (अग्निकार्यं च) हवन आदि की (संध्या + उपासनं च) और संध्या तथा उपासना की ।

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥५२ (७०)

(अध्येष्यमाणः तु) और पढ़ने की इच्छा करने वाला ब्रह्मचारी (आचान्तः) आचमन करके (यथाशास्त्रं) शास्त्र के अनुकूल (उदङ् मुखः) उत्तर की ओर मुंह करके (ब्रह्माञ्जलिकृतः) हाथ जोड़कर (अध्याप्यः) पढ़ाया जाना चाहिये (लघुवासां) हलके कपड़े पहने हुये (जितेन्द्रियः) और इन्द्रियों को वश में करके ।

अर्थात् ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपनी इन्द्रियों को वश में रक्खे हलका वस्त्र पहिने और गुरु का आदर करे ।

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥५३
(७१)

(ब्रह्मारंभे, अवसाने च) विद्या पढ़ने के आरंभ और अन्त में (पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा) गुरु के पैर सदा छूना चाहिये। (संहत्य हस्तौ अध्येयम्) दोनों हाथ जोड़कर अर्थात् अदब से बैठकर पढ़ना चाहिये। (सहि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः) इसी हाथ जोड़ने का नाम ब्रह्मांजलि है।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥५४
(७२)

(व्यत्यस्त पाणिना कार्यम् उपसंग्रहणं गुरोः) गुरु के पैर अलग अलग हाथ करके छुये। (सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यः) बायें से बायां छुये। (दक्षिणेन च दक्षिणः) और दाहिने हाथ से दाहिना पैर।

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत्॥५५
(७३)

(अध्येष्यमाणं तु) विद्यार्थी को (गुरुः) गुरु (नित्यकालम्) सदा (अतन्द्रितः) बिना आलस के, (अधीष्व भो इति

---

७२ व्यत्यस्त पाणिना (J); विन्यस्त पाणिना (मे)
तु दक्षिणः (मे, गो, रा, न); च दक्षिणः
७३ अध्येष्यमाणं तु गुरुर् (मे, गो, कु)
अध्येष्य मायास्तु गुरु (न)

ब्रूयात्) 'अजी पढ़ो' ऐसा कहे। (विरामः अस्तु इति च आरमेत) 'अब बस करो' ऐसा कहकर बन्द करे।

ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ५६(७४)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (प्रणवं कुर्यात्) ओ३म् का नाम ले (आदौ अन्ते च सर्वदा) हमेशा आरंभ में और अन्त में। (स्रवति अन् + ओ३म् + कृतम्) बिना ओ३म् कहे पढ़ा हुआ कम होने लगता है (पूर्वं पुरस्तात् च) पहले और पीछे (विशीर्यति) नष्ट हो जाता है।

अर्थात् जो पढ़ने के पहले और पीछे ओ३म् नहीं कहता उसका पढ़ा हुआ यथोचित फल नहीं देता।

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥५७ (७५)

(प्राक्) पहले (कूलान्) दर्भ के आसनों पर (परि-उप-आसीनः) बैठा हुआ (पवित्रैः च एव पावितः) कुश के पवित्रों से पवित्र किया हुआ (प्राणायामैः त्रिभिः) तीन प्राणयामों द्वारा (पूतः) पवित्र किया हुआ (ततः ओंकारम् अर्हति) तब ओङ्कार जपने के योग्य है।

---

७४ ब्रह्मणः (J) ब्राह्मणः
सर्वदा (J) सर्वतः (रा)
विशीर्यते (J) विशीर्यति
७५ प्राक्कूलान् (मे, गो, न); प्राक्चूलान् (मे)

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीति च ॥५८(७६)

(अकारम्) अकार को, (च अपि उकारं च) और उकार को (मकारं च) और मकार को (प्रजापतिः) प्रजापति ने (वेदत्रयात्) तीन वेदों से (निः दुहत्) दूहा। (भूः भुवः स्वः च) और भूः भुवः, स्वः, इन तीन व्याहृतियों को। ओ३म् में तीन अक्षर हैं अकार, मकार, और उकार। व्याहृतियां तीन हैं भूः, भुवः, स्वः।

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः । ५९
(७७)

(त्रिभ्यः एव तु वेदेभ्यः) तीन वेदों से (पादं पादम् अदूदुहत्) एक एक पाद दूहा (तत् इति ऋचः अस्याः सावित्र्याः) 'तत्' शब्द से आरम्भ होने वाले इस गायत्री मंत्र का (परमेष्ठी प्रजापतिः) परमेष्ठी प्रजापति ने।

गायत्री मंत्र का पहला पद 'तत्' है और इसमें तीन पाद हैं:—

(१) तत् सवितुर्वरेण्यम्।
(२) भर्गो देवस्य धीमहि।
(३) धियोयोनः प्रचोदयात्।

इस मन्त्र का ऋषि है परमेष्ठी प्रजाप्रति।

---

७६ निरवृहद् (ये, गो); निरदुहद् (कु, रा); निरबृंहद् (स); निरवहद् (न)

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ६० (७८)

(एतद् अक्षरम्) इस ओंकार अक्षर को (एतां च जपन् व्याहृति पूर्विकाम्) और भूः भुवः स्वः इन व्याहृतियों से आरंभ होने वाली गायत्री को (संध्ययोः) प्रातः और सायं (वेदवित्) वेद का जानने वाला (विप्रः) ब्राह्मण: (वेद पुण्येन) वेद के पुण्य को (युज्यते) प्राप्त होता है ।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ६१ ॥
(७६)

(सहस्र कृत्वः तु) हजार बार (अभ्यस्य) जपकर (बहिः) बाहर (एतत् त्रिकम्) प्रणव (ओ३म्) व्याहृति (भूर्भुवः स्वः) तथा गायत्री (द्विजः) द्विज, (महतः अपि एनसः) महापाप से भी (मासात्) मास भर (त्वचा इव अहिः) जैसे साँप केंचुल से (विमुच्यते) छूट जाता है ।

महीने भर ग्राम के बाहर सहस्रवार प्रणव, व्याहृतियों और गायत्री जपने से द्विज महापाप से भी ऐसे छूट जाता है जैसे साँप केंचुल से । इसका तात्पर्य यह कि जो पुरुष सच्चे मन से इन का अभ्यता करेगा उसके पाप के संस्कार नष्ट हो जाँयगे ।

एतयार्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ६२(८०)

---

८० अहर्यांयाति (स); गर्हणीयो हि साधुषु (रा)

(एतया ऋचा) इस मन्त्र से (विसंयुक्तः) छूटा हुआ (काले च क्रियया स्वया) और समय पर अपनी क्रिया अर्थात् संध्या आदि से (ब्रह्म क्षत्रिय विट् योनिः) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के घर में उत्पन्न हुआ (गर्हणाम्) निन्दा को (याति) प्राप्त होता है (साधुषु) भले पुरुषों में। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कुलोत्पन्न ठीक समय पर सन्ध्या आदि धार्मिक कृत्य या गायत्री का जप नहीं करता उसकी भले आदमियों में निन्दा होती है।

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ६३
(८१)

(ओङ्कार पूर्विकाः) ओ३म् से आरम्भ होने वाली (तिस्रः) तीन (महाव्याहृतयः) महाव्याहृतियाँ या महावचन (अव्ययाः) जो अव्यय हैं अर्थात् ओंभूः ओं भुवः ओं स्वः (त्रिपदा च एव सावित्री) और तीन पद वाली गायत्री (विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्) वेद का मुख जानना चाहिये।

अर्थात् ओ३म् तीन महाव्याहृतियां और गायत्री वेद में सब से मुख्य हैं।

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्मपरमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥६४(८२)

(यः अधीते) जो पढ़ता है (अहनि अहनि) प्रतिदिन (एतान्) इनको (त्रीणि वर्षाणि) तीन वर्ष (अतन्द्रितः)

---

८१ सावित्री के स्थानमें गायत्री (गो, रा, न)

बिना आलस्य के (स) वह (ब्रह्म परम् अभिएति) वह परब्रह्म को प्राप्त होता है (वायुभूतः) वायु के समान कार्य्यशील और (खमूर्तिमान्) आकाश के समान सब बन्धनों से मुक्त ।

अर्थात् जो मनुष्य तीन साल तक निरन्तर इन तीन अर्थात् ओ३म्, महाव्याहृति और गायत्री को जपता है वह कार्य्यशील और बन्धनों से मुक्त हो जाता है ।

एकाक्षरं परं ब्रह्मप्राणायामाः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥६५
(८३)

(एकाक्षरं परं ब्रह्म) एक ओ३म् का अक्षर ही सबसे बड़ा वेद है । (प्राणायामः परं तपः) प्राणायाम सबसे बड़ा तप है । (सावित्र्याः तु परं नास्ति) गायत्री से बढ़कर कुछ नहीं है (मौनात् सत्यं विशिष्यते) मौन से सत्य बढ़कर है ।

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्मचैव प्रजापतिः ॥६६ (८४)

(क्षरन्ति) नाशवान् हैं । (सर्वा) सब (वैदिक्यः) वेदानुकूल (जुहोति यजति क्रिया) यज्ञ, इष्टियां आदि । (अक्षरम्) नित्य रहने वाला (दुष्करं ज्ञेयम्) कठिनता से जानने योग्य (ब्रह्म च एव प्रजापतिः) प्रजापति ब्रह्म है ।

---

८४ त्वक्षरं ज्ञेयम् (मे, गो, स); न क्षयं ज्ञेयम् (न),
दुष्करं ज्ञेयम्, त्वक्षयं ज्ञेयम् (कु; रा)
ब्रह्म (मे, गो, कु) ब्रह्मा (म, न);

यज्ञ आदि वैदिक क्रियाओं का फल सांसारिक होने से नाशवान हैं। ब्रह्मज्ञान कठिन है परन्तु नाशवान नहीं।

नोट —यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना वैदिक नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म-ज्ञान तथा यज्ञ दोनों ही वैदिक हैं परन्तु ब्रह्मज्ञान निश्रेयस् है और यज्ञ अभ्युदय। यज्ञ का फल सांसारिक होने के कारण नित्य नहीं है।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥८७

(८५)

(विधि यज्ञात् जप यज्ञः विशिष्टः दशभिः गुणैः) हवन आदि यज्ञों से जप करना दस गुना अच्छा है। (उपांशुः स्यात् शतगुणः) बिना शब्द निकाले धीरे धीरे कहना सौ गुना, और (साहस्रः मानसः स्मृतः) और मन में जप करना हजार गुना।

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८८

(८६)

(ये पाकयज्ञाः चत्वारः विधियज्ञसमन्विताः) यह जो चार पाकयज्ञ विधियज्ञ में सम्मिलित हैं अर्थात् हवन, बलिवैश्वदेव यज्ञ, पितृयज्ञ और अतिथि यज्ञ (सर्वे ते जप यज्ञस्य कलां न अर्हन्ति षोडशीम्) यह सब जप के सोलहवें भाग के भी योग्य नहीं हैं। अर्थात् जप कला सबसे अच्छी है।

---

८९ सहस्रो (ये); साहस्रो (गो, कु); सहस्रं (मे)

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥६६(८७)

(जप्येन एव तु संसिद्ध् येत् ब्राह्मणः) ब्राह्मण की सिद्धि जप से ही हो जाती है (न अत्र संशयः) इसमें सन्देह नहीं। (कुर्यात् अन्यत् न वा कुर्यात्) अन्य यज्ञ आदि कर्म करे या न करे। (मैत्रः ब्राह्मण उच्यते) ब्राह्मण मैत्र कहलाता है।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ७०
(८८)

(इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (विचरताम्) विचरने वालियों के (विषयेषु) विषयों में (अपहारिषु) खींचने वालों में। (संयमे) संयम में (यत्नम् आतिष्ठेत्) यत्न करे (विद्वान्) विद्वान् (यन्ता इव) जैसे चलाने वाला (वाजिनाम्) घोड़ों का।

जैसे रथवान घोड़ों को संयम में रखने का यत्न करता है उसी प्रकार विद्वान् को चाहिये कि प्रलोभन-युक्त विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों को संयम में रखने का यत्न करे।

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥७१॥(८९)

---

८८ विचरतां (J); हिचरतां (रा)
८९ पूर्वे मनीषिणः (J); पूर्वे विचक्षणः
नासिकेति च (के) ; नासिकाचेति ।
हस्त पादौ (मे, रा, न); हस्तपादं (गो, कु)

(एकादश इन्द्रियाणि आहुः यानि पूर्वमनीषिणः) पुराने विद्वानों ने जिन ग्यारह इन्द्रियों का उल्लेख किया है (तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावत् अनुपूर्वशः) उनको ठीक ठीक क्रम से कहूँगा।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥७८॥ (९०)

(श्रोत्रम्) कान (त्वक्) खाल (चक्षुषी) आंखें (जिह्वा) जीभ (नासिका च एव पंचमी) और पांचवीं नाक। (पायु) गुदा (उपस्थम्) मूत्र स्थान (हस्त पादम्) हाथ, पैर (वाक् च एव दशमी स्मृता) और दसवीं वाणी अर्थात् बोलने की इन्द्रिय।

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ७९ ॥ (९१)

(बुद्धि-इन्द्रियाणि पंच एषां श्रोत्र-आदीनि अनुपूर्वशः) इनमें से क्रम-पूर्वक कान आदि पांच ज्ञान-इन्द्रिय हैं। (कर्म-इन्द्रियाणि पंच एषां पायु आदीनि प्रचक्षते) और इनमें गुदा आदि पांच को कर्म इन्द्रिय कहते हैं।

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥७४॥ (९२)

(एकादशं मनः ज्ञेयम्) ग्यारहवां मन समझना चाहिये। (स्वगुणेन उभय-आत्मकम्) अपने गुण से दोनों अर्थात्

---

९१ पञ्चैव (मे, गो, रा); पञ्चैषां

ज्ञान-इन्द्रियों और कर्म-इन्द्रियों को चलाने वाला (यस्मिन् जिते) जिसके जीतने पर (जितौ एतौ) यह दोनों पराजित (भवतः) हो जाते हैं (पंचकौ गणौ) दोनों पांच पांच के समूह।

मन ग्यारहवां है। यह ज्ञान-इन्द्रिय और कर्म इन्द्रिय दोनों को चलाता है और इसके जीतने पर यह इन्द्रियां भी जीती जाती हैं।

इन्द्रियाणाँ प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥७५॥
(६३)

(इन्द्रियाणां प्रसंगेन) इन्द्रियों में फंसने से (दोषम् ऋच्छति असंशयम्) निःसन्देह दोष को प्राप्त होता है। (सन्नियम्य तु तानि एव) और उन्हीं को संयम में रखने से (ततः) इससे (सिद्धिं नियच्छति) सिद्धि को पाता है।

अर्थात् इन्द्रियों के संयम से ही मनोरथ सिद्ध होता है। उनमें फंसने से नहीं।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥७६॥ (६४)

(न) नहीं (जातु) निश्चय करके (कामः) इच्छा (कामानाम् उपभोगेन) इच्छाओं के भोगने से (शाम्यति) शांत होती है। (हविषा) आहुति से (कृष्णवर्त्मा इव) अग्नि के समान (भूयः एव) और भी (अभिवर्धते) बढ़ती है।

जैसे आग में घी डालने से आग बढ़ती है बुझती नहीं इसी प्रकार इच्छाओं की जितनी पूर्ति होगी उतनी ही इच्छायें बढ़ेंगी। कम नहीं होंगी।

यश्चैनान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥७७॥
(९५)

(यः च एतान् प्राप्नुयात् सर्वान्) जो मनुष्य इन सब विषयों को भोगे (यः च एतान् केवलान् त्यजेत्) और जो इनको केवल छोड़ देवे। (प्रापणात् सर्व कामानाम्) सब विषयों के भोगने की अपेक्षा (परित्याग, विशिष्यते) विषयों का छोड़ना अच्छा है।

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥७८॥(९६)

(न तथा) न इस प्रकार (एतानि) यह इन्द्रियां (शक्यन्ते संनियन्तुम्) वश में लाई जा सकती हैं (असेवया) विना भोगे हुये। (विषयेषु प्रजुष्टानि) विषयों में फंसी हुई (यथा) जैसे (ज्ञानेन) ज्ञान से (नित्यशः) नित्य।

तात्पर्य यह है कि यदि इन्द्रियां विषयों में फंसी हुई हैं तो विना भोग के भी उनको संयम में नहीं ला सकते। ठीक ठीक ज्ञान से ही इनको संयम में लाया जा सकता है।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥७९॥
(९७)

---

९५ यश्चैतान् (J); यच्चैतान (न) विशिष्यते (J); विधीयते (रा)
९६ प्रदुष्टानि (मे, गो, स, न); प्रजुष्टानि प्रदुष्टानि (रा); प्रसक्तानि
९७ त्यागाश्च (मे, गो, रा); त्यागाश्च तपांसि नियमास्तथा (रा)

(वेदाः) वेद पढ़ना (त्यागश्च) और त्याग (यज्ञाः च) और यज्ञ (नियमाः च) और नियम (तपांसि च) और तप (न) नहीं (विप्रदुष्ट भावस्य) बुरी आदतों वाले के (सिद्धिं गच्छन्ति) सिद्धि को प्राप्त होते हैं। (कर्हि चित्) कभी।

अर्थात् यदि कोई दुष्ट है तो उसके वेदपाठ, त्याग, यज्ञ, नियम, तप आदि का कोई अच्छा फल नहीं निकलता।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥ ८० ॥ (९८)

(श्रुत्वा) सुनकर (स्पृष्ट्वा च) और छूकर (दृष्ट्वा च) और देखकर (भुक्त्वा) चखकर (घ्रात्वा च) और सूंघकर (यः नरः) जो आदमी (न हृष्यति ग्लायति वा) न प्रसन्न होता है न दुखी होता है (सविज्ञयः जितेद्रिन्यः) उसको जितेन्द्रिय समझना चाहिये।

जितेन्द्रिय मनुष्य वह है जो अपनी नाक कान आँख आदि ज्ञान इन्द्रियों से भले का अनुभव करके हर्ष न मनावे और बुरे का अनुभव करके ग्लानि न करे।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥८१॥(९९)

(इन्द्रियाणां तु सर्वेषाम्) सब इन्द्रियों में से (यदि एकं क्षरति इन्द्रियम्) यदि एक इन्द्रिय भी खराब हो जाती है

---

९९ ततोऽस्य (मे, गो); तेनास्य (रा, न) पादादि वोदकम् (मे, गो, स, रा) पात्रादि वोदकम् (कु);

अर्थात् विषय में फंस जाती है। तो (तेन अस्य क्षरति प्रज्ञा) तो उसकी बुद्धि भी खराब हो जाती है (दृतेः पात्रात् इव उदकम्) फूटे पात्र से जैसे जल।

जैसे फूटे पात्र में जल नहीं ठहरता उसी प्रकार यदि एक इन्द्रिय भी खराब हो तो मनुष्य की बुद्धि मारी जाती है। अर्थात् एक इन्द्रिय का आसक्त भी नष्ट हो जाता है।

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ ८० ॥

(१००)

(वशे कृत्वा इन्द्रिय-ग्रामम्) सब इन्द्रियों को वश में करके (संयम्य च मनः तथा) और मन का संयम करके (सर्वान् साधयेत् अर्थान्) सब कामनाओं की पूर्ति करे (अक्षिण्वन् योगतः तनुम्) योग से या तरकीब से शरीर को क्षीण न होने देकर।

अर्थात् जो पुरुष अपने शरीर को पुष्ट रख के मन और इन्द्रियों को वश में रखता है वही अपनी कामनाओं की सिद्धि कर सकता है।

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥८३॥

(१०१)

---

१०० वशे कृत्वे (मे, गो, कु); वशा कृत्वे (मे); वशी कृत्ये (रा) संनिवेश्य; संनियम्य (रा)

१०१ सदासीनः (मे);) समासीनः (मे, कु, रा, न) समासीत (स),

सम्यगृक्ष विभावनात् (गो, रा) सम्यार्थविभावनात (मे)

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठ न्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ ८४ ॥ (१०२)

(पूर्वां संध्यां जपन् तिष्ठन्) प्रातः काल की संध्या करने से (नैशम् एनः वि-अप-ऊहति) रात का पाप दूर होता है । (पश्चिमां तु समासीनः) सायंकाल की संध्या में बैठने से (मलं हन्ति दिवाकृतम्) दिन में किया हुआ मल दूर होता है ।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नापास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥ ८५ ॥ (१०३)

(न तिष्ठति तु यः पूर्वाम्) जो प्रातः काल की संध्या नहीं करता (न उपास्ते यः च पश्चिमाम्) और जो सायंकाल की संध्या नहीं करता (स शूद्रवत् वहिष्कार्यः सर्वस्मात् द्विजकर्मणः) उसको शूद्र के समान उन सब कामों से निकाल देना चाहिये जिनके करने का द्विजों को अधिकार है ।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ ८६ ॥ (१०४)

(अपां समीपे नियतः) जलाशय के समीप बैठ कर (नैत्यकं विधिम् अस्थितः) नित्य कर्म को करता हुआ । (सावित्रीम् अपि अधीयीत) गायत्री का भी जप करे । (गत्वा अरण्यं समाहितः) बन में जाकर एकाग्रचित होकर

---

१०३ नौपतिष्ठति यः (रा)

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ ८७ ॥
(१०५)

(वेद-उपकरणे च एव) वैदिक ग्रन्थों के पढ़ने (स्वाध्याये च एव नैत्यके) और नित्य के स्वाध्याय में (न अनुरोधः अस्ति अनध्याये) छुट्टी या तातील का नियम नहीं है। (होम मंत्रेषु च एव हि) और न होम मंत्रों में ही।

अर्थात् स्वाध्याय, संध्या, हवन, वेद-पाठ यह नित्य करना चाहिये। इस में छुट्टी कभी नहीं होती

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥८८॥(१०६)

(नैत्यके नास्ति अनध्यायः) पठन पाठन आदि नित्यकर्म में तातील नहीं होती। (ब्रह्म सत्रं हि तत् स्मृतम्) इसको ब्रह्म यज्ञ या ब्रह्म सत्र कहते हैं। (अनध्यायवषट्कृतं ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम् अस्ति) अनध्याय की तिथियों में वेद पाठ करना ऐसा ही पुण्य प्रद है जैसे यज्ञ की अवान्तर क्रियाओं में वषट्कार।

सत्र कहते हैं उस यज्ञ को जो निरन्तर बहुत दिनों तक चलता है और जिसका बीच में विच्छेद नहीं होता। वेद का पठन पाठन भी ब्रह्मसत्र कहलाता है क्योंकि इसका बीच में विच्छेद नहीं होता।

सत्रों में अवान्तर क्रियाओं के अन्त में वषट्कार (वौषट्) बोलते हैं। इससे विच्छेद नहीं समझा जाता। नैरन्तर्य जारी

---

१०५ चव क स्थान में चापि (रा) न विरोधो (मे)

रहता है। इसी प्रकार अनध्याय के दिनों में भी वेद पाठ करना पुण्य ही है। पाप नहीं।

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ॥
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥८९॥(१०७)

(यः स्वाध्यायम् अधीते) जो स्वाध्याय करता है (अब्दम्) साल भर (विधिना) विधि से (नियतः शुचिः) नियम में रह कर और पवित्र ! (तस्य नित्यं क्षरति एषः) उसके लिये यह स्वाध्याय नित्य बरसाता है (पयः दधि घृतं मधु) दूध, दही, घी और मीठा।

अर्थात् स्वाध्याय से सब कामनायें पूरी हो जाती हैं।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥९०॥(१०८)

(अग्नीन्धनम्) होम (भैक्ष चर्याम्) भीख माँगकर खाना (अधःशय्याम्) जमीन पर सोना (गुरोः हितम्) गुरु की भलाई। (आसमावर्तनात् कुर्यात्) समावर्तन संस्कार तक करे (कृतः उपनयनः द्विजः) यज्ञोपवीत संस्कार किया हुआ द्विज !

अर्थात् द्विज बालकों को यज्ञोपवीत संस्कार धारण कराके गुरु के पास समावर्तन संस्कार के समय तक इस प्रकार विद्या पढ़ना चाहिये कि हवन, भिक्षा, जमीन पर सोना तथा गुरु की भलाई करना यह सब नियम से पालता रहे।

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥
॥ ९१ (१०९)

१०७ दधि के स्थानमें नेधो (न)

(आचार्य पुत्रः) १-आचार्य का लड़का, (शुश्रूषुः) २-सेवा करने वाला (ज्ञानदः) ३-किसी न किसी बात का सिखाने वाला। (धार्मिकः) ४-धार्मिक (शुचिः) ५-पवित्र (आप्तः) ६-विश्वासपात्र (शक्तः) ७-जो पढ़ने में सफल हो सके, (अर्थदः) ८-जो फ़ीस देवे। (साधुः) ९-भला आदमी (स्वः) १०-निज परिवार का (अध्याप्याः) पढ़ाने योग्य हैं (दश) यह दस (धर्मतः) धर्म पूर्वक। यह दस धर्म पूर्वक पढ़ाने योग्य हैं।

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥९२॥

(११०)

(न अपृष्टः कस्य चिद् ब्रूयात्) जब तक कोई पूछे न, बात न करे। (न च अन्यायेन पृच्छतः) और न उससे बोले जो अन्याय से पूछ रहा हो (जानन् अपि हि मेधावी जड़-वत् लोके आचरेत्) बुद्धिमान् को चाहिये कि जानता हुआ लोक में जड़ के समान रहे। अर्थात् जब तक कोई पूछे न, या उचित रीति से न पूछे तब तक उत्तर नहीं देना चाहिये।

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ ९३ ॥

(१११)

(अधर्मेण च यः प्र + आह) जो अधर्म से उत्तर देता है। (यः च अधर्मेण पृच्छति) और जो अधर्म से पूछता है।

---

११० लोकमाचरेत् (न)

१११ चाधिगच्छति (रा)

(तयोः अन्यन्तरः) उन दोनों में से दूसरा (प्र—एति) विफल हो जाता है (विद्वेषं वा अधिगच्छति) या द्वेष को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि न हो अधर्म से प्रश्न करना चाहिये न अधर्म से उत्तर देना चाहिये। अध्ययन-अध्यापन के सम्बन्ध में ऐसा करना मृत्यु के समान हानिकारक है।

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ९४ ॥
(११२)

(धर्म अर्थौ यत्र न स्याताम्) जहाँ धर्म और अर्थ न हो (शुश्रूषा वा अपि तद्विधा) और न विशेष गुरुभक्ति ही हो। (तत्र विद्या न वक्तव्या) वहां विद्या न पढ़ानी चाहिये। (शुभं बीजम् इव ऊषरे) जैसे ऊसर में अच्छा बीज ! जैसे अच्छा बीज ऊसरमें बोने से निष्फल होता है वैसे ही जहां धर्म अर्थ या गुरुभक्ति न हो वहां पढ़ाना बेकार है।

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ९५ ॥
(११३)

(विद्यया एव समम्) विद्या को साथ लेकर (कामम्) चाहे (मर्तव्यं ब्रह्म वादिना) ब्रह्मवादी मर जावे (आपदि अपि हि घोरायाम्) घोर आपत्ति में भी (तु एनाम्) इसको (इरिणे) ऊसर में (न वपेत्) न बोवे।

---

११२ वक्तव्या (J); वक्तव्या (मे, रा)

अर्थात् अयोग्य मनुष्य को विद्या न पढ़ावे। यहां तात्पर्य साधारण विद्या दान से नहीं है। विशेष ब्रह्मज्ञान से है। ब्रह्मज्ञान शिक्षा के अधिकारी सभी नहीं हो सकते।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ९६ ॥
(११४)

(विद्या ब्राह्मणम् एत्य आह) विद्या ब्राह्मण के पास जाकर कहती है (शेवधिः ते अस्मि) मैं तेरा खजाना हूँ। (रक्ष माम्) मेरी रक्षा कर (असूयकाय मां मादाः) डाह करने वाले को मुझे मत दे। (तथा स्याम् वीर्यवत्तमा) जिससे मैं बहुत बलवान हो जाऊँ।

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ९७ ॥
(११५)

(यम् एव तु शुचिं विद्यात् नियतब्रह्मचारिणम्) जिसको शुद्ध और ठीक २ ब्रह्मचारी समझे (तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपाय अप्रमादिने) उसी ब्राह्मण, कोश के रक्षक तथा प्रमाद रहित मनुष्य को मुझे दे।

अर्थात् केवल शुद्ध, ब्रह्मचारी तथा विद्या कोष के रक्षक को विद्या पढ़ानी चाहिये।

---

११४ ब्राह्मणमित्याह (मे, गो, रा, न)
ब्राह्मणनेत्याह (मे, रा, कु)
शेवधिष्टेऽस्मि (मे, गो; न); शेवधिस्तेऽस्मि (कु, रा)
११५ नियतं (मे, गो, कु); नियत०

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥९८॥ (११६)

(ब्रह्म) वेद विद्या को (यः तु) जो तो (अन्+अनु+ज्ञातम्) बिना आज्ञा के (अधीयानात्) पढ़ने वालेसे (अव+अप्नुयात्) प्राप्त करे (स) वह (ब्रह्मस्तेय संयुक्तः) विद्या का चोर (नरकं प्रति पद्यते) दुख को पाता है।

अर्थात् जो गुरु सेवा न करके चालाकी से दूसरे से पढ़ावे सुनकर विद्या को सीखता है वह विद्या-चोर है। ऐसे को दुख मिलता है। कपट छल से पढ़ी हुई विद्या हितकर नहीं हो सकती।

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ९९ ॥
(११७)

(लौकिकं वैदिकं वा अपि तथा अध्यात्मिकम् एव च) चाहे लोक की विद्या हो, चाहे वैदिक, चाहे अध्यात्मिक (आददीत) लिया हो (यतः) जहाँ से या जिससे (ज्ञानम्) ज्ञान, (तम्) उस मनुष्य को (पूर्वम्) पहले (अभिवादयेत्) नमस्कार करे।

अर्थात् गुरू को पहिले नमस्कार करना चाहिये।

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ १०० ॥
(११८)

---

११७ च (गो, रा); वा (मे, न)
११८ मात्रमानोऽपि (मे, कु, स, न)
सार मात्रोऽपि (गो, रा)

सावित्री-मात्र-सारः अपि वरम्) केवल गायत्री जानने वाला भी अच्छा (विप्रः सुयन्त्रितः) वह ब्राह्मण जिसने अपने को वश में रक्खा है। (न अयंत्रितः त्रिवेदः अपि) नियम से न रहने वाला तीनों वेदों का ज्ञाता नहीं (सर्वाशी) सब कुछ खा जाने वाला (सर्व-विक्रयी) सबको बेचने वाला।

यहां नियमित जीवन का गौरव है। जो ज्ञानी है परन्तु नियम पर नहीं चलता वह बुरा। जो नियमित है वह केवल गायत्री जान कर भी अच्छा।

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥ १०१॥
(११६)

(शय्या + आसने) बिस्तर या बैठक पर अधि + आ + चरिते श्रेयसा) गुरु आदि बड़े द्वारा इस्तेमाल किये हुये पर (न सम् + आ + विशेत्) न प्रवेश करे। (शय्यासनस्थः च एव) और बिस्तर या आसन पर बैठा हुआ (एनम्) गुरु को (प्रति + उत्थाय) उठ कर (अभिवादयेत्) नमस्कार करे।

जो बिस्तर या आसन गुरुजनों के लिये नियत है उन पर न बैठे न सोवे। यदि चारपाई पर सोता या आसन पर बैठा हो और गुरुजन आवें तो उस पर से उठ कर नमस्कार करे।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥ १०२॥
(१२०)

---

१२० आगतं आयतिके स्थानमें।

(ऊर्ध्वम्) ऊपर को (प्राणाः) प्राण (हि उत्क्रामन्ति) उठने लगते हैं (यूनः) जवान आदमी के (स्थविरे आयाते) गुरुजन के आने पर (प्रति-उत्थान + अभिवादाभ्याम्) उठने और नमस्कार करने से (पुनः) फिर (तान्) उनको (प्रति पद्यते) ठीक करता है।

अर्थात् जब कोई बड़ा पुरुष आता है तो उसको देखते छोटे लोगों के प्राण ऊपर को चलने लगते हैं अर्थात् वे घबरा से जाते हैं (They became nervous) उठ कर नमस्कार कर लेने से वह घबराहट दूर हो जाती है।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥१०३॥
(१२१)

(अभिवादन शील) नमस्कार करने की आदत वाले (नित्यं वृद्धोपसेविनः) सदा बड़ों का सत्कार करने वाले (चत्वारि) चार (तस्य) उसके (वर्धन्ते) बढ़ते हैं (आयु विद्या यशः बलम्) आयु, विद्या, यश और बल!

जो पुरुष नित्य बड़ों को सत्कार करता और उनको नमस्कार करता है उसकी आयु विद्या यश और बल बढ़ते हैं।

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौनामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्॥ १०४
॥ (१२२)

---

१२१ आयुः प्रज्ञा (गो, कु, रा, न) आयुर्विद्या; (J-H; B) आयुर्धर्मो।

(अभिवादात् परम्) नमस्कार के पीछे (विप्रः) विद्वान् (ज्यायांसम् अभिवादयन्) अपने से बड़े को नमस्कार करके (असौ नाम अहम् अस्मि) मेरा यह नाम है (इति स्वं नाम परिकीर्तयेत्) अपना नाम बतावे ।

अर्थात् अपने से बड़े को नमस्कार करके उसके पीछे अपना नाम भी बताना चाहिये ।

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥
१०५॥(२४)

(भोः शब्दम्) 'भो' शब्द को (कीर्तयेत्) कहे, (अन्ते स्वस्य नाम्नः) अपने नाम के अन्त में (अभिवादने) नमस्कार पर । (नाम्नाम्) नामों का (स्वरूप भावः हि) स्वरूप भाव ही (भो भाव) भो भावः (ऋषिभिः स्मृतः) ऋषियों ने स्मृतियों में बताया है ।

नमस्कार में अपने नाम के आगे 'भो' भी लगाना चाहिये । 'भो' शब्द उस पुरुष के नाम के स्थान में आवे जो बड़ा है । बड़े का नाम न ले ।

नोट—हिन्दी में "भो" के स्थान में 'जी' लाते हैं । जैसे यदि यज्ञदत्त बड़ा पुरुष हैं और देवदत्त छोटा । तो देवदत्त कहेगा "अभिवादये देवदत्तोऽहमस्मि भो" । वह ऐसा नहीं कहेगा "अभिवादये देवदत्तोऽहमस्मि यज्ञदत्त ।"

अर्थात् अपने से बड़े का नाम न लेगा । उसके स्थान में 'भो' शब्द का प्रयोग करेगा ।

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
आकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥
१०५ ॥ (१२५)

(आयुष्मान् भव) दीर्घ आयु वाला हो (सौम्य) हे भद्र पुरुष (इति वाच्यः) ऐसा कहा जाना चाहिये (विप्रः) ब्राह्मण को (अभिवादने) नमस्कार पर। (आकारः च) और आकार (अस्य नाम्नः अन्ते) उसके नाम के अन्त में (वाच्यः) कहा जाना चाहिये। (पूर्वाक्षरः) पहला अक्षर (प्लुतः) प्लुत हो।

जब कोई ब्राह्मण नमस्कार करे तो उससे प्रत्युत्तर में कहना चाहिये "आयुष्मान् भव सौम्य३" अर्थात् हे भद्र पुरुष जीते रहो! उसके नाम के अन्त में आकार हो। और उससे पहला अक्षर प्लुत हो।

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १०७
॥ (१२६)

(यः न वेत्ति) जो नहीं जानता (अभिवादस्य) प्रणाम का (विप्रः) ब्राह्मण (प्रति–अभिवादनम्) प्रत्युत्तर (न अभिवाद्यः स विदुषा) विद्वान् उसको नमस्कार न करे। (यथा शूद्रः तथा एव सः) जैसा शूद्र है वैसा यह भी।

अर्थात् जो विद्वान् नमस्कार का ठीक उत्तर नहीं देता और साधारण सामाजिक शिष्टाचार के नियम नहीं जानता उसको दूसरे भी प्रणाम न करें। वह शूद्र है।

---

१२५ पूर्वाक्षरप्लुतः (न, स, मे, रा); पूर्वाक्षरः प्लुतः (मे, कु,) (J, H. B)

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १०८ ॥
(१२८)

(अवाच्यः दीक्षितः नाम्ना) दीक्षित का नाम लेकर न पुकारे । (यवीयान् अपि यः भवेत्) जो छोटा भी हो । (भो भवत् पूर्वकम्) 'भो भवत्' लगाकर (तु एनम्) इसको (अभिभाषेत धर्मवित्) बोले धर्म का जानने वाला ।

अर्थात् यदि कोई पुरुष दीक्षित हो चुका हो तो उसका आदर करे । नाम न ले और 'भोभवान्' ऐसा कहे । चाहे वह आयु में छोटा ही क्यों न हो ।

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १०९
(१२९)

(परपत्नी तु या स्त्री स्याद्) जो स्त्री दूसरे की पत्नी हो । (असंबन्धा च योनितः) और जिससे कोई रिश्ता न हो । (तां ब्रूयात्) उससे बोले (भवती इति एवं सुभगे, भगिनी इति च) 'भवती' अर्थात् देवी, सुभगे या भगिनि अर्थात् बहन ।

कोई ऐसी स्त्री हो जिससे रिश्ता न हो तो उसके साथ बात करने में भवती, सुभगे या बहन का प्रयोग करना चाहिये ।

---

१२८ अवाच्यो (कु, न, स,); न वाच्यो (मे, रा)

१२९ परपत्नीतु (J); परपत्नीच (मे) असंबद्धा (मे, गो, न); असंबंधा (कु, रा)

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ ११०॥
(१३०)

(मातुलान् च) मामों को (पितृव्यान च) और चाचों को, (श्वशुरान्) जो रिश्ते में ससुर लगते हों उनको (ऋत्विजः) यज्ञ करने वालों को (गुरून्) गुरुओं को (असौ अहम् इति ब्रूयात्) 'यह मैं हूँ' ऐसा कहे (प्रत्युत्थाय) उठकर (यवीयसः) छोटों को ।

अर्थात् मामा, चाचा, ससुर यज्ञ करने वाले पुरोहित, गुरु इन लोगों को उठकर नमस्कार करे और नाम न ले। चाहे वह आयु या पद में छोटे ही क्यों न हों।

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
सपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ ११० ॥
(१३१)

(मातृष्वसा) मौसी, (मातुलानी) मामी या माईं (श्वश्रूः) सास (अथ पितृष्वसा) और बुआ। (संपूज्या गुरु पत्नीवत्) यह गुरु की पत्नी के समान पूज्य हैं। (समाः ताः गुरु भार्यया) यह गुरु पत्नी के समान हैं, अर्थात् इनको भी उठकर नमस्कार करे।

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः॥ १११
॥ (१३२)

(भ्रातुः भार्या) भाभी (उपसंग्राह्या) पूज्य हैं अर्थात् उस के पैर छूने चाहिये। (सवर्णा) उसी वर्ण की (अहनि अहनि अपि) प्रति दिन। (विप्र-उष्य तु) परदेश से लौटने पर (उपसंग्राह्या) नमस्कार के योग्य हैं (ज्ञाति सम्बन्धियोषितः) अपनी जाति की स्त्रियाँ।

अर्थात् नियमानुसार विवाही हुई बड़े भाई की स्त्री (भाभी) के नित्य पैर छूना चाहिये। और रिश्ते की अन्य स्त्रियों के विशेष अवसरों पर'

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी॥ ११२
॥ (१३३)

(पितुः भगिन्याम्) बुआ (मातुः च भगिन्यां) मौसी (ज्यायस्यां च स्वसरि अपि) और बड़ी बहन के साथ (मातृवत्) माता के समान (वृत्तिम् आतिष्ठेत्) वर्ताव करे। (माता ताभ्यः गरीयसी) माता उनसे भी बड़ी है।

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु॥ ११३
॥ (१३४)

(दश + अब्द + आख्यं पौर सख्यम्) नगर वाले लोग दश बरस बड़े हों तो भी बराबर के समान हैं। (पंच + अब्द आ-

---

१३३ ताभ्यो (J); त्वाभ्यो (रा)

१३४ श्रोत्रियाणामल्पेनापि (मे, गो, स,); श्रोत्रियाणां स्वल्पेनादिः (कु, रा,)

स्यं कलाभृताम्) कला-कौशल वाले पांच बरस बड़े भी बराबर हैं। (त्रि-अब्द पूर्वं श्रोत्रियाणां) श्रोत्रिय तीन बरस बड़ा हो तो भी बराबर है। (स्वल्पेन+ अपि स्वयोनिषु) रिश्ते में थोड़ा ही बड़ा हो तो वह बराबर है। अन्यथा उसे ज्येष्ठ मानना चाहिये।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥ ११४
॥ (१३५)

(ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् पिता पुत्रौ विजानीयात्) दस वर्ष के ब्राह्मण और सौ वर्ष के क्षत्रिय का पिता पुत्र का सा सम्बन्ध होना चाहिये। (ब्राह्मणः तु तयोः पिता) उनमें ब्राह्मण पिता है।

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ ११५
॥ (१३६)

(वित्तम्) धन, (बन्धुः) रिश्ता, (वयः) आयु, (कर्म) शुभकाम (विद्या) विद्या (भवति पंचमी) पांचवीं होती है। (एतानि मान्य स्थानानि) यह मान्य के स्थान हैं (गरीयः यत् यत् उत्तरम्) इस क्रम में जो पिछला है वह पहले से ऊँचा है।

अर्थात् जो विद्वान है वह सबमें बड़ा है, उससे कम कर्म वाला, उससे कम आयु वाला, उससे कम रिश्ते वाला, और उस से कम धन वाला।

---

१३५ दशवर्षं तु शतवर्षं तु (रा, न)

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ ११७ ॥ (१३६)

(पंचानां त्रिषु वर्णेषु) तीन वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में पहले कहे हुये पांचों में (भूयांसि गुणवन्ति च) जो अधिक गुणी है (यत्र) वह गुण जिस पुरुष में (स्युः) हो (सः अत्र मान + अर्हः) वह यहां मान के योग्य है। (शूद्रः अपि दशमीं गतः) और जो शूद्र नब्बे बरस की आयु से अधिक बड़ा हो उसका मान करना चाहिये ।

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, यह मान के क्रम से तीन दर्जे हुये। धन, रिश्ता, आयु, कर्म, और विद्या यह मान के क्रम से पांच दर्जे हुये। इनमें से जिस पुरुष में जितने गुण अधिक हों उसको दूसरे से बड़ा समझना चाहिये। नब्बे वर्ष की आयु से वड़ा शूद्र हो तो वह भी सबके मान योग्य है।

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ ११८ ॥
(१३८)

(चक्रिणः) रथ गाड़ी आदि पर सवार को (दशमीस्थस्य) नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले को (रोगिणः) रोगी को (भारिणः) बोझ उठाये हुये को (स्त्रियः) स्त्री को (स्नातकस्य) स्नातक को (राज्ञः च) और राजा को (पन्थाः देयः) रास्ता देना चाहिये (वरस्य च) और वर को भी ।

---

१३७ सोऽत्र मानार्हः (मे, गो, न); स्यात्स मानार्हः (रा)

अर्थात् इतने आदमी यदि मार्ग में आते हों तो मार्ग छोड़ कर हट जाना चाहिये। यह शिष्टाचार के नियम हैं।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥११९॥
(१३९)

(तेषां तु समवेतानाम्) यह सब इकट्ठे हों तो उनमें (मान्यौ स्नातकपार्थिवौ) स्नातक और राजा मान्य हैं। (राजस्नातकयोः च एव) राजा और स्नातक दोनों हों तो उनमें (स्नातकः नृपमानभाक्) स्नातक राजा के मान का अधिकारी है।

अर्थात् स्नातक की राजा को भी इज्जत करनी चाहिये।

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥१२०॥(१४०)

(उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेत् द्विजः) जनेऊ दे कर जो शिष्य को वेद पढ़ावे द्विज (सकल्पम्) यज्ञविधि के साथ (सरहस्यम्) उपनिषद् के साथ। (तम्) उसको (आचार्यम्) आचार्य (प्रचक्षते) कहते हैं।

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥१२१॥
(१४१)

---

१३९ राजा स्नातकयोरेव (मे, गो, रा, न);
राजस्नातकयोश्चैव (कु)
१४१ अथवा पुनः (मे, रा)

(एकादेशं तु वेदस्य) वेद के एक अंग को (वेदाङ्गानि अपि वा पुनः) और वेदाङ्गों को (यः अध्यापयति वृत्ति-अर्थम्) जो धन लेकर पढ़ाता है (उपाध्यायः स उच्यते) वह उपाध्याय कहलाता है ।

मनु की परिभाषा में उपाध्याय वह है जो वेद के किसी अंग को धन लेकर पढ़ावे ।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चान्नेन स विप्रोगुरुरुच्यते ॥१२२॥(१४२)

(निषेक आदीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि) गर्भाधान आदि संस्कारों को जो नियमानुसार करता है (संभावयति च अन्नेन) और जो अन्न से पालन करता है । (स विप्रः गुरुः उच्यते) ऐसा विद्वान् गुरु कहलाता है ।

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृत्तो यस्य च तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥१२३॥ (१४३)

(अग्नि-।-आधेयम्) होम आदि (पाक यज्ञान्) पाक यज्ञों को (अग्निष्टोमादिकान् मखान्) अग्निष्टोम आदि यज्ञों को (यः करोति) जो करता है (वृतः यस्य) जिससे वरण लेकर (स तस्य) वह उसका (ऋत्विक्) ऋत्विज (इह) इस विषय में (उच्यते) कहलाता है ।

अर्थात् जो वरा जाकर यज्ञ करावे वह ऋत्विज है । हर यज्ञ में पहले "वरण" होता है अर्थात् यजमान यज्ञ कराने वाले

---

१४२ चान्नेन (J) चैवै नं (मे)

से कहता है कि मैं आपका वरण करता हूँ। आप मेरे घर यज्ञ कराइये। ऐसे यज्ञ कराने वाले को 'ऋत्विज' कहते हैं।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥१२४॥
(१४४)

(यः) जो (आवृणोति) भरता है (अवितथम्) ठीक २ (ब्रह्मण) विद्या से (श्रवणौ उभौ) दोनों कानों को। (स माता स पिता ज्ञेयः) उसको माता पिता समझना चाहिये। (तं न द्रुह्येत् कदाचन) उससे कभी द्रोह न करे।

अर्थात् विद्या पढ़ाने वाले से कभी द्रोह न करना चाहिये।

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १२५ ॥
(१४५)

(उपाध्यान् दश) दस उपाध्यायों की अपेक्षा से (आचार्यः) आचार्य, (आचार्याणां शतं पिता) सौ आचार्यों की अपेक्षा से पिता (सहस्रं तु पितॄन् माता) हज़ार पिताओं की अपेक्षा माता (गौरवेण अति रिच्यते) गौरव में अधिक है।

अर्थात् माता का दर्जा उपाध्याय, आचार्य और पिता सबसे बड़ा है।

---

१४४ या आतृणोत्य (मे); या आवृणोत्य (अन्य)

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१२६॥(१४६)

(उत्पादक ब्रह्मदात्रोः) जन्म देने वाले पिता और विद्या देने वाले पिता दोनों में (गरीयान्) बड़ा है (ब्रह्मदः पिता) विद्या देने वाला माता पिता । (ब्रह्मजन्महि विप्रस्य) बुद्धिमान् पुरुष का विद्या जन्म अर्थात् उपनयन संस्कार ही (प्रेत्य च इह च) पर लोक में और इस लोक में (शाश्वतम्) स्थिर हैं ।

जनक से गुरु बड़ा है । विद्या से ही बुद्धिमान् दोनों लोकों में स्थिरता पाता है ।

[नोट—यह दो श्लोक परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं क्योंकि पिछले श्लोक में पिता को सौ गुरुओं से बड़ा बताया है और इस गुरु को पिता से बड़ा । परन्तु पहला श्लोक माता का गौरव दिखाने के हेतु है । इसमें अत्युक्ति अलंकार है ।]

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते ॥१२७॥ (१४७)

(कामात्) काम वश होकर (माता पिता च) मा बाप (एवम्) इसको (यत्) जैसे (उत्पादयतः) उत्पन्न करते हैं । (मिथः) मिलकर (संभूतिं) उत्पत्ति को (तस्य)- उसको (तां

---

१४६ उत्पादक ब्रह्म वित्रोर (न, स)
१४७ योनावधि (रा) योनावपि

विद्यात्) वैसी जाने। (यत्) जैसी (योनौ) योनि में (अभिजायते) होती है।

माँ बाप काम के वश होकर सन्तान को उत्पन्न करते हैं। और माता की कोख में उसी के अनुसार उसका शरीर बनता है।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या स सत्या साजरामरा॥१२८
॥ (१४८)

(आचार्यः तु) लेकिन आचार्य (अस्य) इसकी (यां जातिम) जिस जाति के (विधिवत्) विधि के अनुसार (वेद पारगः) वेदज्ञ (उत्पाद यति) उत्पन्न करता है (सावित्र्या) गायत्री मन्त्र से (सत्या) वह सत्य है (साजरामरा) वह अजर अमर है।

आचार्य गायत्री द्वारा जिस जाति को उत्पन्न करता है वह अजर अमर है। माता पिता जिस जाति (योनि) को उत्पन्न करते हैं वह अनित्य है। अर्थात् माता पिता का दिया हुआ शरीर तो मृत्यु के साथ समाप्त हो जायगा। परन्तु आचार्य की दी हुई विद्या दूसरे जन्म में भी काम आयेगी।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया॥ १२९॥
(१४९)

(अल्पं वा बहुवा) थोड़ा हो या बहुत (यस्य श्रुतस्य उपकरोति यः) जो जिसका विद्या पढ़ाकर उपकार करता है (तम् अपि इह गुरुं विद्यात्) उसको यहाँ गुरु समझना चाहिये। (श्रुत-उपक्रियया तया) उस विद्या पढ़ाने के उपकार से।

अर्थात् गुरु वह है जो थोड़ा या बहुत विद्या पढ़ावे। उसका उपकार मानना चाहिये।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१३०॥ (१४६)

(ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता) वेद विद्या रूपी जन्म का देने वाला। (स्वधर्मस्य च शासिता) और अपने धर्म का बताने वाला (बालः अपि विप्रः) बालक विद्वान भी (वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः) वृद्ध का धर्म की रीति से पिता होता है।

यदि कोई वेद विद्या पढ़ाने वाला आयु में कम भी हो तो उस को पिता के तुल्य समझना चाहिये।

अज्ञोभवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१३१ (१५३)

(अज्ञः भवति वै बालः) अज्ञानी ही बालक है (पिता भवति मन्त्रदः) जो मन्त्र पढ़ावे वह पिता। (अज्ञं हि बालम् इति आहुः (मूर्ख को ही बालक कहते हैं।) पिता इति एव तु मंत्र दम्) और मन्त्र पढ़ाने वाले को पिता कहते हैं।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१३२ ॥ (१५४)

---

१५३ पितेत्येव च (मे, गो, कु, रा, न); पितेत्येवतु (मे,)

(न हायनैः) न वर्षों से (न पलितैः) न पके बालों से (न वित्तेन) न धन से (न बन्धुभिः) न रिश्तेदारों से (ऋषया चक्रिरे धर्मम्) ऋषियों ने धर्म को बनाया (यः अनूचानः) जो वेद पढ़ा है (स नः महान्) वह हमारे लिये बड़ा है।

आयु, पके बाल, धन या रिश्तेदारों के कारण कोई बड़ा नहीं होता, जो वेद पढ़ा है वही बड़ा है।

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१३३॥
(१५५)

(विप्राणां ज्ञानतः ज्यैष्ठ्यम्) विद्वानों में ज्ञान की अपेक्षा से बड़प्पन है। (क्षत्रियाणां तु वीर्यतः) क्षत्रियों में पराक्रम से (वैश्यानां धान्य धनतः) वैश्यों में धान्य और धन से (शूद्राणाम् एव जन्मतः) और शूद्रों में जन्म से।

तात्पर्य यह है कि मूर्ख अज्ञानी पुरुष विद्या आदि के गौरव को समझ ही नहीं सकते।

न तेन वृद्धो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १३४ ॥ (१५६)

---

१५५ ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं (J); ज्ञानतो श्रैष्ठ्यं (गो, न)
तुवीर्यतः (J); च वीर्यतः (रा)
त्वेवजन्मतः (J); चैवजन्मतः (न); एवजन्मतः (कु)

१५६ वृद्धोभवति (मे, गो, कु); स्थविरो भवति (न);
स्थविरोज्ञेयो

(न तेन वृद्धः भवति) उस बात से कोई बड़ा नहीं होता (येन अस्य पलितं शिरः) जिससे उसका सिर सफ़ेद हो गया। (यः वै युवा अपि अधीयानः) जो छोटा भी पढ़ा हुआ है (तं देवाः स्थविरं विदुः) उसको विद्वान् स्थविर कहते हैं।

अर्थात् बड़प्पन विद्या से है आयु से नहीं।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३५॥
(१५७)

(यथा काष्ठमयः हस्ती) जैसे काठ का हाथी (यथा चर्ममयः मृगः) और जैसे चमड़े का बनावटी हिरन (यः च विप्रः अनधीयानः) और जो ब्राह्मण बे पढ़ा है (त्रयःस्ते नाम बिभ्रति) यह तीनों केवल नाम के हैं। असली नहीं हैं।

अर्थात् विना विद्या के ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है।

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥१३६॥ (१५८)

(यथा षण्ढः अफलः स्त्रीतिषु) जैसे स्त्रियों के बीच में नपुंसक व्यर्थ है (यथा गौः गविच अफला) और जैसे गायों में विना दूध की गाय (यथा च अज्ञे अफलं दानम) जैसे मूर्ख को दान देना व्यर्थ है (तथा विप्रः अनृचः अफलः) उसी प्रकार ऋचाशून्य अर्थात् वेद न पढ़ा हुआ ब्राह्मण व्यर्थ है।

---

१५७ त्रयस्ते नामधारकाः (गो, मे); त्रयस्ते नाम बिभ्रति (कु, न); त्रयस्ते नाम धारिणः (मे)

१५८ चाफला के स्थान में निष्कला

अहिंसयैव भूतानाँ कार्यं श्रेयोनुशासनम् ।
वाक् च एव मधुरा श्लक्ष्णां प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥
१३७॥ (१५६)

(अहिंसया एव भूतानाम्) जीवों के प्रति वैर-बुद्धि छोड़कर ही (कार्य्यम्) करना चाहिये (श्रेयः) हितकारी (अनुशासनम्) अनुशासन । (वाक् च एव) और वाणी भी (मधुरा) मीठी, (श्लक्ष्णाम्) चिकनी (प्रयोज्या) प्रयोग में लानी चाहिये । (धर्मम् इच्छता) धर्म की इच्छा रखने वाले के द्वारा । धर्म के इच्छुक को चाहिये कि अपने शिष्यों को कोमल और मीठी वाणी से समझावे । कठोर शब्दों का प्रयोग न करे ।

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यक्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १३८ ॥
(१६०)

(यस्य वाक् मनसी) जिसके वाणी और मन (शुद्धे) शुद्ध हैं (सम्यक् गुप्ते च सर्वदा) और सदा नियमित और सुरक्षित हैं (स वै सर्वम् अवाप्नेति) वह सब को पा जाता है (वेदान्त-उपगतं फलम्) वेदान्त में बताये हुये फल को । अर्थात् जो वाणी और मन को वश में रखता है उसको किसी बात की कमी नहीं रहती ।

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधी ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्याँ तामुदीरयेत् ॥
१३९ ॥ (१६१)

---

१६० वेदांतो पगतं (J); वेदान्ताधिगतं

(न अरुंतुदः स्यात्) किसी को दुख देने वाला न हो (आर्तः अपि) दुखित होता हुआ भी (न परद्रोह कर्मधी) और दूसरे के द्रोह का काम या विचार न करे। (यया अस्य उद्विजते वाचा) जिस बात से उसका जी दुखे (न आलोंक्याताम् उदारयेत्) उस लोक विरुद्ध वाणी को न कहै ।

संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१४०॥
(१६२)

(सांमनात् ब्राह्मणः नित्यम् उद् विजेत विषात् इव ब्राह्मण मान को सदा न पसन्द करे विष के समान (अमृतस्य इव च आकाङ्क्षेत् अवमानस्य सर्वदा) अमृत के सामान सदा अपमान की इच्छा करे ।

तात्पर्य यह है कि मान का भूखा ब्राह्मण धर्म से च्युत हो सकता है। इसलिये ब्राह्मण को मान के लोभ में नहीं फंसना चाहिये। धर्म की बात कहने में अपमान भी होता हो तो भी धर्म से टलना नहीं चाहिये ।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥१४१॥
(१६३)

(सुखं हि अवमतः शेते) जिस आदमी का दूसरे अपमान करते हैं और जो उस अपमान पर ध्यान नहीं देता ऐसा पुरुष सुख से सोता है (सुखं च प्रति बुध्यते) और सुख से जागता है (सुखं लोके अस्मिन्) इस लोक में वह सुख से चलता है

अवमन्ता (विनश्यति) जो दूसरे का अपमान करता है उसका नाश हो जाता है ।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन्संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१४२॥
(१६४)

(अनेन क्रमयोगेन) इस पूर्वोक्त उपाय से (संस्कृत-आत्मा द्विजः) ऐसा ब्राह्मण जिसके विधि पूर्वक संस्कार हो चुके हैं, (शनैः) धीरे धीरे (गुरौवसन्) गुरु के पास रहकर (संचिनुयाद्) संचय करे (ब्रह्माधिगमिकं तपः) वेदपाठ रूपी तप को ।

अर्थात् उपयुक्त रीति से गुरु के पास वेद-अध्ययन करना चाहिये ।

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥१४३
॥ (१६५)

(तपः विशेषैः विविधैः) अनेक विशेष तपों के द्वारा (व्रतैः च विधि चोदितैः) और विधि के अनुसार व्रतों द्वारा (वेदः कृत्स्नः अधिगन्तव्यः सरहस्यः) रहस्य के साथ पूरा वेद पढ़ना चाहिये (द्विजन्मना) द्विज को ।

द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तप तथा व्रत करके पूरा वेद पढ़े ।

---

१६४ ब्रह्माधिगमकं तपः (J); ब्रह्माधि गमनं तपः

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१४४॥
(१६६)

(वेदम् एव सदा अभ्यस्येत्) वेद का ही सदा अभ्यास करे (तपः तपस्यन्) तप करता हुआ (द्विज-उत्तमः) ब्राह्मण (वेद-अभ्यास हि विप्रस्य तपः परम् इह उच्यते) इस संसार में ब्राह्मण का परम् तप वेद का अभ्यास ही है।

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१४५ ॥ (१६७)

(आ ह एव) अवश्य ही (स) वह (नखाग्रेभ्यः) नाख़ून के अग्रभाग तक अर्थात् पूरी तरह से (परमं तप्यते तपः) बड़ा तप करता है। (यः स्रग्वी अपि द्विजः) जो द्विज माला धारण करके अर्थात् गृहस्थ होता हुआ भी (अधीते स्वाध्याय) स्वाध्याय करता है (शक्तितः) शक्ति के अनुसार । (अनु-अहम्) प्रतिदिन !

अर्थात् ब्रह्मचारी न भी हो तो भी यदि कोई गृहस्थी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन वेद पढ़ता है तो वह बड़ा तप करता है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१४६॥
(१६८)

---

१६६ नप्स्यन्यदि द्विजः (रा)

(यः अन + अधीत्य द्विजः वेदम्) जो द्विजवेद को न पढ़ कर (अन्यत्र कुरुते श्रमम्) और बातों में श्रम करता है (स जीवन एव) वह जीता हुआ ही (शूद्रत्वम् आशु गच्छति) शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है (स + अन्वयः) अपने वंश के साथ।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१४७॥ (१६९)

(मातुः अग्रे अधिजननम्) माता के पेट से उत्पत्ति पहला जन्म कहलाता है। (द्वितीयं मौञ्जिबन्धने) दूसरा जन्म उपनयन के समय होता है जब मूंज की कर्धनी बांधी जाती है। (तृतीयं यज्ञ दीक्षायाम्) तीसरा यज्ञ की दीक्षा में, (द्विजस्य) द्विज का (श्रुति-चोदनात्) श्रुति की आज्ञा से। तात्पर्य यह है कि वैदिक सिद्धान्त में मनुष्य के तीन जन्म माने गये हैं पहला माता के पेट से। दूसरा यज्ञोपवीत के समय (तीसरा) यज्ञ में दीक्षित होना।

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १४८ ॥ (१७०)

(तत्र) इस विषय में (यद् ब्रह्म जन्म अस्य) जो इसका ब्रह्म जन्म अर्थात् वेद पढ़ने के लिये जन्म है (मौञ्जीबन्धन चिह्नितम्) जिसका चिह्न उपनयन है। (तत्र) वहां (अस्य माता सावित्री) इकसी माता गायत्री है। (पिता तु आचार्य उच्यते) आचार्य पिता कहलाता है।

---

१६९ श्रुति चोदितम्; विधि चोदितम्

अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार को मनुष्य का ब्रह्मजन्म समझना चाहिये। इसमें माता गायत्री और पिता आचार्य है।

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात् ॥ १४९ ॥ (१७१)

(वेद-प्रदानात् आचार्यं पितरं परिचक्षते) वेद पढ़ाने के कारण आचार्य को पिता कहते हैं। (न हि अस्मिन् युज्यते कार्यं किंचित् आमौञ्जीबन्धनात्) उपनयन तक इस बालक का कोई और कर्म योग्य नहीं है। अर्थात् उपनयन से पहले किसी अन्य यज्ञ आदि कर्म का उत्तरदातृत्व नहीं रहता।

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १५० ॥ (१७२)

(अभिव्याहारयेद् ब्रह्म) वेद न पढ़ावे (स्वधानिनयात् ऋते) सिवाय मृतक संस्कार के। (शूद्रेण हि समः तावत्) उस समय तक शूद्र के तुल्य है (यावद् वेदे न जायते) जब तक वेद में जन्म नहीं होता।

जब तक वेद नहीं पढ़ता उस समय तक मनुष्य शूद्र है। यज्ञोपवीत कराके वेद पढ़ाना चाहिये।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १५१ (१७३)

---

१७१ नह्यस्मिन् के स्थानमें नह्यस्य (न)

१७२ जायते के स्थानमें युज्यते (गो)

१७३ तथैव विधि पूर्वकम् (गो)
क्रमेण विधि पूर्ववत्

(कृत-उपनयनस्य अस्य) इस जनेऊ पाये हुये लड़के के लिये (वृत + आदेशनम् इष्यते) वृतों का आदेश है। (ब्रह्मणः ग्रहणं च एव) और वेद का पढ़ना (क्रमेण विधि पूर्वकम्) क्रम से विधि के अनुसार।

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१५२॥
(१७४)

(यत् यस्य विहितम् चर्म) जो जिसके लिये चर्म (मृगछाल) कहा है (यत् सूत्रम्) जो सूत्र (या मेखला) जो मेखला है (यः दण्डः) और जो डंडा है (यत् च वसनम्) और जो वस्त्र (तत तत् अस्य वृतेषु अपि) वैसा वैसा उसका वृतों में भी।

तात्पर्य यह है कि वृतों में चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड, वस्त्र का विशेष विशेष विधान है। यह जैसा उपनयन में है वैसा ही उन वृतों में भी समझना चाहिये।

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥१५३॥
(१७५)

(सेवेत) सेवे (इमान् तु नियमान्) इन नियमोंको (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (गुरौ वसन्) गुरु के पास रह कर (सन्नियम्य इन्द्रिय ग्रामम्) इन्द्रियों के समूह अर्थात् सब इन्द्रियों को वश में रख कर (तपः + वृद्धि + अर्थम् आत्मनः) आत्मा के तप और उन्नति के लिये।

---

१७४ तत्तत्तस्य (मे) तत्तस्यैव (गो); तत्तदस्य (रा, न)

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥
१५४ ॥ (१७७)

(वर्जयेत्) न प्रयोग करे (मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः) शराब, मांस, सुगन्ध, माला, रसों या स्त्रियों का (शुक्तानि यानि सर्वाणि) और जो सब सड़ी चीजें हैं। (प्राणिनां च एव हिंसनम्) और प्राणियों की हिंसा ।

इन बातों से ब्रह्मचारी को परहेज चाहिये,शराब, मांस, स्त्री, अन्य व्यसनोंसे । (इनका वर्णन अगले श्लोक में हैं)

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१५५
॥ (१७८)

(अभ्यङ्गम्) उबटन, (अंजनं च अक्ष्णोः) आंखों में अंजन (उपानत्) जूता (छत्र धारणम्) छाता । (कामं क्रोधं च लोभं च) काम क्रोध और लोभ (नर्त्तनम्) नाचना (गीतवादनाम्) गाना बजाना ।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१५६॥
(१७९)

---

१७७ गन्ध माल्य रसान् (ये, न; गन्धं माल्यं रसान्
गन्धं माल्यं रसं (मे, रा)
शुक्तानि चैव (से, गो, न, रा); शुक्तानि यानि
१७८ गीतवादने (मे)

(द्यूतं च) जुआ (जनवादं च) झगड़ा (परिवादं) दूसरों के विषय में व्यर्थ बातचीत निन्दा आदि। (तथा अनृतम्) और झूठ।) स्त्रीणां तु प्रेक्षण-आलम्भं) काम की इच्छासे स्त्रियों के दर्शन-स्पर्शन (उपघातं परस्य च) दूसरे को हानि पहुँचाना।

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्यन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१५७॥
(१८०)

(एकः शयीत सर्वत्र) सदा अकेला सोवे (न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्) किसी समय भी वीर्य को न गिरने दे। (कामात् हि स्कन्दयन् रेतः हिनस्ति वृतम् आत्मनः) कामेच्छा से वीर्य का गिराना अपने वृत को नष्ट कर देता है।

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥१५८॥(१८२

(उदुकुम्भम्) पानी के घड़े को (सुमनस) फूलों को, (गो + शकृत्) गोबर को (मृत्तिका) मिट्टी को (कुशान्) कुशों को (आहरेत्) लावे (यावत् + अर्थानि) जितना आवश्यक हो (भैक्षम्) भिक्षा को (च) और (अहः अहः) प्रति दिन (चरेत्) करे।

---

१८२ उदकुम्भं (J) उदकुम्भान् (न)
मृत्तिकां कुशान् (मे, रा, न); मृत्तिका कुशान्; मृत्तका-स्तथा (गो);
मृत्तिकाः कुशान् (मे)

अर्थात् ब्रह्मचारी को चाहिये कि प्रतिदिन भिक्षा मांग कर खाये और गुरु के लिये जल, गोबर, मिट्टी, कुश, पुष्प आदि को भी आवश्यकतानुसार लावे।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥१५६॥
(१८३)

(वेद यज्ञैः अहीनानाम्) वेद और यज्ञ से जो हीन न हों (प्रशस्तानां स्व+कर्मसु) अपने कर्म में जो श्रेष्ठ हैं। (ब्रह्म-चारी+आहरेत भैक्षम्) ब्रह्मचारी भीख लावे (गृहेभ्यः) घरों से (प्रयतः) जाता हुआ (अनु+अहम्) प्रतिदिन।

ब्रह्मचारी को चाहिये कि प्रतिदिन ऐसे सज्जनों के घरों से भीख लावे जो यज्ञ करते तथा वेद पढ़ते हैं और अपने कर्म में श्रेष्ठ हैं।

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धषु।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ।१६०॥
(१८४)

(गुरोः कुले न भिक्षेत्) गुरु के कुल में भिक्षा न मांगे (न ज्ञातिकुल बन्धुषु) न रिश्तेदारों में। (अलाभे तु अन्य गेहानाम्) दूसरे घरों के न मिलने पर (पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत्) पहले पहले को छोड़ दे।

अर्थात् अन्य जगह भिक्षा न मिले तो भाइयों में। यदि वहाँ न मिले तो रिश्तेदारों में यदि वहाँ न मिले तो गुरु के कुलों में।

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१६१॥
(१८५)

(सर्वं वा अपि चरेत् ग्रामम्) या सब गांवों में भिक्षा मांगे (पूर्वोक्तानाम् असंभवे) यदि पहले बताये हुये वेदज्ञ और यज्ञ करने वाले न मिलें। (नियम्य प्रयतः वाचम्) वाणी को भली भांति वश में रख कर अर्थात् बहुत न बोले। (अभिशस्तान् तु वर्जयेत्) पापियों को छोड़ देवें।

अर्थात् ब्रह्मचारी को चाहिये कि पापियों के घर भीख न मांगे।

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ।
सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥१६२॥
(१८६)

(दूरात् आहृत्य समिधः) दूरसे समिधा लाकर (संनिदध्यात् विहायसि) ऊंचे स्थान पर रख देवे। (सायं प्रातःश्च जुहुयात्) और प्रातःकाल तथा सायंकाल को हवन करे (ताभिः अग्निम् अतन्द्रितः) उन्हीं समिधाओं से अग्निमें आलस्य छोड़कर।

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥१६३॥(१८७)

(अकृत्वा भैक्षचरणम्) बिना भिक्षा मांगे (असमिध्य चपावकम्) और अग्नि में होम न कर के (अनातुरः) तन्दुरुस्त आदमी भी (सप्तरात्रम्) सात रात तक का (अवकीर्णिव्रतं चरेत्) अवकीर्णि व्रत करे।

यदि कोई तन्दुरुस्त ब्रह्मचारी भिक्षा न मांगे और हवन न करे तो उसे पाप लगता है। इसका प्रायश्चित्त "अवकीर्णि व्रत" है जो सात दिन तक होता है।

देखो अध्याय ११—८७ श्लोक

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥१८४॥
(१८८)

(भैक्षेण वर्त्तयेत् नित्यं) नित्यम् भिक्षा मांग कर खाय (न एक-अन्न + आदी भवेत्व्रती) व्रती कभी एक ही के अन्न का खाने वाला न हो अर्थात् ऐसा न करे कि एक ही घर भिक्षा मांगा करे (भैक्षेण) भिक्षा से (व्रतिनः वृत्तिः)व्रती का व्यवहार (उपवास समा स्मृता) उपवास के समान माना गया है।

अर्थात् जो फल उपवास का होता है वही भिक्षा से।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥१८५॥
(१८९)

(चोदितः गुरुणा नित्यम्) गुरु की नित्य प्रेरणा से (अप्रचोदित एव वा) या बिना गुरुकी प्रेरणा के भी (कुर्यात् अध्ययने यत्नम्)

---

१८९ नोदितो...अप्रणोदित (मे, गो, रा)
चादितो...अप्रनोदित (मे)
चोदितो...अप्रचोदित (न, स)
योगम् (ये, गो, कु); यत्नम् (स)

पढ़ने में यत्न करे (आचार्यस्य हितेषु च) और आचार्य के हित की बातों में।

अर्थात चाहे गुरु प्रेरणा करे या न करे ब्रह्मचारी को चाहिये कि नित्य पढ़ने में और गुरु की भलाई में यत्न करता रहे।

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥१६६॥
(१६२)

(शरीरं च एव वाचं च, बुद्धीन्द्रिय मनांसि च नियम्य), शरीर, वाणी, ज्ञान-इन्द्रिय तथा मन को वशमें करके (प्रांजलिः) हाथ जोड़ कर (तिष्ठेत् वीक्षमाणः गुरोः मुखं) गुरु के सामने मुँह करके खड़ा होवे।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः॥
१६७॥ (१६३)

(नित्यम उद्धृतपाणिः स्यात) नित्य हाथ बाहर निकाले रहे (साधु + आचारः) ठीक आचरण करे, (सुसंयतः) अपने को वश में रखकर ('आस्यताम्' इति च उक्तः सन् आसीत अभिमुखं गुरोः) जब गुरु कहे बैठो तो उसके सामने बैठ जाय।

---

१६२ तिष्ठेद्वीक्षमाणो (रा)
१६३ सुसंवृतः (मे, कु, रा); सुसंयतः (गो, स)
मुखो गुरोः (मे, गो, रा)

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥१६८॥
(१६४)

(हीन-अन्न+वस्त्र+वेषः स्यात् सर्वदा गुरु-सन्निधौ) सदा गुरु के पास रहकर अन्न, वस्त्र और वेष में गुरु से कम रहे। (उत्तिष्ठेत् प्रथमं च अस्य चरमं च एव संविशेत्) गुरु से पहले जागे और पीछे सोवे।

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥
॥१६६ (१६५)

(प्रतिश्रवण संभाषे) गुरुकी आज्ञा का उत्तर 'प्रति श्रवण' कहालता है। जैसे गुरु कहे कि अमुक बालक को बुला लो तो लड़का उत्तर में कहता है 'बहुत अच्छा! अभी जाता हूँ।" यह प्रतिश्रवण है। 'संभाषा' साधारण बातचीत को कहते हैं (शयानः न समाचरेत् न आसीनः न च भुंजानः न तिष्ठन् अपराङ् मुखः) यह दोनों बातें अर्थात् प्रतिश्रवण तथा संभाषण, लेटे लेटे बैठे बैठे या खाते हुये या पीछे को मुँह किये हुये न करना चाहिये।

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥१७०॥
(१६६)

---

१६६ अभिगच्छंस्तु (J); अभिगच्छंश्च (गो)
प्रत्युद्गमित्वा व्रजतः
पश्चाद्धावंश्च (गो)

(असीनस्य स्थितः कुर्यात्) बैठे हुये गुरु से खड़ा होकर (अभिगच्छन् तु तिष्ठतः) खड़े हुये गुरु से उसके समीप जाकर बातचीत करे। (प्रति + उद् + गम्य तु आव्रजतः) अपनी ओर आते हुये गुरु के साथ उनके पीछे पीछे तेजी से जाकर बातचीत करे।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१७१
(१९७)

(पराङ्मुखस्य अभिमुखः) गुरु पीछे मुँह किये हों तो उनके सामने जाकर (दूरस्थस्य एत्यच अन्तिकम्) दूर हो तो उनके निकट जाकर (प्रणम्य तु शयानस्य) लेटे हुये हों तो प्रणाम करके (निदेशे च एव तिष्ठतः) खड़े हों तो उनके समीप होकर बातचीत करे।

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥१७२।
॥ (१९८)

(नीचं शय्या + आसनं च अस्य सर्वदा गुरु सन्निधौ) और इसका विस्तर या आसन गुरु के पास सदा नीचे की ओर रहे। (गुरोः तु चक्षुविषये) और गुरु के सामने (न यथेष्ट + आसनः भवेत्) मनमानी रीत से न बैठे। अदब के साथ बैठे।

---

१९७ दूरस्थस्यैव
१९८ चैव (मे)

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥१७३॥
(१९९)

(न उत् + आ + हरेत् अस्य नाम परोक्षम् अपि केवलम्) गुरु का केवल नाम परोक्ष में भी न ले (न च अस्य अनुकुर्वीत गति भाषित चेष्टितम्) और न उनकी चाल, बोली या किसी चेष्टा की नक़ल करे ।

गुरोर्यत्र परी वादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः
॥१७४॥ (२००)

(गुरोः यत्र परीवादः) जहाँ गुरु की बुराई (निन्दा वा अपि प्रवर्त्तते) या निन्दा होती है (कर्णौ तत्र पिधातव्यौ) वहां कान बन्द कर लेना चाहिये (गन्तव्यं वा ततः अन्यतः) या वहां से अन्यत्र चले जाना चाहिये ।

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ १७५ ॥
(२०१)

(दूरस्थः न अर्चयेत् एनम्) दूर से गुरु को नमस्कार न करे (न क्रुद्धः) और न क्रोध में आकर (न अन्तिके स्त्रियाः) और न स्त्री के पास । (यान + आसनस्थः च एव एनम् अवरुह्य

२०२ क्रुद्धं (मे)

अभिवादयेत्) सवारी या आसन पर बैठा हुआ गुरु को नमस्कार करे।

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥१७६॥
(२०३)

(प्रतिवातेऽअनुवाते च न आसीत गुरुणा सह) गुरुके साथ ऐसे स्थान पर न बैठे जहाँ से अपनी ओर हवा आती हो या जहाँ से अपनी ओर से गुरु की ओर हवा जाती हो। (असंश्रवे च एव गुरोः न किंचित् अपि कीर्त्तयेत) जो कुछ गुरु के सुनने में न आवे उसे न करे।

गोऽश्वोष्ट्रयान प्रासादस्त्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥१७७॥
(२०४)

(गो + अश्व + उष्ट्र + यान + प्रासादस्त्रस्तरेषु कटे च) बैल, घोड़ा, ऊँट, सवारी, मकान की छत और चटाई पर (आसीत) बैठे (गुरुणा सार्धम्) गुरु केसाथ (शिला फलक नौषु च) पत्थर, चौकी या नाव पर। अर्थात् ऐसे स्थानों पर गुरु के साथ बैठ सकता है।

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥१७८॥
(२०५)

(गुरोः गुरौ सन्निहिते गुरुवत् वृत्तिम आचरेत्) गुरु के निकट आने पर उसके साथगुरु का सा ही बर्ताव करे (न च अनि

सृष्टः गुरुणा स्वात् गुरून् अभिवादयेत्) और उस गुरु के बिना कहे अपने गुरुओं को नमस्कार न करे।

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥१७९॥
(२०६)

(विद्या गुरुषु) विद्या पढ़ाने वालों में (एतद् एव नित्या वृत्तिः) वही नित्य व्यवहार हो (स्वयोनिषु) चाचा आदि घर के लोगों में भी (प्रतिषेधत्सु च अधर्मान्) अधर्म से रोकने वालों में भी (हितं च उपदिशत्सु अपि) और हित का उपदेश करने वालों में भी।

अर्थात् इन सब को गुरु के समान ही समझना चाहिये — (१) विद्या पढ़ाने वाले (२) घर के बुजुर्ग (३) अधर्म के रोकने वाले (४) धर्म का उपदेश करने वाले।

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत्।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥१८०॥ (२०७)

श्रेयःसु) विद्या और तप में श्रेष्ठ पुरुषों में (गुरुवत् वृत्तिं नित्यम् एव सम्+आचरेत्) गुरु के समान व्यवहार नित्य करे। (गुरु पुत्रेषु च आर्येषु गुरोः च एव स्वबन्धुषु) श्रेष्ठ गुरु-पुत्रों में, और गुरु के रिश्तेदारों में।

अर्थात् तपस्वी पुरुषों, श्रेष्ठ गुरु-पुत्रों तथा गुरु के रिश्तेदारों के साथ गुरु के समान ही व्यवहार करना चाहिये।

---

२०६ विद्यागुरुष्वेवमेव (मे);

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥१८१॥(२०८)

(बालः) छोटा हो, (समानजन्मा वा) या बराबर हो (शिष्यः वा) या शिष्य हो (यज्ञ कर्मणि) यज्ञकर्म में (अध्यापयन) पढ़ाता हुआ (गुरुसुतः) गुरु का पुत्र (गुरुवत्) गुरु के समान (मानं अर्हति) मानम् का अधिकारी है ।

अर्थात् गुरु का पुत्र चाहे आयु में छोटा हो या बराबर हो चाहे अपना शिष्य भी क्यों न हो । यदि वह पढ़ाने में समर्थ है और यज्ञ में ऋत्विजका कार्य्य करता है तो वह मान का अधिकारी है ।

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
नकुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम्॥१८२॥(२०९)

(उत्सादनं च गात्राणाम्) शरीर का मलना, (स्नापन + उत् + शिष्ट + भोजने) निहलाना, बचा हुआ भोजन (न कुर्यात् गुरुपुत्रस्य) गुरु पुत्र का न करे (पादयोः अवनेजनम) और दोनों पैरों का धोना।

अर्थात् गुरु-पुत्र के लिये इतनी बातों का निषेध है ।

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥१८३॥
(२११)

(अभ्यञ्जनम्) उबटन (स्नापनम्) और नहलाना (गात्र-उत्सादनम् एव च) और शरीर मलना (गुरुपत्न्या) गुरु की

पत्नी का (न कार्य्याणि) नहीं करना चाहिये (केशानां च प्रसाधनम्) और केश गूंथना ।

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥१८४॥(२१२)

(गुरु पत्नी तु युवतिः न अभिवाद्या इह पादयोः) जवान गुरु-पत्नी पैर छूने के योग्य नहीं है (पूर्ण विंशति वर्षेण) पूरे बीस वर्ष के बालक द्वारा (गुण दोषै विजानता) गुण और दोष के जानने वाले से ।

अर्थात् जवान शिष्य को चाहिये कि जवान गुरु-पत्नी के पैर न छुये । इसमें बुराई होने की सम्भावना है ।

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥१८५॥
(२१३)

(स्वभाव एप नारीणाम्) यह स्त्रियों के लिये स्वाभाविक है (नराणाम् इह दूपणम्) कि पुरुषों को उनके साथसे दोष लग जाय (अतः अर्थान् न प्रमाद्यन्ति) इसलिये अर्थ से प्रमाद नहीं करते (प्रमदासु) स्त्रियों में (विपश्चितः) बुद्धिमान पुरुष ।

यह स्वाभाविक बात है कि स्त्रियों के संसर्ग से पुरुषों में दोष लग जावे । इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को स्त्रियों के साथ व्यवहार करने में सावधान रहना चाहिये ।

---

२१२ गुरुपत्नी च (मे)

२१३ नाराणामेव

अतोऽर्थान् (कु, रा:); अतोऽर्थे (न; मे)

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतु कामक्रोधवशानुगम् ॥१८६॥
(२१४)

(अविद्वांसम्) अविद्वान को (अलम्) काफी है (लोके) संसार में (विद्वांसम् अपि वा पुनः) और विद्वान् को भी (प्रमदा) स्त्री (हि) निश्चय करके (उत्पथम्) बुरे मार्ग पर (नेतुम्) ले जाने के लिये (काम-क्रोध-वश + अनुगम्) काम और क्रोध के वश में चलने वाले को ।

अर्थात् चाहे पुरुष विद्वान् हो चाहे मूर्ख । यदि वह काम और क्रोध के वश में है तो स्त्रियों के संसर्ग से वह अवश्य बिगड़ जायगा ।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१८७॥
(२१५)

(मात्रा) माता के साथ (स्वस्रा) बहन के साथ (दुहित्रावा) या लड़की के साथ (न विविक्त + आसनः भवेत्) एक आसन पर न बैठे । (बलवान् इन्द्रिय ग्रामः) इन्द्रियों का बलवान् समूह (विद्वांसम् अपि कर्षति) विद्वान को भी खींच लेता है ।

इन्द्रियाँ बड़ी बलवान होती हैं । उनको रोकना विद्वान् के लिये भी कठिन है । इसलिये मनुष्य को चाहिये कि मा, बहन और लड़की के साथ भी एकान्त सेवन न करे ।

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥१८८॥
(२१६)

(कामं तु) यदि इच्छा हो तो (गुरुपत्नीनां युवतीनाम्) युवती गुरु पत्नियों के लिये (युवा) जवान पुरुष (भुवि) भूमि पर (विधिवद्) नियमानुसार (वन्दनं कुर्यात) नमस्कार करे (असौ अहम् इति ब्रुवन्) मैं अमुक हूँ । ऐसा कह कर ।

अर्थात् युवा पुरुष को चाहिये कि यदि चाहे तो युवती गुरु-पत्नी को भूमि पर झुक कर नमस्कार करे । पैर न छुये ।

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥१८९॥(२१७)

(विप्रोष्य) परदेश से आकर (पाद ग्रहणम्) पैर छूना । (अनु + अहम्) प्रतिदिन (च) और (अभिवादनम्) नमस्कार (गुरुदारेषु) गुरु पत्नियों में (कुर्वीत) करे (सताम्) सत् पुरुषों के (धर्मम्) धर्म का (अनुस्मरन्) स्मरण करता हुआ ।

यदि गुरु-पत्नियां युवती न हों तो परदेश से आने पर उनके पैर छुये और साधारणतया उनसे नमस्कार किया करे और सत्पुरुषों के धर्म का सदा विचार रक्खे ।

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥१९०॥
(२१८)

---

२१८ एवं गुरुतरां (रा)

(यथा) जैसे (खनन्) खोदता हुआ (खनित्रेण) फावड़े से (नरः) पुरुष (वारि) जल को (अधिगच्छति) पाता है। (तथा) उसी प्रकार (गुरुगतां विद्याम्) गुरु की विद्या को (शुश्रूषुः) सेवा करने वाला (अधिगच्छति) पाता है।

जैसे भूमि खोद कर ही पानी मिल सकता है उसी प्रकार सेवा करने से ही विद्या मिल सकती है।

मुण्डो व जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्कचित्॥
१६१॥ (२१९)

(मुण्डः वा) चाहे मुण्ड हो (जटिल वा स्यात्) चाहे शिखा वाला हो (अथवा स्यात् शिखाजटः) या शिखा और जटा दोनों रक्खे हो, (न एनम्) न इसको (ग्रामे) गांव में (अभिनिम्लोचित् सूर्यः) सूर्य अस्त हो (न अभि + उत् + इयात्) न उदय हो (कचित्) कभी।

मुण्ड, जटिल तथा शिखाजट यह तीन प्रकार हैं ब्रह्मचारियों के। इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्मचारी सूर्य्यास्त के पीछे और सूर्य्योदय के पहले गांव में न रहे।

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥१६२॥
(२२०)

२१९ शिखयान्वितः; ऽभिनिम्रोचेत् (न)

२२० काम कारतः (मे, गो, रा, न); कामचारतः

(तं चेत् अभि + उत् + इयात् सूर्यः शयानम्) अगर उसके सोते हुये सूर्य्य उदय हो जाय (कामचारतः) जानकर । (निम्लो चेत वा अपि अविज्ञानात्) या बे जाने अस्त हो जाय (जपन् उपवसेत् दिनम्) दिन भर जप करते हुये उपवास करे ।

सूर्येण ह्यभिनिमुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥१६३॥
(२२१)

(सूर्येण हि अभिनिमु क्तः) सूर्य के अस्त होने पर (शयानः) लेटा हुआ (अभ्युदितः च यः) और सूर्य्य उदय के पीछे लेटा हुआ (प्रायश्चित्तम् अकुर्वाणः) प्रायश्चित्त न करता हुआ (युक्तः स्यात् महता एनसा) बड़े पाप से युक्त होवे ।

अर्थात् सायंकाल से पहले और प्रातःकाल के बाद सोने से पाप लगता है ।

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥१६४॥
(२२२)

(आचम्य) आचमन करके (प्रयतः) प्रयत्नपूर्वक (नित्यम्) सदा (उभे सन्ध्ये समाहितः) सायं और प्रातः दोनों वेलाओं में ध्यान करता हुआ (शुचौ देशे) पवित्र स्थान में (जपन्) जपता हुआ (जप्यम्) गायत्री के (उपासीत) उपासना करे (यथाविधि) नियमानुसार दोनों वेलाओं में अर्थात् प्रातःकाल

---

२२१ ह्यभिनिम्मुक्तः (गो); ह्याभिनिर्मुक्तः (कु, न रा)

तथा सायंकाल को पहले आचमन करे, फिर ध्यान करके गायत्री जपे और उपासना करे।

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥१६५॥
(२२३)

(यदि स्त्री) या स्त्री (यदि अवरजः) या छोटा (श्रेयः किंचित् समाचरेन्) किसी अच्छे काम को करे (तत् सर्वम्) उस सब को (आचरेत्) करे। (युक्तः यत्र वा अस्य रमेत् मनः) या जिसमें उसका मन रमे अर्थात् शुभ-काम अपनी रुचि के अनुसार या किसी का अनुकरण करके अवश्य करना चाहिये।

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥१६६॥
(२२४)

(धर्म + अर्थौ उच्यते श्रेयः) धर्म और अर्थ को श्रेय बताते हैं, (काम + अर्थौ + धर्म एव च) धर्म अर्थ और काम को भी श्रेय कहा है (अर्थ एव इह वा श्रेयः) अर्थ को ही कहीं कहीं श्रेय कहा है (त्रिवर्ग इति तु स्थितिः) तीनों ही श्रेय हैं ऐसा सिद्धान्त है।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥१६७॥
(२२५)

---

२२३ वास्य के स्थान में चास्य

२२४ धर्म एव वा (मे, गो, न)

२२५ नार्तैनाप्यवमन्तव्यो

(आचार्यः च पिता च एव माता भ्राता च पूर्वजः) आचार्य, पिता, माता, बड़ा भाई (न आर्त्तेन अपि अवमन्तव्याः) इनका क्लेश पड़ने पर भी अपमान न करना चाहिये। (ब्राह्मणेन विशेषतः) विशेष कर ब्राह्मण को।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥
१९८ (२२६)

(आचार्यः ब्रह्मणः मूर्तिः) आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति है अर्थात् जैसे ब्रह्मा ने सब को आरंभ में वेद पढ़ाया था उसी प्रकार आचार्य भी वेद पढ़ाता है इसलिये वह उसी मान का अधिकारी है। (पिता मूर्तिः प्रजापतेः) पिता प्रजापति की मूर्ति है अर्थात् पिता का मान करना चाहिये। (माता पृथिव्याः मूर्तिः तु) और माता पृथिवी की मूर्ति है। (भ्राता स्वः मूर्तिः आत्मनः) भाई अपने आत्मा की मूर्ति है।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥ १९९
(२२७)

(यं माता पितरौ क्लेशं सहेते) जिस क्लेश को मा बाप सहते हैं (संभवे नृणाम्) मनुष्यों के जन्म देने में। (न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुम्) उसका बदला हो नहीं सकता (वर्षशतैः अपि) सौ वर्ष में भी।

---

२२६ मूर्तिश्च; मूर्तिस्तु; स्वामूर्तिरात्मनः (न)

२२७ तस्य नो

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २००
(२२८)

(तयोः नित्यं प्रियं कुर्यात्) उन दोनों अर्थात् मा बाप का सदा प्रिय आचरण करे (आचार्यस्य च सर्वदा) और आचार्य का भी सदा । (तेषु एव त्रिषु तुष्टेषु) इन तीन के संतुष्ट होने पर (तपः सर्वं समाप्यते) सब तप पूर्ण हो जाता है ।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥२०१॥
(२२९)

(तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते) इन तीनों की सेवा परम तप कहलाती है । (न तैः + अभि + अन् + अनु + ज्ञातः) उनकी अनुमति के बिना (धर्मम् अन्यं समाचरेत्) अन्य कर्त्तव्य न करे ।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२०२॥
(२३०)

(ते एव हि त्रयः लोका) माता पिता और आचार्य यह तीन लोक हैं । (ते एव त्रयः आश्रमाः) यह तीनों आश्रम हैं । (ते एव हि त्रयः वेदाः) यह तीनों वेद हैं । (ते एव उक्ताः त्रयः अग्नयः) यही तीन अग्नियाँ हैं ।

---

२२९ तैरनभ्यनुज्ञातो (मे, गो, न); तैरभ्यननुज्ञातो (कु)

यहां अत्युक्ति अलंकार से माता पिता और गुरु को माननीय और सर्व श्रेष्ठ बताया है ।

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥२०३॥(२३१)

(पिता वै गार्हपत्यः अग्निः) पिता गार्हपत्य अग्नि के समान है । (माता अग्निः दक्षिणः स्मृतः) माता दक्षिण अग्नि के समान है । (गुरुः आहवनीयः तु) और गुरु आहवनीय अग्नि के समान है । (सा अग्नित्रेता गरीयसी) यह तीनों अग्नियां श्रेष्ठ हैं । अर्थात् पिता माता और गुरु यह तीन अग्नियां गार्हपत्य, दक्षिण और आहवनीय अग्नि से बड़ी है ।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥२०४॥(२३२)

(त्रिषु अप्रमाद्यन् एतेषु) इन तीनों अग्नियों को पूजता हुआ अर्थात् मा बाप और गुरु की सेवा करता हुआ (त्रीन् लोकान् विजयेत् गृही) गृहस्थ पुरुष तीनों लोकों को जीत ले । (दीप्यमानः स्ववपुषा) अपने शरीर से प्रकाशित होकर (देववत् दिवि मोदते) द्यौ लोक में सूर्य्य के समान आनन्दित होता है ।

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥२०५॥(२३३)

(इमं लोकं मातृभक्त्या) इस लोक को माता की भक्ति से, (पितृभक्त्या तु मध्यमम्) पिता की भक्ति से मध्यलोक की,

---

२३२ देववद्विचरेद् गृही (रा)

२३३ गुरुशुश्रूषयाचैव (रा); गुरुशुश्रूषयाप्येव (गो)

(गुरुशुश्रूषया तु एवं ब्रह्मलोकं समश्नुते) गुरु की सेवा से ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है ।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥२०६॥
(२३४)

(सर्वे तस्य आदृताः धर्माः) उसके सब धर्मों का पालन हो जाता है (यस्य एते त्रय आदृताः) जिसके इन तीन अर्थात् माता, पिता, और गुरु का आदर होता है, (अनादृताः तु यस्य एते) और जिसके द्वारा माता पिता तथा गुरु का अनादर हुआ । (सर्वाः तस्य अफलाः क्रियाः) उसके सब काम अफल हो जाते हैं ।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२०७॥
(२३८)

(श्रद्दधानः शुभां विद्याम्) शुभ विद्या पर श्रद्धा रख कर (आददीत) लेवे (अवरात् अपि) नीच से भी !(अन्त्यात् अपि) नीच से (परं धर्मम्) परम धर्म को (स्त्रीरत्नं दुष्कुलात् अपि) स्त्री रत्न को नीच कुल से भी ।

विद्या और धर्म को नीच पुरुष से सीख लेना चाहिये और नीच कुल की स्त्री को भी विवाह लेना चाहिये ।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥२०८॥
(२३९)

---

२३४ त्रय आदृत: (J)

(विषात् अपि अमृतं ग्राह्यम्) अमृत को विष में से भी ले लेना चाहिये। (बालात् अपि सुभाषितम्) बच्चे से भी अच्छी बात को सीख लेना चाहिये। (अमित्रात् अपि सद्वृत्तिम्) शत्रु से भी अच्छे व्यवहार को, (अमेध्यात् अपि कांचनम्) अपवित्र वस्तु से सोने को ले लेना चाहिये।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥२०६॥
(२४०)

(स्त्रियः) स्त्रियां, (रत्नानि) रत्न, (अथः) और (विद्या) विद्या, (धर्मः) धर्म, (शौचम्) शुद्धि, (सुभाषितम्) अच्छी बोली (विविधानि च शिल्पानि), अनेक प्रकार की कला कौशल (सम्+आ+देयानि सर्वतः) सबसे ले लेनी चाहिये।

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥२१०(२४१)

(अब्राह्मणात् अध्ययनम् आपत्काले विधीयते) आपत्काल में उससे भी पढ़ ले जो ब्राह्मण नहीं है। (अनुव्रज्या च शुश्रूषा) आज्ञापालन और सेवा (यावत् अध्ययनं गुरोः) जब तक गुरुसे पढ़े उस समय तक करनी चाहिये।

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २११
(२४२)

---

२४० शिल्पानि चाप्यदुष्टानि (मे, गो, स, रा)
विविधानि च शिल्पानि (न, कु)
२४१ आपत्कल्पे (मे, गो, स)

(न अब्राह्मणे गुरौ शिष्यः वासम् आत्यन्तिकं वसेत्) गुरु ब्राह्मण न हो तो शिष्य उसके अत्यन्त निकट न रहे (ब्राह्मणे च अन्+अनूचाने) और ब्राह्मण वेद पढ़ा न हो तो उसके निकट न रहे (काङ्क्षन् गतिम् अनुत्तमाम्) परम गतिम् की इच्छा करता हुआ।

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात् ॥२१२॥(२४३)

(यदि तु आत्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोःकुले) यदि गुरुम् के कुल में उसके अत्यन्त समीप रहना प्रिय हो तो (युक्तः परिचरेत् एनं) तो इसकी बराबर सेवा करे (आशरीरविमोक्षणात्) शरीर पात होने तक अर्थात् जब तक जीवे।

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूयते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥
२१३ (२४४)

(आ समाप्तेः शरीरस्य) मृत्यु पर्यन्त (यः तु शुश्रूयते गुरुं) जो गुरु की सेवा करता है (स गच्छति) वह प्राप्त करता है। (अञ्जसा) अवश्य (विप्रः) ब्राह्मण (ब्रह्मणः सद्म शाश्व-तम्) ईश्वर के नित्य पद को।

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२१४॥
(२४५)

---

२४३ रोचयेते (मे, गो, न); रोचयेत्तु (मे, रा)
२४५ गुर्वर्थमाचरेत्

(न पूर्वं गुरवे किंचित् उपकुर्वीत धर्मवित्) धर्म का जानने वाला गुरु से पूर्व कुछ भी चीज़ न बरते। (स्नास्यन् तु) परन्तु स्नान करके (गुरुणाज्ञप्तः) गुरु की आज्ञा से (शक्त्या) शक्ति के अनुसार (गुर्वर्थम् आहरेत्) गुरु के लिये लावे।

अर्थात् ब्रह्मचारी को गुरु से पूर्व स्नान तो कर लेना चाहिये। परन्तु अन्य कोई चीज़ बरतनी नहीं चाहिये।

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम्।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत्॥२१५॥
(२४६)

(क्षेत्रम्) खेत (हिरण्यम्) सोना (गाम्) गाय (अश्वम्) घोड़ा (छत्र) छाता (उपानहम्) जूता (आसनम्) आसन (धान्यम्) अन्न (शाकम्) शाक (च वांसांसि) और वस्त्र (गुरवे) गुरु के लिये (प्रीतिम्) प्रेम से (आवहेन्) लावे।

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्॥ २१६॥
(२४७)

(आचार्ये तु खलु प्रेते) गुरु के मरने पर (गुरु पुत्रे गुण + अनु + इते) गुरु के पुत्र के गुणवान् होने पर (गुरुदारे सपिण्डे वा) गुरु की स्त्री या वंशज में (गुरुवद् वृत्तिम् आचरेत्) गुरु के समान बर्ताव करे।

---

२४६ छत्रोपानहमन्ततः (मे, गो); छात्रोपानहमासनम् (कु)
वासांसि शाकं वा (मे, गो, रा);
प्रीतिमाहरेत् (मे, गो, रा, न); प्रीतिमाहरन् (मे).

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥२१७॥(२४८)

(एतेषु अविद्यमानेषु) इनके न होने पर (स्नान+आसन विहारवान्) स्नान आसन आदि आचरण करता हुआ (प्रयुंजानः अग्निशुश्रूषाम्) होम करता हुआ (साधयेत् देहम् आत्मनः) अपना जीवन व्यतीत करे ।

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥२१८॥
(२४९)

(एवं चरति यः विप्रः) जो विद्वान् ऐसा आचरण करता है (ब्रह्मचर्यं अविप्लुतः) बिना ब्रह्मचर्य का नाश किये हुये । (सः गच्छति उत्तमस्थानम्) वह उच्च पदवी को प्राप्त होता है (न चः इह जायते पुनः) और फिर इस संसार में जन्म नहीं लेता ।

---

२४८ एषुत्वविद्यमानेषु (मे, गो)
साधयेद्देहमात्मवान् (मे); स्थानासन (J)
२४९ उत्तमं स्थानं (J); चेह जायते

तृतीय अध्याय

---o---

षट् त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥१॥(१)

(षट् + त्रिशंत + आब्दिकम्) छत्तीस वर्ष का (चर्यं) होना चाहिये (गुरौ) गरु के पास (त्रैवेदिकं व्रतम्) तीन वेदों वाला व्रत (तत् + अर्धिकम्) उसका आधा (पादिकं वा) या चौथाई । (ग्रहण-अन्तिकम् एव वा) या वेद का ग्रहण जब तक हो पावे ।

अर्थात् एक एक वेद के पढ़नेके लिये बारह वर्ष लगाना चाहिये ।परन्तु ब्रह्मचारी की योग्यतानुसार कम या अधिक भी लग सकता है ।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥२॥ (२)

(वेदान् अधीत्य) सब वेदों को पढ़कर (वेदौ वा) या दो वेदोंको (वेदं वा अपि) या एक ।ही वेदको (यथाक्रमम्) क्रम पूर्वक (अविलुप्त ब्रह्मचर्यः) ब्रह्मचर्य का नाश बिना किये (गृहस्थ + आश्रमम् आवसेत्) गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे। अर्थात् जब तक कम से कम एक वेद न पढ़ ले विवाह न करे ।

---

१ षट् त्रिंशदाब्दकं (मे)

२ यथाविधि (रा)

आविशेत् (मे)

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥३॥ (३)

(तम्) उस (प्रतीतम्) विख्यात (स्वधर्मेण) अपने धर्मपालन के कारण (ब्रह्मदाय हरम्) विद्या रूपी दायभाग के लेने वाले की (पितुः) पिता के (स्रग्विणाम्) माला युक्त को (तल्पे आसीनम्) शय्या पर बैठे हुए को (अर्हयेत् प्रथमं गवा) पहले गाय से पूजन करे ।

इस श्लोक में ब्रह्मचारी को पिता के दायभाग का लेने वाला बताया है । तात्पर्य यह है कि जिस ब्रह्मचारी ने धर्म पालन के द्वारा पिताके दाय भाग का अपने को अधिकारी बना लिया है, ऐसे ब्रह्मचारी के गले में माला डालकर तथा उसको शय्या पर बिठाल कर गाय देकर उसकी पूजा करनी चाहिये ।

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥४(४)

(गुरुणा अनुमतः) गुरू की आज्ञा लेकर (स्नात्वा) स्नान तक करकर (सम् + आवृतः यथाविधि) विधिपूर्वक समावर्तन संस्कार करके (उद्वहेत् द्विजः) द्विज विवाहे (भार्यां सवर्णां लक्षण + अनु + इताम्) अच्छे लक्षण वाली स्त्री को जो अपने गुण कर्म तथा स्वभाव में मिलती हो ।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥५॥(५)

(असपिण्डा च या मातुः) जो माता की सपिंड न हो अर्थात् उसकी सात पीढ़ी न हो (असगोत्रा च या पितुः) और

३ पितुः के स्थान में गुरोः
५ दारकर्मण्यमैथुनी (न); दारकर्मण्यमिथुना (मे)

जो पिता के गोत्र की न हो (सा प्रशस्ता द्विजातीनाम्) द्विजों में वही स्त्री ठीक है (दारकर्मणि मैथुने) सन्तनोत्पत्ति के निमित्त विवाह में।

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसंबंधे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥६॥(६)

(महान्ति अपि समृद्धानि गो + अजा + अवि + धन + धान्यतः) गौ, बकरी, भेड़, धन, धान्य आदि के युक्त बहुत धनाढ्य और बड़े कुल में क्यों न हों (स्त्री सम्बन्धे दश एतानि कुलानि परिवर्जयेत्) विवाह सम्बन्ध करने में इन दस कुलों को छोड़ देना चाहिये।

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥७॥(७)

(हीन क्रियम्) १—जो कुल सत्क्रिया से हीन हो (निष्पुरुषम्) २—सत् पुरुषों से रहित हो (निः छन्दः) ३—वेदाध्ययनम् से विमुख हो, (रोमश + अर्शसम्) ४ —बड़े रोम वाला या ५—बवासीर (Piles) का रोगी। (क्षयी) ६—क्षयी रोग अर्थात् तपेदिक वाला (आमयावी) ७—जिसकी पाचन शक्ति कमज़ोर हो (अपस्मारि) ८—मिर्गी वाला (श्वित्रि) ९—सफ़ेद दाग़ों वाला (कुष्ठि कुलानि च) १०—और कोढ़ वाले कुलों को।

जिन कुलों में अधिकतर ऊपर के रोग पाये जायँ उन कुलों में विवाह न करे। क्योंकि इससे प्रकट होता है कि अधिक लोग के रोगी होने के कारण अवश्य ही कुल में कोई न कोई बुराई है।

---

६ महान्त्यपि समर्थानि (मे)

७ श्वित्र (मे); श्वित्रि (गो, रा, न)

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ८ ॥(८)

(न उद्वहेत्) न विवाहे (कपिलां कन्याम्) ऐसी कन्या को जो किसी रोग के कारण पीली पड़ रही हो (न अधिकांगी) अधिक अंग वाली को (न रोगिणीम्) न बीमार को (न अलोमिकाम्) न ऐसी कन्या को जिसके बिल्कुल रोम न हों (न अतिलोमाम्) या जिसके शरीर पर बहुत रोम हों (न वाचाटाम्) न बकवाद करने वाली को (न पिङ्गलाम्) न पिङ्गला को ।

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥९॥(९)

(न-ऋक्ष-वृक्ष-नदी-नाम्नीं) न नक्षत्र, वृक्ष, नदी नाम वाली को, (न-अन्त्य-पर्वत-नामिकां) न म्लेच्छ या पर्वत नाम वाली को, (न पक्षी + अहि-प्रेष्य-नाम्नीं) न पक्षी, सांप या नौकर का अर्थ देने वाले नाम वाली को (न च भीषण नामिकाम्) न भयानक नाम वाली को ।

नोट—लोग प्रश्न करते हैं कि क्या ऐसे नाम वाली स्त्रियां बिन व्याही रह जायँ ? यह व्यर्थ प्रश्न है । नाम सुगमता से बदला जा सकता है ।

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥१०॥(१०)

---

८ वाचालां(J)
९ न विभीषण (मे, न, रा); न च भीषण (गो)
१० तनुलोमकेशदन्तां (म, मो); तनुलोमकेशदशनां (कु, रा), तनुरोमकेशदशनां (न), तन्वोष्ठकेशदशनां (मे)

अव्यङ्ग + अंगामि) सुन्दर अंग वाली (सौम्यनाम्नीम्) सुन्दर नाम वाली (हंस + वारण + गामिनीम्) हंस और हाथी के समान चलने वाली को(तनु + लोम + केश + दशनाम्) पतले रोम, केश और दांत वाली (मृदु - अंगीम्) कोमल शरीर वाली (उद्वहेत् स्त्रियम्) स्त्री के साथ विवाह करे।

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥११॥(११)

(यास्याः तु न भवेत् भ्राता) जिसके कोई भाई न हो (न विज्ञायेत वा पिता) या जिसके पिता का पता न लगे। (न उपयच्छेत् तां प्राज्ञः) बुद्धिमान् उसके साथ विवाह न करे (पुत्रिका-धर्म- शंकया) पुत्रिका धर्म के डर से।

पुत्रिका धर्म इसको कहते हैं कि यदि किसी के लड़का न हो और केवल लड़की हो तो उस लड़की का लड़का अर्थात् धेवता गोद लिया जा सकता है और वह नाना की जायदाद का मालिक होता है। जिस स्त्री के भाई नहीं उससे कुल के किसी शारीरिक रोग का पता चलता है। ऐसी स्त्री से विवाह करने में ऐसे रोग के अपने कुल में आने का भय है। और यदि पुत्र उत्पन्न हुआ भी तो वह नाना के घर चला जायगा। यह हानि है।

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्र त्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥१२॥
(१२)

(सवर्ण अग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि) द्विजों के विवाह में सबसे उत्तम अपना ही वर्ण है। (कामतः तु प्रवृत्तानाम्)

---

११ वै पिता (मे)
१२ ऽवराः

परन्तु जो काम के वश होकर विवाह करें उनके लिये (इमाः स्युः क्रमशः वराः) क्रम से नीचे लिखे श्रेष्ठ है। (देखो अगला श्लोक)

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥१३(१३)

(शूद्रा एव भार्या शूद्रस्य) शूद्र का विवाह शूद्रा से हो। (सा च स्वा चः स्मृते) वैश्य के लिये वैश्या या शूद्रा। (ते च स्वा च एव राज्ञः च) शूद्रा, वैश्या और क्षत्रिया क्षत्रिय के लिये (ताः च स्वा च अग्रजन्मनः) यह तीनों और ब्राह्मणी ब्राह्मण के लिये।

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत॥१४॥(२०)

(चतुर्णाम् अपि वर्णानाम्) चारों वर्णों के (प्रेत्य च इह) परलोक और इस लोक में (हित+अहितान्) हित करने वाले तथा अहित करने वाले (अष्टौ इमान्) इन आठों (समासेन) संक्षेप से (स्त्री विवाहान्) विवाहों को (निबोधत) जानिये।

अर्थात् अब उन आठ विवाहों का वर्णन किया जाता है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिये इस लोक और परलोक में हितकर तथा हानिकारक है।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥१५॥(२१)

---

१३ स्मृता (मे, नो) ; स्मृते (मे, रा, न)
राज्ञाः स्युस्ताश्च
२० प्रेत्येह च (मे, गो, न); प्रेत्य चेह (रा)

(ब्राह्मः) ब्राह्म विवाह (दैवः) दैव विवाह (तथा एव आर्षः) और आर्ष विवाह (प्राजापत्यः) प्राजापात्य विवाह (तथा असुरः) और असुर विवाह (गान्धर्वः) गन्धर्व विवाह (राक्षसः च एव) और राक्षस विवाह (पैशाचः च अष्टमः अधमः) और और सबसे अधम आठवाँ पैशाच विवाह है ।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥१६(२७)

(आच्छाद्य च अर्चयित्वा च) वस्त्र देकर तथा आदर करके (श्रुति शीलवते) विद्वान् तथा शीलवान पुरुष के लिये (स्वयम् आहूय) स्वयं बुलाकर (दानं कन्यायाः) कन्या का दान (ब्राह्मः धर्मः प्रकीर्तितः) ब्राह्म विवाह कहलाता है ।

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥१७॥(२८)

(यज्ञे तु वितते सम्यक्) ठीक रीति से यज्ञ रचाकर (ऋत्विजे कर्म कुर्वते) यज्ञ कराने वाले ऋत्विज को (अलंकृत्य) अलंकृत करके (सुतादानं) कन्यादान (दैवं धर्मं प्रचक्षते) दैव विवाह कहलाते हैं ।

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥१८॥(२९)

(एकं गोमिथुनम्) एक गाय और एक बैल (द्वे वा) या दो गाय और दो बैल (वरात् आदाय) वर से ले कर (धर्मतः)

---

२७ आच्छाद्य चार्हयित्वातु (गो)

२८ यज्ञे च (गो)

२९ कन्यादानं तु

धर्म के अनुकूल (कन्या प्रदानं विधिवत्) विधि के अनुसार कन्यादान करना (आर्षः धर्मः स उच्यते) आर्ष धर्म कहलाता है।

नोट—कुल्लूक भट का मत है कि यह गाय बैल यज्ञ के लिए लिये जाते है। पिता अपने लिये नहीं लेता।

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥१६॥
(३०)

(सह उभौ चरतां धर्मम्) तुम दोनों धर्म का आचरण करो। (इति वाचा अनुभाष्य च) ऐसा वाणी से कहकर (कन्या प्रदानम् अभ्यर्च्य) सत्कार करके कन्यादान करना (प्राजापत्यः विधिः स्मृतः) प्राजापत्य विधि कहलाती है।

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्मउच्यते ॥२० (३१)

(ज्ञातिभ्यः द्रविणं दत्वा) रिश्तेदारों को धन देकर (कन्यायै च एव शक्तितः) और कन्या को भी शक्ति के अनुसार धन देकर (कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यात्) अपनी इच्छा से कन्या दे देना (आसुरः धर्म उच्यते) आसुर विवाह कहलाता है।

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥२१(३२)

---

३० च के स्थान में तु

३२ संयोगः (J), संसर्गः (रा)
मैथुनः (गो)

(इच्छया अन्यः + अन्यसंयोगः) इच्छा से एक दूसरे का मिलाप (कन्यायाश्च वरस्य च) कन्या का और वर का (गान्धर्वः स तु विज्ञेयः) गान्धर्व विवाह समझना चाहिये (मैथुन्यः कामसंभवः) काम की आसक्ति के कारण मैथुन हो गया हो जिसमें ऐसा।

अर्थात् यदि वर और कन्या काम के वश मैथुन करके परस्पर सम्बन्ध कर लें तो यह गन्धर्व विवाह हो।

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥२२॥ (३३)

(हत्वा छित्वा च) सम्बन्धियों को मार के या घायल करके (भित्वा च) या मकान को तोड़ कर (क्रोशन्तीं रुदतीम्) रोती चिल्लाती (गृहात् प्रसह्य कन्याहरणम्) बलात्कार घर से कन्या को उठा ले जाना (राक्षसः विधिः उच्यते) राक्षस विधि कहलाती है।

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २३॥
(३४)

(सुप्ताम्) सोती हुई को (मत्ताम्) नशा पिये हुई (वा प्रमत्ताम्) या पागल के साथ (रहः यत्र उपगच्छति) अकेले में जो मैथुन करता है, (स पापिष्ठः विवाहनाम्) वह विवाहों में सब से गिरा हुआ (पैशाचः च अष्टमः अधमः) यह आठवां सब से निकृष्ट पैशाच विवाह है।

---

३४ रहो वा यदि गच्छति (रा)
पैशाचः प्रथितोऽष्टमः; पैशाचः कथितोऽधमः;, पैशाचश्चाष्टमोऽधमः

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥२४॥ (३५)

(अद्भिः एव) जलों से ही (द्विजाग्र्याणाम्) ब्राह्मणों का (कन्यादानं विशिष्यते) विवाह श्रेष्ठ है । (इतरेषां तु वर्णानाम्) परन्तु और वर्णों का (इतर-इतर काम्यया) एक दूसरे की इच्छा से ।

अर्थात् जल लेकर संकल्प करना ब्राह्मण के लिए परम आवश्यक है । अन्य चाहे जल से संकल्प करें चाहे विना जल के केवल ज़बानी ही बातचीत कर सकते हैं ।

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥२५॥ (३९(

(ब्राह्म+आदिषु विवाहेषु चतुर्षु एव अनुपूर्वशः) ब्राह्म आदि चार विवाहों में ही क्रमशः (ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः) ब्रह्म तेज वाले और श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न होते हैं ।

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥२६(४०)

(रूपसत्त्वगुण—उपेताः) रूपवान सतोगुणी (धनवन्तः) धनवान (यशस्विनः) यशस्वी (पर्य्याप्त भोगाः) काफ़ी भोग वाले (धर्मिष्ठाः) धार्मिक (जीवन्ति च शतं समाः) और सौ वर्ष तक जीने वाले भी ।

---

३५ द्विजातीनां (गो)
प्रशस्यतं (मे); विशिष्यते (कु)
इतरेतरकांक्षया (रा)
४० धनवन्तो के स्थान में बलवन्तो (गो)

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥२७॥ (४१)

(इतरेषु तु शिष्टेषु) अन्य शेष प्रकार के विवाहों से (नृशंस-अनृत-वादिनः) निर्लज्ज और झूठे (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं (दुर्विवाहेषु) नीच विवाहों से (ब्रह्म-धर्म-द्विषः सुताः) नास्तिक तथा अधर्मी पुत्र ।

अर्थात् नीच विवाहों का सन्तान पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है ।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ २८ (४२)

(अनिन्दितैः स्त्री विवाहैः) धर्मयुक्त विवाहों से (अनिन्द्या भवति प्रजा) सन्तान भी धर्मशील होती है। (निन्दितैर्निन्दिता नृणाम्) मनुष्यों में दूषित विवाहों से दूषित संतान होती है। (तस्मात्) इस लिये (निद्यान्) दूषित विवाहों को (विवर्जयेत्) न करे ।

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥२९॥ (४५)

(ऋतु काल-अभिगामी स्यात्) ऋतु काल में ही स्त्री समागम करना चाहिये। (स्वदार निरतः सदा) केवल अपनी ही स्त्री से (पर्ववर्जम्) पर्व के दिनों को छोड़ कर (व्रजेत् च एनाम्) उसके साथ समागम करे, (तद्व्रतः) ऐसा व्रत करने वाला (रतिकाम्यया) संभोग की कामना से ।

---

४१ इतरेषुच शिष्टेषु; इतरेंषुतु शिष्टेषु; इतरेष्वचशिष्टेषु

अर्थात् किसी पुरुष को अपनी विवाहिता स्त्री को छोड़कर अन्य के साथ समागम न करना चाहिये। अपनी स्त्री के साथ भी पर्व के दिनों में समागम न करे। केवल ऋतुकाल में ही समागम करे।

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥३०॥ (४६)

(ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः) स्त्रियों की स्वाभाविक ऋतु रात्रियां सोलह हैं। (चतुर्भिः) चार (इतरैः सार्धम्) अन्यों के साथ (अहोभिः) दिनों के साथ (सद् विगर्हितैः) अच्छे पुरुषों से तिरस्कृत !

अर्थात् स्त्रियों के स्वाभाविक ऋतुकाल की सोलह रात्रियाँ हैं। इनमें पहली चार दोषयुक्त हैं।

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥३१॥(४७)

(तासाम्) उनमें (आद्याः चतस्रः तु निन्दिता + एकादशी च या त्रयोदशी च) पहली चार तथा एकादशी और त्रयोदशी दूषित हैं। (शेषाः तु प्रशस्ता दश रात्रयः) शेष दश रात्रियां ठीक हैं।

अर्थात् दश रात्रियों में ही स्त्री-समागम करना चाहिये।

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥३२(४८)

(युग्मासु पुत्राः जायन्ते) युग्म अर्थात् छठी, आठवीं रात के समागम से पुत्र उत्पन्न होते हैं। (स्त्रियः अयुग्मासु रात्रिषु)

---

४७ शेषाः स्युः; शेषास्तु

और अयुग्म रात्रियों अर्थात् सातवीं, नवीं रात में समागम से लड़की पैदा होती है। (तस्मात्) इस लिये (युग्मासु पुत्रार्थी संविशेत् आर्तवे स्त्रियम्) पुत्र की इच्छा करने वाला मनुष्य ऋतुकाल की युग्म रात्रियों में स्त्री-समागम करे।

युग्म जोड़े को कहते हैं जिनमें दो का भाग पूरा पूरा जा सके। जैसे ४, ८, १०, १६, २२

अयुग्म वह संख्या है जिसमें दो का भाग पूरा पूरा न जा सके।

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥३३॥
(४९)

(पुमान् पुंसः अधिके शुक्रे) पुरुष के वीर्य के अधिक होने पर लड़का होता है। (स्त्री भवत्यधिकेस्त्रियाः) और स्त्री के वीर्य अधिक होने से लड़की पैदा होती है (समे अपुमान् पुंस्त्रियौ वा) बराबर होने पर या तो नपुंसक या एक लड़का और एक लड़की (क्षीणे अल्पे च विपर्ययः) वीर्य के क्षीण होने पर या बहुत कम होने पर उलटा परिणाम होता है अर्थात् सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती।

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥३४॥(५०)

(निन्द्यासु अष्टासु च अन्यासु) शेष आठ अनुचित (रात्रिषु वर्जयन्) रात्रियों को छोड़कर (स्त्रियः) स्त्रियों के साथ

४९ शुक्रे के स्थान पर शुद्धे; समे के स्थान पर साम्ये

(यत्र तत्र आश्रमे वसन्) चाहे किसी आश्रम में क्यों न हो।
(ब्रह्मचारी एव भवति) ब्रह्मचारी ही रहता है।

अर्थात् यदि कोई मनुष्य उचित रात्रियों में ही और उचित रीति से ही स्त्री-समागम करता है तो उसको ब्रह्मचारी ही समझना चाहिये। चाहे वह किसी आश्रम में क्यों न हो।

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णंश्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥३५॥
(५१)

(न) न (कन्यायाः पिता) कन्या का पिता (विद्वान्) विद्वान् (गृह्णीयात्) लेवें (शुल्कम्) धन (अणु अपि) थोड़ा भी। (गृह्णन् शुल्कंहिं) धन लेता हुआ (लोभेन) लोभ से (स्यात्) होवे (नरः) आदमी (अपत्यविक्रयी) सन्तान को बेचने वाला।

कन्या के पिता को कुछ भी धन न लेना चाहिये। यदि लेगा तो उसको सन्तान बेचने का दोष लगेगा।

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥
३६॥(५२)

(स्त्रीधनानि) स्त्री-धन को (तु) तो (ये) जो लोग (मोहात्) अज्ञानता से (उपजीवन्ति) भोगते हैं (बान्धवाः) रिश्तेदार, (नारी यानानि) या स्त्री की सवारी को (वस्त्रं वा) या वस्त्र को (ते पापः) वे, पापी लोग (यान्ति अधोगतिम्) अधोगति को प्राप्त होते हैं।

---

५१ गृह्णन्दिशुल्कं (J)
५२ नारीर्यानानि (स, न

अर्थात् पति या उसके रिश्तेदारों को चाहिये कि बधू के धन, वस्त्र या घोड़े आदि सवारी लेने का यत्न न करें ।

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥३७॥

(५३)

(आर्षे) आर्ष विवाह में (गोमिथुनं शुल्कम्) एक जोड़ा बैल लेना (केचित् आहुः) कुछ लोग उचित बताते हैं, (मृषा एव तत्) यह सब मिथ्या है (अल्पः अपि एवम्) चाहे थोड़ा हो (महान् वा अपि) और चाहे बहुत हो (विक्रयः तावत् एव सः) वह तो बिल्कुल बेचना ही है ।

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥३८॥

(५४)

(यासाम्) जिन स्त्रियों के (न) नहीं (आददते) लेते हैं (शुल्कम्) धन, (ज्ञातयः) रिश्तेदार (न सविक्रयः) यह बेचना नहीं है । (अर्हणं तत् कुमारीणाम्) ऐसी कुमारियों की पूजा करना (आनृशंस्यं च केवलम्) सर्वथा ठीक है ।

अर्थात् लड़की के विवाह में कुछ भी न लेना चाहिये ।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥३९॥

(५५)

---

५३ तावानेव स विक्रयः (मे, रा)

५४ तु केवलम् (गो)

(एताः) ये (पितृभिः) पिताओं द्वारा (भ्रातृभिः च) और भाइयों द्वारा स्त्रियां (पतिभिः) पतियों द्वारा (देवरैः तथा) और देवरों द्वारा (पूज्याः) सत्कार के योग्य हैं (भूषयितव्याः च) और इनको वस्त्र भूषण आदि पहनाना चाहिये (कल्याणम् ईप्सुभिः) कल्याण चाहने वालों द्वारा।

अर्थात् जो बाप, भाई, पति या देवर अपनी भलाई चाहते हैं। उनको चाहिये कि स्त्रियों का सत्कार करें और वस्त्र, जेवर आदि से उनको संपन्न रक्खें।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥४०॥
(५६)

(यत्र नार्यः तु पूज्यन्ते) जिन घरों में स्त्रियों का सत्कार होता है (रमन्ते तत्र देवताः) वहाँ देवताओं का वास है। (यत्र एताः तु न पूज्यन्ते) जहाँ इनका सत्कार नहीं होता (सर्वाः तत्र अफलाः क्रियाः) वहाँ सब काम असफल होते हैं।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥४१॥
(५७)

(शोचन्ति जामयः यत्र) जिस कुल में स्त्रियाँ दुखी रहती हैं (विनश्यति आशु तत् कुलम्) वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है (न शोचन्ति तु यत्र एताः) जहां इन को कष्ट नहीं होता (वर्धते तत् हि सर्वदा) वह कुल सदा उन्नति करता है।

---

५६ रमन्ति (गो); यत्रैता नहि; सर्वास्तस्याफलाः (न)

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥४२॥
(५८)

(जामयः) स्त्रियाँ (यानि गेहानि) जिन घरों को (शपन्ति) शाप देती हैं (अप्रतिपूजिताः) अनादर पाई हुई (तानि) वे कुल (कृत्या-हतानि इव) विष के मारे जैसे (विनश्यति) नष्ट हो जाते हैं (समन्ततः) सब प्रकार से ।

तस्मादेनाः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥४३॥ (५९)

(तस्मात्) इसलिये (एताः सदा पूज्याः) इन स्त्रियों का सदा सत्कार होना चाहिये, (भूषण-आच्छादन + अशनैः) जेवर वस्त्र और भोजन से (भूतिकामैः नरैः) विभूति के इच्छुक आदमियों द्वारा। (नित्यम्) सदा, (सत्कारेषु उत्सवेषु च) अच्छे कामों और उत्सवों में

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥४४॥
(६०)

(सन्तुष्टः भार्यया भर्त्ता) स्त्री से पुरुष संतुष्ट हो (भर्त्रा भार्या तथा एव) उसी प्रकार पुरुष से स्त्री संतुष्ट हो (यस्मिन् एव कुले नित्यम्) जिस कुल में सदा। (कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्) उस कुल में अवश्य ही कल्याण होगा।

---

५९ तस्मादेताः सदाभ्यर्च्या (गो, न); तस्मादेताः समभ्यर्च्याः (रा); संकरेषूत्सवेषु (गो); सत्कारेणोत्सवेषु (स, न)

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥४५॥(६१)

(यदि हि स्त्री न रोचेत) यदि स्त्री अच्छी न हो (पुमांसं न प्रमोदयेत्) तो वह पुरुष को खुश न कर सकेगी। (अप्रमोदात् पुनः पुंसः) पुरुष के खुश न रहने से (प्रजनं न प्रवर्त्तते) सन्तान न होगी।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥४६॥
(६२)

(स्त्रियां तु रोचमानायाम्) स्त्री के प्रसन्न रहने पर (सर्वं तत् रोचते कुलम्) सब कुल प्रसन्न रहता है। (तस्यां तु अरोचमानायाम्) स्त्री के प्रसन्न न रहने पर (सर्वम् एव न रोचते) सब कुल भी प्रसन्न नही रहता।

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥४७॥
(६३)

(कुविवाहैः) अनुचित विवाह से (क्रिया लोपैः) धार्मिक कृत्य न करके (वेद + अनध्यनेन च) और वेद न पढ़ने से (कुलानि) कुल (अकुलतां यान्ति) अकुलता को प्राप्त होते अर्थात् नष्ट हो जाते हैं, (ब्राह्मणअतिक्रमेण च) और विद्वान् सत्पुरुषों की बात न मानने से।

---

६३ कुलान्याशु विनश्यन्ति

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥४८॥
(६७)

(वैवाहिके अग्नौ) विवाह की अग्नि में (कुर्वीत) करे (गृह्य कर्म यथाविधि) ठीक २ गृहस्थ का कार्य्य (पंच यज्ञ विधानं च) और संध्या हवन आदि पंच यज्ञ (पक्तिं च आन्वाहिकीम्) प्रति दिन का पकाना आदि (गृही) गृहस्थ पुरुष ॥

गृहस्थ पुरुष को चाहिये कि विवाह की अग्नि को जारी रक्खे और सन्ध्या आदि कर्म नित्य करता रहे ।

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥४९॥
(६८)

(पंच सूना गृहस्थस्य) गृहस्थ पुरुष के पांच हिंसा के स्थान हैं । (चुल्ली) चूल्हा, (पेषणी) चक्की, (उपस्कर) झाड़ू, (कण्डनी) ओखली, (च) और (उदकुम्भः च) घड़ोंची । (बध्यते याः तु वाहयन्) इनका प्रयोग करने से मनुष्य को हिंसा दोष लगने की संभावना है ।

अर्थात् प्रत्येक गृहस्थ चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और घड़ोंची का प्रयोग करने में किसी न किसी प्राणी की हिंसा कर देता है ।

---

६७ गार्ह्य (स)

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥५०॥
(६९)

(तासां क्रमेण सर्वासाम्) क्रम से उन सब के (निष्कृत्यर्थम्) निवारण के लिये (महर्षिभिः) महर्षियों द्वारा (पंच क्लृप्ताः महायज्ञाः) पांच महायज्ञ बताये गये (प्रत्यहम्) प्रति दिन करने के लिये (गृहमेधिनाम्) गृहस्थों के ।

अर्थात् महर्षियों ने कहा है कि चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और घड़ोंची के प्रयोग से मनुष्य को जो हिंसा का दोष लगता है उसके प्रायश्चित स्वरूप उसको नित्य क्रमशः पांच महायज्ञ करने चाहिये ।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥५१॥
(७०)

(अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः) पहला ब्रह्मयज्ञ अर्थात् पठन पाठन तथा जप (पितृयज्ञस्तु तर्पणम्) और दूसरा पितृयज्ञ अर्थात् माता पिता तथा बड़ों को अपने कार्य्यों से प्रसन्न (तृप्त) करना । (होमोदैवः) तीसरा देवयज्ञ या होम (बलिः भौतः) चौथा भूत यज्ञ अर्थात् अन्य प्राणियों को बलि या खाना देना । (नृयज्ञः अतिथि पूजनम्) पांचवां नर यज्ञ अर्थात् अतिथियों की सेवा करना ।

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥५२॥(७१)

(पंच एतान् यः महायज्ञान्) जो इन पांच महायज्ञों को (न हापयति शक्तितः) यथाशक्ति नहीं छोड़ता (स गृहे अपि वसन्) वह गृहस्थ होता हुआ भी (नित्यं सूनादोषैः न लिप्यते) कभी हिंसा के दोष में नहीं फंसता ।

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥५३॥(७२)

(देवता, + अतिथि, + भृत्यानां पितृणाम् आत्मनः च यः न निर्वपति पंचानाम्) जो मनुष्य इन पांचों को भोजन नहीं देता अर्थात् देवों, अतिथियों, नौकरों, माता पिता, तथा अपने आत्मा को (उच्छ्वसन् न स जीवति) वह सांस लेता हुआ भी नहीं जीता ।

अर्थात् जो पांच महायज्ञ नहीं करता वह मरे हुये के तुल्य है ।*

श्लोक नं० ५२ का यह व्याख्या रूप है ।

---

*नोट—बलि का अर्थ है भोजन, न कि मारना । भूतयज्ञ का अर्थ इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया अर्थात् भृत्यों को खाना देना ।

इसी प्रकार पितृयज्ञ का अर्थ हुआ माता पिता को खाना देना (मरे हुओं को नहीं) । ब्रह्मयज्ञ हुआ "आत्मा" को खाना देना । अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना और ईश्वर की उपासना करना । आत्मा की खुराक यही है, रोटी शरीर की खुराक है आत्मा की नहीं । 'नृयज्ञ'

---

७२ देवतातिथिभूतानां (न); भूतेभ्यः (मे)

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥५४॥
(७३)

इन पांच महायज्ञों के दूसरे नाम यह भी हैं। अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत, प्राशित ।

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥५५॥
(७४)

अहुत है जप अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, हुत है होम या देवयज्ञ, प्रहुत है बलिवैश्वदेव अर्थात् भूतयज्ञ, ब्राह्म-हुत है नरयज्ञ या ब्राह्मणों की पूजा । प्राशित है पितृयज्ञ अर्थात् माता पिता को संतुष्ट रखना ।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि ।
दैव कर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥५६॥
(७५)

(स्वाध्याये नित्य युक्तः स्यात्) सदा स्वाध्याय अर्थात् ब्रह्म यज्ञ में लगा रहना चाहिये (दैवे च एव इह कर्मणि) और देव-

---

का अर्थ हुआ अतिथियों या अभ्यागतों को खिलाना, न कि मनुष्यों को मार कर उनकी आहुति देना । देवयज्ञ तो होम स्पष्ट है ।

यज्ञ हिंसा के निवारणार्थ है न कि हिंसा करने के लिये । जो लोग यज्ञ का अर्थ कुर्बानी समझते हैं वह भूल करते हैं ।

७३-७४ ब्राह्मं (मे, स, न)

यज्ञ अर्थात् होम में भी। (दैव कर्मणि युक्तः हि बिभर्ति इदं चराचरम्) होम करने से मनुष्य चर और अचर सभी का भला करता है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥५७॥(७६)

(अग्नौ प्रस्ता आहुतिः सम्यक्) अग्नि में उचित रीति से डाली हुई आहुति (आदित्यम् उपतिष्ठते) सूर्य्य को प्राप्त होती है। (आदित्यात् जायते वृष्टिः) सूर्य्य से वृष्टि होती है। (वृष्टेः अन्नम्) वर्षा से अन्न होता है (ततः प्रजाः) और उस अन्न से प्रजा होती है। इस प्रकार हवन सब प्राणियों का पोषण करता है।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥५८॥
(७७)

(यथा वायुं सम्+आश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः) जैसे सब जीव वायु के आश्रय से जीते हैं। (तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वे आश्रमाः) इसी प्रकार गृहस्थ के सहारे सब आश्रम जीते हैं।

---

७७. यथा मातरमाश्रित्य (न)।
सर्वे जीवन्ति जन्तवः (मे, गो, न, रा); वर्तन्ते सर्वजन्तवः (L,B); वर्तन्ते गृहिणं तद्वदाश्रित्येतर आश्रमाः (न); वर्तन्त इतराश्रमाः (मे, गो, रा); वर्तन्ते सर्वे आश्रमाः (कु).

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥५६॥
(७८)

(यस्मात्) चूंकि (त्रयः अपि आश्रमिणः) ब्रह्मचर्य, वान-प्रस्थ तथा सन्यास तीन आश्रम वाले (ज्ञानेन अन्नेन च) दैनिक व्यावहारिक ज्ञान तथा अन्न के द्वारा (अन्वहं) प्रतिदिन (गृहस्थेन एव धार्यन्ते) गृहस्थ के द्वारा ही पाले जाते हैं, (तस्मात् ज्येष्ठ—आश्रमः गृही) इसलिये गृहस्थ सब आश्रमों में बड़ा है।

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥६०॥
(७९)

(सः) वह गृहस्थ आश्रम (संधार्यः) भली भांति धारण करने के योग्य है, (प्रयत्नेन) कोशिश करके (स्वर्ग अक्षयं इच्छता नित्यं) और इस लोक में नित्य सुख की इच्छा करने वाले द्वारा (यः आधार्यः दुर्बल-इन्द्रियैः) जो गृहस्थ आश्रम उन लोगों से धारण नहीं किया जा सकता जो दुर्बल इन्द्रिय हैं।

अर्थात् गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों से बड़ा है। दुर्बल लोग इसको धारण नहीं कर सकते। इस लिये जो लोग इस लोक या परलोक में सुख चाहते हैं उनको चाहिये कि गृहस्थ धर्म का पालन यत्न के साथ करें।

---

७८. गृहस्थैरेव (J);
ज्येष्ठाश्रमो गृही (मे, रा);
७९. स संधार्योऽपि; चेहेच्छतात्यन्तं (मे, न)

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥८१॥
(८०)

ऋषि, वृद्ध माता पिता, देव, भृत्य आदि अन्य प्राणी, और अतिथि। यह सब कुटुम्बियों अर्थात् गृहस्थ पुरुषों से आशा रखते हैं। इसलिये (कार्यं विजानता) ज्ञानी पुरुषों को गृहस्थ धर्म का पालन अवश्य करना चाहिये ।

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितॄन्श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥८२॥
(८१)

(स्वाध्यायेन अर्चयेत् ऋषीन्) स्वाध्याय अर्थात् पठन पाठन तथा जप आदि करके ऋषियों को प्रसन्न करना चाहिये (होमैः देवान् यथाविधि) और उचित् विधि से होम करके अग्नि वायु आदि देवों को । (पितॄन् श्राद्धैः च) भोजन आदि से माता-पिता को । (नॄन् अन्नैः) अन्न से अतिथियों को, (भूतानि बलि-कर्मणा) और चींटी आदि प्राणी तथा भृत्य आदि नौकरों को भोजन देके ।

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥८३॥
(८२)

---

८१. स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन्;
श्राद्धेन (मे, गो, रा, न)

८२. कुर्याद् (कु); दद्याद् (मे, गो, न, रा) ; प्रीतिमाहरन् (मे, गो)

(कुर्यात्) करे (अहः अहः) प्रतिदिन (श्राद्धं) श्राद्ध (अन्नाद्येन उदकेन वा) भोजन आदि और जल से, (पयः मूल-फलैः वा अपि) दूध, कन्द मूल फल आदि से (पितृभ्यः प्रीतिम् आवहन्) माता पिता को प्रीति पूर्वक बुला कर ।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥९४॥
(९०)

(शुनां) कुत्तों को (च पतितानां च) और पतितों को अर्थात् ऐसे पुरुषों को जो किसी घोर अपराध के कारण उच्च समाज से तिरस्कृत कर दिये गये हैं, (श्वपचां च) और चाण्डालों को, (पापरोगिणां) पाप रोगियों को, (वायसानां कृमीणां च) कौओं और चींटियों को (शनकैः) धीरे से (निर्वपेत् भुवि) भोजन भूमि में रख दे ।

कृत्वैतद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥९५॥
(९४)

(कृत्वा एतद् बलिकर्म एवम्) इस बलि-कर्म को करके अर्थात् कुत्तों, पतितों आदि को भोजन रख कर (अतिथिं पूर्वम् आशयेत्) पहले अतिथि को खिलावे । (भिक्षां च भिक्षवे दद्यात् विधिवत् ब्रह्मचारिणे) और भिक्षा के लिये आये हुये ब्रह्मचारी को भिक्षा देवे ।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥९६॥
(१०१)

(तृणानि) आसन, (भूमिः) स्थान, (उदकं) जल, (वाक् चतुर्थी च सूनृता) मीठी बोली (एतानि अपि सतां गेहे न उच्छिद्यन्ते कदाचन) सत् पुरुषों के घर में इन चार बातों की कमी नहीं होती।

अर्थात् सत्पुरुष दूसरों का कम से कम इन चार बातों से तो सत्कार कर ही देते हैं।

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥६७॥
(१०२)

एक रात रहने वाला ब्राह्मण अतिथि कहलाता है। (अनित्यं हि स्थितः यस्मात् तस्मात् अतिथिः उच्यते) थोड़े काल के लिये रहता है, इसलिये उसे अतिथि कहते हैं।

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥६८॥
(१०५)

(गृहमेधिना) गृहस्थ को चाहिये कि (सायं सूर्योढः अतिथिः अप्रणोद्यः) सूर्य्यास्त अर्थात् सायंकाल के पश्चात् जो अतिथि आवे उसको लौटने न दे। (काले प्राप्तः तु अकाले वा) चाहे समय पर आवे, चाहे कुसमय पर, (न अस्य गृहे अनश्नन् वसेत्) गृहस्थ के घर में अतिथि विना भोजन के न रहे।

अर्थात् गृहस्थ को अवश्य ही भोजन से अतिथि का सत्कार करना चाहिये।

---

१०५. गृहमेधिनाम् (रा, मे)

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥६९॥
(१०६)

(न वै स्वयं तत् अश्नोयात्) उस चीज़ को स्वयं न खावे, (अतिथिं यत् न भोजयेत्) जिसको अतिथि को न खिला सके। (धन्यं) धन का देने वाला, (यशस्यम्) यश का देने वाला, (आयुष्यम्) आयु का वढ़ाने वाला (स्वर्ग्यं वा) और परम आनन्द का देने वाला है (अतिथि पूजनम्) अतिथि का सत्कार करना।

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥७०॥(१०७)

(आसन + आवसथौ) वैठने के लिये आसन और रहने के लिये स्थान, (शय्याम्) विछौना (अनुव्रज्याम्) सत्कार पूर्वक कुछ दूर साथ चल कर अतिथि को विदा करना, (उपासनाम्) सेवा सुश्रूषा। (उत्तमेषु उत्तमं कुर्यात्, हीनं हीने; समे समम्) बड़ों के लिये वड़ी, छोटों के लिये छोटी और वरावर वालों के लिये वरावर करे।

अर्थात् यदि कई अतिथि आजावें तो उनको उनके पद के अनुसार आसन आदि देना चाहिये।

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥७१॥
(१०८)

---

१०६. भाजनम् (J, रा); पूजनम् (मे)

१०८ न भोजनार्थे (मे, गो, स); भोजनार्थेहि (मे, गो)

ब्राह्मण को चाहिये कि भोजन पाने की कोशिश में कभी अपने कुल और गोत्र को न कहे। अर्थात् भोजन के लिये कुल या गोत्र के नाम पर अपील करना बुरा है। (मैं अमुक प्रसिद्ध कुल या गोत्र का हूँ इस लिये मुझे खिला दो – ऐसा कहना निषिद्ध है)। (No body should exploit the name of his family for food)

भोजन के लिये जो कुल या गोत्र की दुहाई देता है उस को बुद्धिमान लोग (वान्ता-शी) उगिलन खाने वाला कहते हैं।

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान्।
प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥७२॥
(११३)

(इतरान् अपि सख्यादीन्) अन्य मित्र आदि को भी (संप्रीत्या गृहं आगतान्) जो प्रेम पूर्वक घर में आये हुये हों (प्रकृष्टं अन्नं) उत्तम भोजन (यथा शक्ति) अपनी शक्ति के अनुसार (भोजयेत्) खिलावे (सह भार्यया) स्त्री के साथ।

अर्थात् अतिथियों के अतिरिक्त अन्य मित्रादि को भी सत्कार पूर्वक भोजन कराना चाहिये।

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥७३॥
(११४)

---

११३ संस्कृत्यान्नं (प्रकृत्यान्नं के स्थान में)

११४ सुवासिनीः या सुवासिनी ; सुवासिनीं, स्ववासिनीः।
कुमारीश्च (J); कुमार्यश्च (गो); गर्भिणीस्त्रियः, गर्भिणीस्तथा (J)

(सुवासिनीः) नव वयस्क स्त्रियों को, (कुमारीः च) और विना व्याही हुई स्त्रियों को, (रोगिणः) बीमार पुरुष या स्त्रियों को, (गर्भिणीः स्त्रियः) और गर्भवती स्त्रियों को (अतिथिभ्यः अग्रे एव) अतिथियों से भी पूर्व (एतान् भोजयेत् अविचारयन्) विना संकोच के भोजन करा देना चाहिये ।

अदत्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥७४॥
(११८)

(अदत्वा तु) और न देकर (यः) जो (एतेभ्यः) इन अतिथि आदि को, (पूर्वं) पहले (भुंक्ते) खाता है (अविचक्षणः) मूर्ख । (सः भुंजानः) वह खाता हुआ (न जानाति) नहीं जानता है, (श्व + गृध्रैः) कुत्तों और गिद्धों द्वारा (जग्धिम्) खाये हुये (आत्मनः) अपने शरीर को ।

अर्थात् जो मूर्ख स्वयं खाता है परन्तु अतिथि आदि को नहीं खिलाता वह नहीं जानता कि विना कर्त्तव्य-पालन किये हुये खाने से जो शरीर बढ़ रहा है उसको तो मरने के पश्चात् कुत्ते और गिद्ध खाजायेंगे । इस लिये धर्म के विना शरीर बढ़ाना व्यर्थ है ।

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥७५॥
॥१६६ (११६)

११८ भुक्तवत्स्वपि (रा); भुक्तवत्सु तु (मे)
भुक्तवत्सुच ; भुक्तवत्सुषु (न) । बन्धुभृत्येषु (रा)

(भुक्तवत्सु) खा जाने पर (अथ विप्रेषु) ब्राह्मणों के (स्वेषु भृत्येषु च एव हि) और अपने नौकरों के भी (भुंजीयातां ततः पश्चात्) पीछे से खावें (अवशिष्टं) बचे हुये को (तु दम्पती) गृहस्थी और उसकी पत्नी ।

अर्थात् गृहस्थ स्त्री और पुरुष को चाहिये कि न केवल अतिथि ही किन्तु अपने नौकरों को भी खिलाकर खावें ।

अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥७६॥ (११८)

(अघं स केवलं भुंक्ते) वह पुरुष पाप का अन्न खाता है (यः पचति आत्मकारणात्) जो केवल अपने लिये ही पकाता है । (यज्ञशिष्टाशनं हि एतत्) यह जो यज्ञ से बचा हुआ अन्न है वही (सतां अन्नं) अच्छे पुरुषों का अन्न (विधीयते) कहा जाता है ।

अर्थात् गृहस्थ को चाहिये कि केवल अपना पेट पालने के लिये धन उपार्जन न करे । गृहस्थ के आश्रित तो अन्य सब हैं उनको खिलाना महायज्ञ है । इस यज्ञ को करके जो शेष रहे वही गृहस्थ के लिये पवित्र और धर्म-युक्त भोजन है ।

———

चौथा अध्याय

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१॥ (१)

(चतुर्थं आयुषः भागम्) आयु के चौथाई भाग में (उषित्वा) रह कर (आद्यं) पहले अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम में (गुरौ) गुरु के पास (द्विजः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (द्वितीय आयुषः भागम्) आयु के दूसरे भाग में (कृतदारः) विवाह करके (गृहे वसेत्) घर में वसे ।

अर्थात् आयु के चार भाग हैं । पहले भाग में गुरुकुल में ब्रह्मचर्य आश्रम और दूसरे में पत्नी के साथ गृहस्थ आश्रम ।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥२॥(२)

(अद्रोहेण एव भूतानाम्) प्राणियों को बिना पीड़ा पहुँचाये (अल्पद्रोहेण वा पुनः) या बहुत कम पीड़ा पहुँचाते हुये (या वृत्तिः) जो जीविका है (तां सम्+आस्थाय) उस को करके (विप्रः) ज्ञानी पुरुष (जीवेत्) जिये (अनापदि) आपत्ति रहित समय में ।

अर्थात् गृहस्थ को ऐसी जीविका धारण करनी चाहिये, जिस से किसी प्राणी को दुःख न हो, या कम से कम दुःख हो । जैसे यदि कोई गाड़ी जोतता है तो बैलों को सुख दे । कसाई आदि का पेशा कभी न करे । आपत्काल का धर्म अलग है ।

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥ (३)

(यात्रा-मात्र-प्रसिद्धि-अर्थं) केवल जीवन यात्रा पूरी करने के लिये अर्थात् जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिये (स्वैः कर्मभिः अगर्हितैः) अपने निन्दारहित अर्थात् शुभ कार्यों द्वारा (अक्लेशेन शरीरस्य) शरीर को बिना पीड़ा पहुँचाये (कुर्वीत) करे (धनसंचयम्) धन का संचय ।

अर्थात् धन कमाने में इतनी बातों का विचार रक्खे :— (१) केवल जीवन निर्वाह के लिये, न कि इकट्ठा करने के लिये । (२) निन्दित कर्म न हों । (३) शरीर को क्लेश न हो ।

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥४॥(४)

(ऋत + अमृताभ्यां जीवेत् तु) या तो ऋत और अमृत के द्वारा जीविका करे, (मृतेन प्रमृतेन वा) या मृत और प्रमृत के द्वारा । (सत्य-अनृताभ्यां अपि वा) या सत्य और अनृत से भी । (न श्ववृत्त्या कदाचन) परन्तु कुत्ते की वृत्ति से कभी नहीं ।

नोट—इन का लक्षण अगले श्लोक में देखिये ।

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥५॥ (५)

---

४ जीत्तु (J); जीवेत (गो, रा); जीवेच्च ।
अपि वा (J); अपि च (रा) ।
कथंचन (मे, न)

(ऋतं उञ्छशिलं ज्ञेयम्) **ऋत** कहते हैं विना बोये हुये अन्न या फूलफल को जंगलों से बीन लेने को। (अमृतं स्यात् अयाचितम्) विना भीख मांगे जो उपार्जन किया जाय, वह **अमृत** है। (मृतं तु याचितं भैक्षं) मांगे से जो भीख मिले वह मृत है। (प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्) और खेती को प्रमृत कहा है।

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥६॥ (६)

(सत्यानृतं तु वाणिज्यं) व्यापार को **सत्यानृत** कहते हैं। (तेन च एव अपि जीव्यते) इस से भी जीविका प्राप्त होती है। (सेवा श्ववृत्तिः आख्याता) दासता या गुलामी को कुत्ते की वृत्तिः कहते हैं। (तस्मात् तां परिवर्जयेत) इसलिये उसको छोड़ देवे।

यहाँ ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत पारिभाषिक शब्द हैं। इन की व्युत्पत्ति करके अर्थ निकालना समुचित प्रतीत नहीं होता।

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥ (७)

(कुसूलधान्यकः वा स्यात्) चाहे खत्ते में अन्न रखने वाला धनी हो, (कुंभी धान्यक एव वा) चाहे केवल घड़े में ही अन्न रखने वाला हो, (त्र्यहैहिकः=त्रि+अह+ऐहिकः वापि भवेत्) चाहे तीन दिन के लिये भोजन रखने वाला ही हो। (अश्वस्तनिकः =अ+श्वस्तनिकः) चाहे कल के लिये भी अन्न न रखता हो।

---

७ द्व्यहैहिको (न)

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ।
ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥८॥ (८)

(चतुर्णां अपि च एतेषां द्विजानां गृहमेधिनां) इन चारों पवित्र गृहस्थ द्विजों में (ज्यायान्) बड़ा (परः परः ज्ञेयः) पिछला पिछला जानना चाहिये । (धर्मतः लोकजित् तमः) धर्म से लोक को जीतने वाला ।

इन दो श्लोकों में चार प्रकार के द्विज बताये । एक वह जिनके पास साल भर के लिये अन्न है । यह अन्न को खलों में भर कर रखते हैं । दूसरे वह जो घड़े में अन्न रखने वाले हैं, अर्थात् जिनके पास एक मास के लिये भोजन है । तीसरे वह जो तीन दिन के लिये इकट्ठा कर लेते हैं । चौथे वह जो कल की भी परवाह नहीं करते । इन में पिछले एक दूसरे से अधिक त्यागी हैं । इसलिये श्रेष्ठ भी हैं । तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण को त्यागी होना चाहिये ।

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ६ ॥ (६)

(षट्कर्मा एकः भवति एषां) इन में एक छः कर्म करके जीविका करता है, (त्रिभिः अन्यः प्रवर्तते) दूसरा तीन काम करके । (द्वाभ्यां एकः) तीसरा दो काम करके । (चतुर्थः तु ब्रह्मसत्रेण जीवति) और चौथा ब्रह्मसत्र से । अर्थात् केवल यज्ञ करके निर्वाह करता है । इन में चौथा सब से अधिक निर्धन अतः सब से श्रेष्ठ है क्योंकि उस में धर्म के लिये त्याग की मात्रा अधिक है ।

---

६ चतुर्थश्च (रा)

वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः ।
इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा।१०।(१०)

(वर्तयन् च शिलोञ्छाभ्यान्) जंगल से फल फूल या अन्न को इकठ्ठा करके (अग्निहोत्रपरायणः) अग्निहो त्र का करने वाला (इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवलः) केवल पर्वों के अन्न वाली इष्टियों अर्थात् यज्ञों को (निर्वपेत) सदा रचा करे ।

परोपकार में लगे हुए ब्राह्मण के लिए इतना भी बहुत है कि वह जंगल से फल फूल लाकर ही पर्वों के अन्त की इष्टियों को कर देवे ।

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ।११। (११)

जीविका के लिये कभी लोगों को प्रसन्न करके नाटक आदि का पेशा न करे । (अजिह्माम्) पाप रहित, (अशठां) धोखा न देने वाली, (शुद्धां) शुद्ध (जीवेत् ब्राह्मण—जीविकान्) ब्राह्मण के योग्य जीविका को करे ।

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ।१२। (१२)

(संतोषं परं आस्थाय) पूरा संतोष करके (सुखार्थी संयतः भवेत) सुख चाहने वाला और संयम में रहने वाला होवे । संतोष सुख का मूल है और उसका उल्टा असन्तोष दुःख का मूल है ।

---

१० वर्तयस्तु (रा)
११ लोकवृत्तिं (गो)
१२ तु सुखं

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥१३॥
(१३)

(अतः) इस लिये (अन्यतमया वृत्या) किसी एक वृत्ति या जीविका के द्वारा (जीवन् तु) जीता हुआ (स्नातकः द्विजः) द्विज स्नातक (स्वर्ग + आयुष्य + यशस्यानि व्रतानि इमानि) इन स्वर्ग, आयु और यश को देने वाले व्रतों को (धारयेत्) करे ।

वेदोदित स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ।१४
(१४)

(वेद + उदितं स्वकं कर्म) वेद बताये हुये अपने कर्म को (नित्यं कुर्यात् अतीन्द्रतः) विना आलस्य के नित्य करे । (तत् हि कुर्वन् यथाशक्ति) उसी को यथाशक्ति कर (प्राप्नोति परमां गतिम्) परम गति को प्राप्त होता है ।

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ।१५।(१५)

(न ईहेत) न कमावे (अर्थान्) धनों को (प्रसंगेन) गाना बजाना करके, (न विरुद्धेन कर्मणा) न धर्म विरुद्ध काम करके । (न विद्यमानेषु अर्थेषु) यदि घर में धन हो तो भी धन न कमावे, (न आर्त्यां अपि) धन न होने पर भी (यतः ततः) इधर उधर से अर्थात् दूषित साधनों से न कमावे ।

---

१३ स्वर्ग्यायुष्य (J)

१५ कल्पमानेष्वर्थेषु (मे, गो)
समन्ततः (यतस्ततः के स्थानमें)

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ।१६। (१६)

कामतः अर्थात् भोग की इच्छा से इन्द्रियों के किसी विषय में न फंसे । (अति प्रसक्तिं च एतेषां) इन इन्द्रियों की अत्यन्त लोलुपता को (मनसा) विचारपूर्वक तथा दृढ़तापूर्वक (संनिवर्तयेत्) दूर करे । विषयों में न फंसने दे ।

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥१७॥ (१७)

धन कमाने के जो साधन स्वाध्याय के विरोधी हों उन सब को त्याग दे । (यथा तथा) जैसे बन पड़े वैसे ही (अध्यापयन् तु) पढ़ना पढ़ाना चाहिये (सा हि अस्य कृतकृत्यता) यही उस ब्राह्मण की सफलता है । अर्थात् ब्राह्मणत्व इसी में है कि किसी प्रकार पठन पाठन हो सके ।

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेषवाग्बुद्धि सारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥१८॥(१८)

(वयसः) आयु, (कर्मणः) चाल चलन (अर्थस्य) धन (श्रुतस्य) विद्या (अभिजनस्य च) और कुल के अनुसार (वेष वाक् बुद्धि सारूप्यं) वस्त्र आदि, बातचीत और बुद्धि की अनुकूलता को (आचरेत्) करता हुआ (विचरेत् इह) इस संसार में विचरे ।

---

१६ प्रसज्जेत (रा)

अर्थात् अपनी परिस्थिति को देख उसी के अनुकूल वस्त्र पहनना चाहिये, बात करनी चाहिये तथा अन्य व्यवहार करना चाहिये।

बुद्धि वृद्धि कराण्याशु धन्यानि च हितानि च
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ।१९।

(१९)

(बुद्धि-वृद्धि कराणि आशु) शीघ्र बुद्धि बढ़ाने वाले (धन्यानि च) धन को देने वाले (हितानि च) और हितकारक (शास्त्राणि) शास्त्रों को (निगमान् च एव वैदिकान्) और वेदों के सहायक ग्रन्थों को (नित्यं) सदा (अवेक्षेत्) ध्यान में रक्खे।

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ।२०।

(२०)

जैसे जैसे मनुष्य शास्त्र को पढ़ता है, वैसे वैसे वह ज्ञानी होता है और (विज्ञानं च अस्य रोचते) विज्ञान में उसकी रुचि बढ़ती है।

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥

(२१)

जहाँ तक बन पड़े ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नरयज्ञ, और पितृयज्ञ का कभी त्याग न करे। इन यज्ञों की व्याख्या के लिये देखो अध्याय ३ श्लोक ५२, ५३।

---

१९ शास्त्राणि वोक्षेत

२१ तथैव च

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते ,पौर्णमासेन चैव हि ॥२२॥

(२५)

(अग्निहोत्रं च जुहुयात्) और अग्निहोत्र करे। (आदि + अन्ते द्यु निशोः) रात दिन के आरम्भ और अन्त में सदा। (दर्शेन च अर्धमास + अन्ते) अर्थात् आधे मास के समाप्त होने पर दर्शयज्ञ अर्थात् अमावस्या का यज्ञ करे। (पौर्णमासेन च एव हि) मास के अन्त में पूर्णमासी के दिन पौर्णमास यज्ञ करे। 'दर्श' का अर्थ है शुक्ल पक्ष की द्वितीया जिस दिन चन्द्र-दर्शन होता है। दर्श यज्ञ अमावस्या से आरंभ होता है। अतः अमावस्या से आरंभ होने वाले यज्ञ को दर्शयज्ञ कहते हैं।

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ।२३।

(२६)

(आसन + अशन + शय्याभिः) आसन, खाना, बिछौना, (अद्भिः) जल (मूल फलेन वा) और कन्द मूल फल आदि से (अस्य कः चित् गेहे) इसके घर में कोई भी (शक्तितः) जहाँ तक हो सके (न अनर्चितः अतिथिः) अतिथि विना सत्कार के न रहे।

अर्थात् अतिथि की अवश्य ही सेवा सुश्रुषा करनी चाहिये।

---

२५ अग्निहोत्रं तु (मे)
ऽहर्निशं सदा (गो)
२६ ऽनर्चितः शक्तितो (मे)

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान्वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥२४॥
(३०)

(पाषण्डिनः) पाखंडी, (विकर्मस्थान्) कुकर्मी (वैडाल-व्रतिकान्) बिल्ली की सी वृत्ति वाले (शठान्) दंभी (हैतुकान्) कुतर्क (वकवृत्तीन्) वगले की सी वृत्ति वाले । ऐसे लोगों का (वाक् मात्रेण अपि न अर्चयेत्) वाणी मात्र से भी सत्कार न करे ।

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥२५॥ (३१)

(वेदविद्या व्रत स्नातान्) वेद पढ़े, हुये ज्ञानी और ब्रह्मचर्य व्रत को पालने वाले (गृहमेधिनः) धर्म पूर्वक गृहस्थ का पालन करने वालों का (पूजयेत् हव्य कव्येन) आवश्यक पदार्थों द्वारा सत्कार करे । (विपरीतान् च वर्जयेत्) इन से विरुद्ध लोगों का सत्कार न करे । 'हव्य' का अर्थ है सामग्री जो होम में डाली जाती है । 'कव्य' का अर्थ है भोजन, रोटी दाल, आदि जिनको पकाकर खाने के काम में लाते हैं । 'हव्य कव्य' मुहावरे में आवश्यक वस्तुओं का नाम है जैसे भोजन, वस्त्र, आदि ।

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥२६॥(३२)

---

३१ गृहमागतान् (न)
विपरीतांस्तु (मे, गो, रा, न); विपरीतांश्च ; विपरीतान्वि०

(शक्तितः) शक्ति के अनुसार (अपचमानेभ्यः) उन सन्यासी या ब्रह्मचारी आदि के लिये जो स्वयं अपना खाना नहीं पकाते अर्थात् जिनका घर द्वार नहीं है, (दातव्यं गृहमेधिना) गृहस्थ को देना चाहिये। और बिना किसी रुकावट के सब प्राणियों के लिये उनके अधिकार के अनुसार बांट कर देना चाहिये। गृहस्थी का कर्तव्य है कि सन्यासी ब्रह्मचारी आदि को अवश्य दे। और गाय, कुत्ता आदि प्राणियों का भी भाग अलग निकाल दे।

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा।
याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः॥२७॥

(३३)

(राजतः धनं अनु + इच्छेत्) राजा से धन मांगले (संसीदन् स्नातकः क्षुधा) भूख से पीड़ित हुआ स्नातक। (याज्य + अन्तेवासिनः वा अपि) या यजमान तथा शिष्य से (न तु अन्यतः) और किसी से नहीं। (इति स्थितिः) ऐसी स्थिति है। अर्थात् स्नातक भूखा हो तो पहले राजासे मांगे। या यजमान् से जिसके घर यज्ञ कराया हो, या शिष्य से जिसको पढ़ाया हो।

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥२८॥

(३४)

(न सीदेत्) संतोष से न बैठे (स्नातकः विप्रः) स्नातक ब्राह्मण (क्षुधाऽशक्तः) भूख से पीड़ित होकर (कथंचन) कभी।

---

३३ धनमन्विच्छन्

(न जीर्णमलवत् वासा) न फटे या मैले कपड़े से (भवेत् च) रहे (विभवे सति) धन होने पर।

अर्थात् ब्राह्मण को चाहिये कि धन न रहने पर तो धन के लिये उपाय करे। केवल दैव के भरोसे संतुष्ट हो कर हाथ पर हाथ धरे न बैठा रहे। यदि उसके पास धन हो तो कंजूसी न करे। स्वच्छ वस्त्र आदि में उस धन को व्यय करे।

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥२६॥
(३५)

(क्लृप्त + केश + नख + श्मश्रुः) बाल, नाख़ून, डाढ़ी, मौंछ आदि को यथाविधि कटवाकर (दान्तः) इन्द्रियों को वश में रख के (शुक्ल + अम्बरः) स्वच्छ वस्त्र धारण करे, (शुचि) पवित्र (स्वाध्याये च एव युक्तः) और स्वाध्याय में लगा हुआ (स्यात्) रहे। (नित्यं) सदा (आत्म हितेषु च) आत्मोन्नति करने में भी।

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥३०॥
(३६)

(वैणवीं धारयेत् यष्टिं) बांस की लाठी रक्खे। (स + उदकं च कमण्डलुं) और जल भरा कमडण्लु (यज्ञोपवीतं) जनेऊ, (वेद च) और वेद (रौक्मे च कुण्डले) और कानों में सोने के कुण्डल।

---

३५ शुद्धाम्बरः। चैवयुक्तः (J); नित्ययुक्तः (स)

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥३१॥
(३७)

(न ईक्षेत) न देखे (उद्यन्तं आदित्यं) निकलते हुये सूर्य्य को (न अस्तं यान्तं कदाचन) न कभी अस्त होते हुये सूर्य्य को (न उपसृष्टं) न ग्रहों से मिले हुये सूर्य्य को जैसे सूर्य्यग्रहण आदि के समय (न वारिस्थ) न जल में छाया पड़ते हुये को। (न मध्यं नभसः गतं) न दोपहर के समय बीच आकाश में गये हुये सूर्य्य को।

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥३२॥
(३८)

(न लंघयेत् वत्सतंत्री) बछड़े की रस्सी को न लांघे। (न प्रधावेत् च वर्षति) वर्षा में न दौड़े, (न च उदके निरीक्षेत स्वंरूपं) और न जल में अपना रूप देखे (इति धारणा) ऐसा नियम होना चाहिये।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥३३॥ (४०)

(न उप गच्छेत् प्रमत्तः अपि स्त्रियं आर्तवदर्शने) चाहे कितना ही कामातुर क्यों न हो रजस्वला स्त्री से उपभोग न करे। और न उसके साथ एक चारपाई पर सोवे।

---

३७ नास्तमितं; नास्तं येतं (मे)

३८ स्वरूपं (मे, रा)

४० कदाचन

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥३४॥ (४१)

(रजसा अभिप्लुतां नारीं हि उपगच्छतः नरस्य प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुः आयुः च एव प्रहीयते) रजस्वला नारी से उपभोग करने वाले मनुष्य की बुद्धि, तेज, बल, आंखों की रोशनी तथा आयु क्षीण हो जाती है।

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥३५॥ (४२)

जो रजस्वला स्त्रीसे भोग नहीं करता उसकी बुद्धि, तेज बल, आंखों की रोशनी तथा आयु बढ़ती है।

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम्
॥३६॥ (४३)

(न अश्नीयात् भार्यया सार्धं) स्त्रीके साथ खाना न खाय। (न एनां ईक्षेत च अश्नतीम्) और न उस को खाते हुये देखे। (क्षुवतीं) छींकती हुई को, (जृम्भ माणां वा) या जंभाई लेती हुई को (न च आसीनां यथासुखं) न उस समय जब वह आराम कर रही हो।

---

४२ प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुर् (गो, कु); प्रज्ञा तेजो बलं चैव; प्रज्ञालक्ष्मी यशश्चक्षु (मे, न)। विवर्धते (गो)

४३ च न यथा सुखमास्थितम्

नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।
न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥३७॥
(४४)

(न अंजयन्तीं स्वके नेत्रे) न उस समय जब वह अपने नेत्रों में काजल लगा रही हो । (न च अभ्यक्तां अनावृताम्) न जब वह नंगी तेल मल रही हो । (न पश्येत् प्रसवन्तीं च) न जब वह बच्चा जन रही हो । (तेजस्कामः द्विजोत्तमः) तेज का चाहने वाला ब्राह्मण ।

उपेत्य स्नातको विद्वान् नेक्षेन् नग्ना परस्त्रियम् ।
सरहस्यं च सम्वादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥३८॥

विद्वान् स्नातक को चाहिये कि पराई स्त्री को नंगी न देखे । और न अकेले में पराई स्त्री से बात चीत करे ।

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥३९॥
(४५)

(न अन्नं अद्यात् एकवासा) एक वस्त्र पहन कर न खावे । अर्थात् खाते समय कोई तौलिया या अंगोछा आदि रखले । (न नग्नः स्नानं आचरेत्) न नंगा नहाय । (न मूत्रं पथि कुर्वीत्) न मार्ग में पेशाब करे, (न भस्मनि) न राख में, (न गोव्रजे) न गोशाला में ।

यहां शायद भस्म से आशय श्मशान में मृतक की भस्म से है ।

---

४४ श्रेयस्कामो

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥४०॥ (४६)

(न फालकृष्टे) न जुते खेत में, (न जले) न जल में, (न चित्यां) न हवन के लिये चिने हुये कुण्ड में, (न च पर्वते) न पर्वत में, (न जीर्ण देवायतने) न पुराने देवालय में, (न वल्मीके) न चींटी के बिल में (कदाचन) कभी ।

न ससत्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥४१॥ (४७)

न उन बिलों में जिनमें जीव रहते हैं, न चलते हुये, न खड़े होकर, न नदी के किनारे बैठकर और न पर्वत की चोटी पर से ।

तिरस्कृत्याचरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना ।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥४२॥
(४८)

(तिरस्कृत्य) शरीर को छिपा कर (उच्चरेत्) मल-मूत्र त्याग करे (काष्ठलोष्ठ पत्र तृणादिना) काठ, ढेला, पत्ती, तृण आदि से (नियम्य प्रयतः वाचं) वाणी को रोक कर (संवीताङ्गः) कपड़े से शरीर ढक कर (अवगुण्ठितः) और गठा हुआ शरीर करके ।

अर्थात् मलमूत्र त्यागते समय बोले नहीं । परदे में रहे और शरीर को कड़ा करले ।

---

४७ नदीतीरमास्थाय

४८ काष्टं लोष्टं पत्रं तृणानि च (मे, रा, गो)

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् ।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥४३॥
(५३)

(न अग्निं मुखेन उपधमेत्) आग को मुख से न फूंके। (नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्) स्त्री को नंगी न देखे। (न अमेध्यं प्रक्षिपेत् अग्नौ) नापाक चीज़ को आग में न डाले। (न च पादौ प्रतापयेत्) न पैरों को तपावे।

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् ।
न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥४४॥
(५४)

(अधस्तात् न उपदध्यात् च) आग को चारपाई के नीचे न रक्खे। (न च एनं अभिलङ्घयेत्) और न इसको लांघे। (न च एनं पादतः कुर्यात्) न इसको पैर से कुचले, (न प्राण + आबाधम् आचरेत्) न किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचावे।

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् ।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥४५॥
(५६)

(न अप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्) जल में मल, मूत्र, थूक न डाले। (अमेध्यलिप्तं अन्यत् वा) या नापाक कोई चीज़ (लोहितं) वा रुधिर (विषाणि वा) या विषैली चीज़।

---

५४ चैवमभिलङ्घयेत् (मे)। प्राणिवधम् (गो)

५६ च

नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् ।
नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥४६॥
(५७)

(न एकः सुप्यात् शून्य गेहे) सूने घर में अकेला न सोवे । (श्रेयांसं न प्रबोधयेत्) बड़ों को सोते से न जगावे । (न उदक्यया अभिभाषेत) रजस्वला स्त्री से बात न करे (यज्ञं गच्छेत् न च अवृतः) बिना बुलाया हुआ यज्ञ में न जावे ।

नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पवते वसेत् ॥४७॥(६०)

अधर्मियों के गांव में न बसे । (न व्याधि बहुले भृशं) न ऐसे गांव में रहे जहाँ बीमारी बहुत फैली हो । (न एकः प्रपद्येत अध्वानं) न अकेला राह चले (न चिरं पर्वते वसेत्) बहुत काल तक पर्वत में भी वास न करे ।

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नापसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥४८॥
(६१)

शूद्र अर्थात् मूर्ख, कर्तव्य विहीन राजा के राज्य में न बसे । न वहां जहाँ अधर्मी पुरुष रहते हों जैसे चोर, ठग आदि । न जहाँ पाखंडी रहते हों, न जहाँ अन्त्यज अर्थात् अत्यन्त मैले लोग रहते हों ।

---

५७ शून्यगृहे स्वप्यात् (मे, रा); स्वप्याच्छून्यगृहे (गो, मे) । नश्रेयांसं (स); नशयानं (न)

६१ पाषण्डिजना० (मे, गो, रा) ; पाषण्डिगणा० (न) ; पाषण्डिजनाकुले

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।
नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥४९॥
(६२)

(न भुंजीत) न खावे (उद्धृत-स्नेहं) वह पदार्थ जिसकी चिकनाई या रस निकाल लिया गया हो। अर्थात् रस निकलने से जो फोक रह जाता है वह व्यर्थ है। (न अति-सौहित्यं आचरेत्) न बहुत खावे। (न अति प्रगे) न बहुत तड़के, (न अतिसायं) न बिल्कुल शाम को (न सायं प्रतिराशितः) यदि प्रातःकाल बहुत खालिया हो तो शाम को न खावे।

न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् ।
नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥५०॥
(६३)

(न कुर्वीत वृथा चेष्टां) निरर्थक काम न करे (न वारि अंजलिना पिबेत्) अंजलि से पानी न पिये। (न उत्संगे भक्षयेत् भक्ष्यान्) खाने की चीजों को गोद में रख कर न खावे (न जातु स्यात् कुतूहली) न कुतूहली हो अर्थात् विना किसी प्रयोजन के किसी बात को जानने की इच्छा न करे।

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥५१॥
(६५)

(न पादौ धावयेत् कांस्ये कदाचित् अपि भाजने) कभी कांसे के बर्तन में पैर न धुलावे, (न भिन्नभाण्डे भुंजीत) न टूटे बर्तन

---

६२ नाति प्रातर (गो); नातिप्रागे (मे)।

६३ भक्षान् ; भक्ष्यान् ; भक्षं ; भक्ष्यं

में खावे, (न भाव प्रदूषिते) जिसके मन में कपट हो उसके घर भी न खावे।

उपानहौ च वासश्च घृतमन्यैर्न धारयेत्।
उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च ॥५२॥ (६६)

(उपानहौ) जूते, (वासः च) और कपड़े (घृतं अन्यैः) जिनको औरों ने पहना हो (न धारयेत्) न पहने। (उपवीतं) न यज्ञोपवीत, (अलंकारं) न ज़ेवर, (स्रजं) माला (करक एव च) और न कमंडल।

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥५३॥ (६७)

(न अविनीतैः व्रजेत् धुर्यैः) न चले विना सीखी हुई सवारी अर्थात् घोड़ा आदि पर। (न च क्षत्-व्याधि पीडितैः) न उन पर जो भूख से पीड़ित हैं। (न भिन्न शृंग + अक्षि + खुरैः) न उन पर जिनके सींग, आंख या खुर टूटे हों। (न वालधि विरूपितैः) न उन पर जिनकी पूंछ घायल होगई हो।

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः।
वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥५४॥ (६८)

(विनीतैः तु व्रजेत् नित्यम) सदा शिक्षित घोड़े आदि पर चले। (आशुगैः) तेज़ चलने वालों पर। (लक्षण-अन्वितैः) शुभ लक्षण वालों पर। (वर्ण + रूप + उपसंपन्नैः) अंग और रूप में जो सुन्दर हो उन पर। (प्रतोदेन) कोड़े या अंकुश से

---

६८ प्रतोदेनाक्षिपन् (म)

(अतुदन्) पीड़ा न देता हुआ (भृशम्) बहुत । अर्थात् सुन्दर घोड़े हाथी आदि पर सवारी करे और उनको बहुत न मारे ।

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम् ।
न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥५५॥
(६९)

(बाल + आतपः) प्रातः काल की धूप (प्रेत-धूमः) मुर्दे की जलती लाश का धुआँ (वर्ज्यं) त्याज्य है। (भिन्नं तथा आसने) इसी प्रकार फटा हुआ आसन। (न छिन्द्यात् नख लोमानि) नाखूनों से शरीर के बालों को न उखाड़े। (दन्तैः न उत्पाटयेत् नखान्) न दांतों से नाखूनों को काटे।

न मृल्लोष्ठं च मृद्नीयान्न छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ।
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥५६॥
(७०)

(न मृत्-लोष्टं च मृन्दीयात्) न मिट्टी के ढेले को फोड़े (न छिन्द्यात्) न तोड़े (करजैः) उंगलियों से (तृणम्) तिनके को। अर्थात् उंगलियों से मिट्टी फोड़ना या तिनका तोड़ना ठीक नहीं। (न कर्म निष्फलं कुर्यात्) कोई कर्म बिना प्रयोजन के न करे (न आयत्यां असुख-उदयं) न ऐसा काम जिससे भविष्य में दुःख का उदय हो।

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥५७॥
(७१)

---

७० मृल्लोष्टं विमृद्नीयान् (मे); मृल्लोष्टानि मृद्नीयान् (न)

(लोष्ट-मर्दी:) उपर्युक्त रीति से मिट्टी के ढेले को मसलने वाला नर । (तृणच्छेदी) और तिनका तोड़ने वाला, (नखं खादी च यः नरः) और जो मनुष्य नाखून चबाता है (स विनाशः व्रजति आशु) वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । (सूचकः) चुगुल-खोर (अशुचिः एव च) और जो बाहर या भीतर की अशुद्धि रखता है ।

न विगर्ह्य कथां कुर्याद्‌बहिर्माल्यं न धारयेत् ।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥५८॥

(७२)

(न विगर्ह्य कथां कुर्यात्) उद्दण्डता से बात न करे । (बहिः माल्यं न धारयेत्) माला बाहर की ओर न पहने । (गवां पृष्ठेन यानं च) गायों की पीठ पर सवारी करना (सर्वथा एव विगर्हितम्) सदा निन्दनीय है ।

अद्वारेण च नातीयाद्ग्रामं वा वेश्म वावृतम् ।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ५९ ॥

(७३)

(अद्वारेण च न अतीयात) द्वार को छोड़ कर अन्य किसी रीति से अर्थात् कूद फांद कर न जावे, (ग्रामं वेश्म वा आवृतं) ऐसे गांव या घर में जिसके चारों ओर परकोटा खिचा हो । रात के समय वृक्ष की जड़ों को दूर से ही त्याग दे ।

---

७२ विगृह्य; विगर्ह्य । कथाः (रा) । विवर्जयेत् (रा)

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥६०॥
(७४)

(न अक्षैः क्रीडेत् कदाचित्) कभी जुआ न खेले। (तु स्वयं न उपानहौ हरेत्) जूतों को हाथ में लेकर न चले। (शयनस्थः न भुंजीत) चारपाई पर बैठकर न खावे। (न पाणिस्थं) हाथ में एक बार बहुत सा लेकर थोड़ा थोड़ा करके जैसा बहुत से किया करते हैं न खावे। (न च आसने) आसन पर थाली रखकर भी न खावे।

सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥६१॥
(७५)

(सर्वं च तिलसंबधं न अद्यात् अस्तमिते रवौ) रवि के अस्त होने पर कोई तिल-वाली चीज़ न खावे। (न च नग्नः शयीत इह) संसार में नंगा कभी न सोवे। (न च उच्छिष्टः कचित् व्रजेत्) न झूठे मुंह कहीं जाये।

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥६२॥
(७६)

---

७४ कदाचिच्च (J)

७५ तिलसंबन्धं (स, न) । अस्तमयं प्रति ; अस्तमिते । कथंचन ।

७६ संविशेन्न कदाचन

(आर्द्र पादः तु भुंजीत) पैर धोकर खाय । (न आर्द्र पादः तु संविशेत्) गीले पैर कभी सोवे न । (आर्द्र पादः तु भुंजानः दीर्घं आयुः अवाप्नुयात्) जो पैर धोके खाता है उसकी भी बड़ी आयु होती है ।

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् ।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥६३॥
(७७)

ऐसे क़िले में कभी न जावे जो अचक्षुर्विषय है अर्थात् कभी देखा हुआ नहीं । न मल मूत्र को देखे । और बाहों से नदी न तैरे।

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः ।
न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥६४॥
(७८)

(अधितिष्ठेत् न) न बैठे (केशां) बालों के ऊपर, (तु न भस्म अस्थि कपालिकाः) न राख पर, न हड्डियों पर, न खपरों के टुकड़ों पर, (न कार्पास-अस्थि) न बिनौलों पर, (न तुषान्) न भूसे पर । (दीर्घं आयुः जिजीविषुः) बहुत काल तक जीने की इच्छा करने वाला ।

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः॥६५॥
(७९)

---

७९ संवसेत्तु (मे); संविशेच्च (गो); संविशेत्तु (रा) ।
पुष्कसैः (मे, गो) ; पुक्कसैः ।

पतितों के साथ न रहे। न चांडालो के साथ। न पुल्कस अर्थात् कुलटा स्त्री की सन्तान के साथ। न मूर्खों के साथ। न घमण्डियों के साथ। न अत्यन्त नीचों के साथ। न उनके साथ जो नीचों के साथ रहने में रुचि रखते हैं।

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥६६॥

(८२)

(न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेत् आत्मनः शिरः) दोनों हाथों को जोड़ कर अपना सिर न खुजलावे। (न स्पृशेत् च एतत उच्छिष्टः) न झूठे हाथ से सिर को छुये। (न च स्नायाद् विना ततः) स्नान करने में ही सिर से आरम्भ करे।

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत्।
शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत् ॥६७॥

(८३)

(केश ग्रहान्) बाल खींचना, (प्रहारान् च शिरसि) सिर में मारना। (एतान् विवर्जयेत्) यह काम त्याज्य हैं। सिर में तेल लगाकर किसी अंग को भी न छुये।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ६८ ॥

(९२)

---

८२ कण्डूयेता० (मे, गो, रा)

८३ सदा शिरांसि वर्जयेत (रा)

९२ क्लेशं च तन्मूलं (गो)

(ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत) ब्रह्ममुहूर्त अर्थात् उषाकाल से पहले उठे। (धर्मार्थौ च अनुचिन्तयेत्) धर्म अर्थात् परोपकार और अर्थ अर्थात् अपने लिये धन कमाने की विधियों का चिंतन करे। (कायक्लेशान् च तद्-मूलान्) अर्थात् धर्म-अर्थ के करने में शरीर को क्या कष्ट होगा उस पर भी विचार करे (वेद तत्त्वार्थम् एव च) और वेद के तत्व पर भी विचार करे।

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ६९ ॥ (९३)

उठकर और आवश्यक शौच आदि कर्मों को करके, प्रातः काल की संध्या को देर तक करे। सायंकाल की संध्या को भी।

ऋषयो दीर्घसंध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ७० ॥ (९४)

देर तक संध्या करने से ऋषियों ने दीर्घ आयु पाई। बुद्धि भी, यश भी, कीर्ति भी और ब्रह्म-तेज भी।

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ ७१ ॥ (९५)

(श्रावण्याम्) श्रावणी (प्रौष्ठपद्यां वा अपि) या प्रौष्ठपदा-अर्थात् भादों की पूर्णमासी को (उपाकृत्य यथाविधि) नियमानु

---

९४ अवाप्नुवन् (गो, न)

सार व्रत करके (युक्तः छन्दांसि अधीयीत) वेद पढ़े (मासान् अर्धपंचमान्) साढ़े पांच मासतक (विप्रः) बुद्धिमान ।

पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ७२ ॥

(९६)

(पुष्ये तु) पूस की पूर्णमासी को (छन्दसाम्) वेदों का (कुर्यात्) करे (बहिः) बाहर (उत्सर्जन) छोड़ना (द्विजः) ब्राह्मण । (माघ शुक्लस्य वा प्राप्ते) या माघ शुक्ल के (पूर्वाह्णे प्रथमे अहनि) पहले दिन के दोपहर से पहले । अर्थात् वेद के उपाक्रम की यह अवधि है । श्रावणी से लेकर जाड़ों भर श्रम करके वेद पाठ अवश्य करना चाहिये । "बहिःउत्सर्जन" का अर्थ है कि जिस प्रकार वेद पाठ का आरंभ पब्लिक में किया था इसी प्रकार उसका अन्त भी पब्लिक में करे ।

यथाशास्त्र तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।
विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ७३ ॥

(९७)

(यथा शास्त्रंतु) शास्त्र की विधि के अनुकूल (कृत्वा एवम् उत्सर्गं छन्दसां बहिः) वेद पाठ की समाप्ति करके (विरमेत्) आराम करे (पक्षिणीं रात्रिम्) दो दिन और एक रात ! (तत् एव एकम् अहः निशम्) या केवल एक दिन और एक रात ।

---

९६ तिष्ये तु च्छन्दांसि कुर्याद्

९७ तद्वाप्येकमहर्निशम्

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥ ७४ ॥
(९८)

इसके पश्चात् शुक्ल पक्षों में नियमानुसार वेद पढ़े और कृष्ण पक्ष में वेद के अंगों को । यह स्वाध्याय का क्रम बताया ।

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥७५॥ (१२७)

(द्वौ एव वर्जयेत् नित्याम् अनध्यायौ प्रयत्नतः) दो अवस्थाओं में अध्ययन न करना चाहिये (स्वाध्याय भूमिं च अशुद्धाम् च) अपवित्र स्थान (अशुचिम् आत्मानं च) और अपनी निजकी अशुद्धि । अर्थात् पढ़ने का स्थान अपवित्र न रहना चाहिये । इसको पवित्र करके पढ़े और जब मन या शरीर में मैल हो तो भी न पढ़े अर्थात् शरीर और मनको पवित्र करके पढ़े ।

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ ७६ ॥
(१२८)

अमावस्या, अष्टमी, पौर्णमासी, चतुर्दशी इन तिथियों में बुद्धिमान स्नातक को चाहिये कि (अपि ऋतौ) ऋतुकाल होने पर भी ब्रह्मचारी रहे । स्त्री प्रसंग न करे ।

---

९८ तु सर्वाणि (मे)

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥७७॥
(१२९)

(न स्नानम् आचरेत् भुक्त्वा) भोजन करने के पश्चात् स्नान न करे। (न आतुरः) न रोग या चिन्ता की अवस्था में (न महानिशि) न बहुत रात आने पर (न वासोभिः सह अजस्रम्) न पूरे कपड़े पहने हुये कभी स्नान करे। (न अविज्ञाते जलाशये) न ऐसे नदी तालाव आदि में जिसके विषय में पूरा ज्ञान न हो। संभव है वहुत गहरा हो। संभव है नाके आदि भयानक जन्तु रहते हों।

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥७८॥
(१३२)

(उद्वर्तनम्) उवटन का मैल, (अपस्नानम्) स्नान के उपरान्त वहता हुआ मैला पानी (विट् मूत्रे) मल और मूत्र (रक्तम् एव च) और ख़ून (श्लेष्म निष्ठ्यूत वान्तानि) कफ़, थूक और वमन या कै की हुई वस्तु। (न अधितिष्ठेत् तु कामतः) इन पर जान बूझ कर खड़ा न हो (रोग लगने का भय है)।

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥७९॥
(१३३)

---

१३२ नाधितिष्ठेत (मे); नाधितिष्ठेत्तु (न); नाधितिष्ठेच्च (गो)

(वैरिणं न उपसेवेत) शत्रु से हेल मेल न करे (सहायं च एव वैरिणः) और न शत्रु के सहायक से। (अधार्मिकं तस्करं च) न अधर्मी चोर के साथ (परस्य एव च योषितम्) न पराई पत्नी से।

न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ ८० ॥
(१३४)

(न हि ईदृशम् अनायुष्यम्) आयु को नष्ट करने वाली संसार में ऐसी और कोई वस्तु नहीं है जैसे पराई स्त्री का संसर्ग।

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ ८१ ॥
(१३५)

(भूष्णुः) अर्थात् उन्नति की इच्छा करने वाला विद्वान इन का कभी अनादर न करे चाहे यह दुबले और कमज़ोर ही क्यों न हों—क्षत्रिय या राजा, सांप, और विद्वान ब्राह्मण।

एतद् त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम्।
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ ८२ ॥
(१३६)

यह तीनों अपमान करने पर मनुष्य को भस्म करदेते हैं। इस लिये बुद्धिमान को चाहिये कि इनको अपमानित न करें।

---

१३६ निर्दहेदवमानितम् (J)

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम्
॥८३॥(१३७)

(न आत्मानम् अवमन्येत पूर्वाभिः असमृद्धिभिः) पहली अस-फलताओं + से अपने आप को तुच्छ न समझे। अर्थात् यदि किसी काम में सफलता न हो तो निराश हो कर अपने को घृणित और नीच न समझे। (आमृत्योः श्रियम् अन्विच्छेत्) मृत्यु पर्यन्त श्री अर्थात् सम्पत्ति के लिये यत्न न करे। (न एनां मन्येत् दुर्लभाम्) इसको कभी दुर्लभ न समझे। अर्थात् यत्न करता जाय। कभी न कभी तो फल मिलेगा ही।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ ८४ ॥
(१३८)

सत्य बोले, प्रिय बोले। अप्रिय सत्य न बोले। प्रिय असत्य भी न बोले। यह सनातन धर्म है।

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ ८५ ॥
(१३९)

(भद्रं भद्रम् इति ब्रूयात्) बात चीत करने में "भद्रं भद्र" "बहुत अच्छा ! बहुत अच्छा" ऐसा कहे। (भद्रम् इति एव वा वदेत्) या केवल एक बार 'भद्र' ही कहे। (शुष्क वैरं विवादं

---

१३७ श्रियमाकांक्षेत् (गो न)

१३८ प्रियं वा (मे)

च) व्यर्थ झगड़ा या विवाद (न कुर्यात् केन चित् सह) न करे किसी के साथ ।

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यं दिने स्थिते ।
नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ ८६ ॥

(१४०)

(न अातिकल्यम्) न बहुत तड़के अंधेरे में, (न अति सायम्) न शाम को अंधेरे में, (न अति मध्यंदिने स्थिते) न ठीक दुपहरी में, (न अज्ञातेन समम्) न बे जाने हुये पुरुष के साथ (गच्छेत्) चले। (न एकः) न अकेला। (न वृषलैः सह) न दोगले के साथ। अविवाहित या अनुचित उत्पन्न हुई सन्तान को 'वृषल' कहते हैं। ऐसे लोगों से धोखे की संभावना रहती है क्योंकि अपने माता पिता के विचारों के संस्कार उन में विद्यमान रहते हैं।

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥८७॥

(१४१)

(न आक्षिपेत्) इन लोगों पर कभी आक्षेप न करे अर्थात् इनकी हंसी न उड़ावे और न इस की निन्दा करे :—

(१) हीनांग—जिनके शरीर का कोई अंग कम हो। (२) अतिरिक्तांग—जिनका कोई अंग अधिक हो जैसे छठी उंगली। (३) विद्याहीन—मूर्ख (४) वयोधिकान्—बहुत बूढ़े (५) रूप

१४० नातिकाल्यं (मे, स)

१४१ वयोऽतिगान् (मे, स)। रूपद्रव्यविहीनांश्च; रूपद्रविण-हीनांश्च।

द्रव्य विहीनान्—कुरूप और धन हीन (६) जातिहीन अर्थात् जाति से निकाले हुये।

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥८८॥
(१४४)

(अनातुरः) स्वस्थ पुरुष (स्वानि खानि न स्पृशेत्) अपनी गुप्त इन्द्रियों को न छुये। (अनिमित्ततः) विना विशेष प्रयोजन के। (रोमाणि च रहस्यानि) न गुप्तस्थान के बालों को। (सर्वाणि एव विवर्जयेत्) इन सब को त्यागदे। अर्थात् न छुये।

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ ८९ ॥
(१४५)

(मंगलाचार युक्तः स्यात्) सुन्दर चाल चलन रक्खे। (प्रयत आत्मा) सदा कोशिश करता रहे। (जित-इन्द्रियः) और इन्द्रियों को जीतले। उनको वश में रक्खे। (जपेत् च) जप करे (जुहुयात् च एव नित्यम् अग्निम्) सदा अग्नि होत्र करे (अतन्द्रितः) आलस्य छोड़ कर।

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ ९० ॥
(१४६)

जो लोग सुन्दर चाल चलन वाले हैं, जो सदा प्रयत्नशील

१४४ सर्वाणि परिवर्जयेत्-

हैं, जो जप और हवन नित्य करते हैं, उनको कोई कष्ट नहीं होता।

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ ९१ ॥
(१४७)

नित्य ठीक समय पर आलस्य रहित होकर वेद का अभ्यास करे। यह तो मनुष्य का परम धर्म है। अन्य सब गौण धर्म (निचले धर्म) हैं।

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥९२॥
(१४८)

(पौर्विकीं जातिं स्मरति) पहले जन्म का स्मरण इन साधनों से हो जाता है (१) वेदाभ्यासेन सततम्-नित्य वेद का अभ्यास करने से (२) शौच से (३) तपसा—तप से (४) अद्रोहेण च भूतानाम्—प्राणियों के साथ हिंसा का भाव न रखने से।

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ ९३ ॥
(१४९)

---

१४७ वेदमेव जयेत्। यथाकामम्; तमस्याहुः, तमेवाहुः

१४८ अद्रोहेणैव (मे, न, गो); अद्रोहेण च (रा) पूर्विकाम् (गो)

१४९ पूर्विकाम् (गो)। पुनः के स्थान में द्विजः। चाजस्रम् के स्थान में सततम्। अनन्तम्, आनन्त्यम्

(पौर्विकीं संस्मरन् जातिम्) पहले जन्मकी याद करके (ब्रह्म एव अभ्यसते पुनः) फिर वेद का अभ्यास करता है। (ब्रह्म + अभ्यासेन च अजस्रम् अनन्तम् सुखम् अश्नुते) नित्य वेद + अभ्यास करने से अनन्त सुख प्राप्त करता है।

सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः ।
पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ ९४ ॥
(१५०)

(सावित्रान् शान्ति होमान् च कुर्यात् पर्वसु नित्यशः) सदा पर्व के दिनों में सावित्र अर्थात् गुरुपूजन, और शान्ति होम करे। पितॄन् च एव अष्टकासु अर्चेत् नित्यम् अनु + अष्टकासु च) और अष्टमी तथा नवमी के माता पिता की विशेष अर्चना करे।

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥९५॥
(१५१)

(दूरात् आवसथात् मूत्रम्) कमरे से (bed-room) से दूर पेशाव करे। (दूरात् पाद—अवसेचनम्) दूर ही पैर धोवे। (उच्छिष्ट + अन्न + निषेकं च दूरात एव समाचरेत्) और जूठन भी दूर ही फेंके।

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ ९६ ॥
(१५२)

---

१५० सावित्र्या (न, स)

१५१ उच्छिष्टान्ननिषेकं च (गो, स)

(मैत्रम्) मल-त्याग, पाखाना जाना, (प्रसाधनम्) शरीर शुद्धि, (स्नानम्) स्नान, (दन्तधावनम्) दांत मांजना, (अंजनम्) सुरमा लगाना (पूर्वाह्णे एव कुर्वीत) प्रातःकाल ही करलेवे (देवतानां च पूजनम्) देवयज्ञ अर्थात् होम आदि भी।

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीन गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ।६७।
(१५४)

वृद्ध पुरुषों को नमस्ते करे, और अपना आसन दे। हाथ जोड़ कर उनके पास जावे। जब वे जावें तो उनके पीछे पीछे जावे।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ ६८ ॥
(१५५)

श्रुति और स्मृति में जो जो कर्म बताये गये हैं उनमें बंधा हुआ आलस्य छोड़ कर सदा धर्म पूर्वक सदाचार में रत रहे।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारा हन्त्यलक्षणम् ॥ ६९ ॥
(१५६)

सदाचार से आयु बढ़ती है। सदाचार से संतान उत्पन्न होतीं

---

१५४ अभिवाद्य च वृद्धांस्तु (च) (रा); अभिवादयेच्च वृद्धांश्च (गो); अभिवादयेत वृद्धांश्च (न)

१५६ ईप्सितां प्रजाम् (गो, रा)। हि के स्थान में ऽपि

है। सदाचार से अक्षय धन मिलता है जिसका कभी क्षय नहीं होता। सदाचार बुरे लक्षणों को दूर करता है।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥१००॥
(१५७)

दुराचारी पुरुष लोक में निन्दा पाता है, और सदा रोग तथा अल्पायु आदि दुःखों में लिप्त रहता है।

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १०१ ॥
(१५८)

जो सदाचारी पुरुष और सब गुणों से हीन है, जो श्रद्धालु है और जो ईर्ष्या नहीं करता वह सौ वर्ष तक जीता है अर्थात् दीर्घायु होता है।

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥१०२॥
(१५९)

जो जो काम पराये वश में हैं उनको छोड़े। जो जो अपने आधीन हैं उनको नित्य करे। (इससे दासता नहीं आती। स्वतंत्रता रहती है)।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१०३॥
(१६०)

---

१५८ यः स्यादाचारवान् (रा)

पराये वश में रहने में बड़ा दुःख है। स्वतंत्र रहने में सुख है। (एतत् विद्यात्) यह जानना चाहिये (समासेन) संक्षेप से (लक्षणं सुख दुःखयोः) सुख और दुख का लक्षण !

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥१०४॥
(१६१)

(यत् कर्म कुर्वतोऽस्य) जिस कर्म के करने वाले पुरुष का (स्यात् परितोषः अन्तरात्मनः) अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो (तत् प्रयत्नेन कुर्वीत) उसको प्रयत्न के साथ करे। (विपरीतं तु वर्जयेत्) उससे विरुद्ध को छोड़ दे।

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद्ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥१०५॥
(१६२)

कोई काम ऐसा न करे जिनसे इन लोगों के मन को पीड़ा पहुँचे :—आचार्य, प्रवक्ता अर्थात् वेद की व्याख्या करने वाला, पिता, माता, गुरु, विद्वान ब्राह्मण, गौ, और सब तपस्वी। यहां 'हिंस्यात्' का अर्थ 'हन्यात' नहीं है। ;साधारण अप्रसन्न करने का अर्थ है। इन दो श्लोकों में बताया गया है कि जिस काम से अन्तरात्मा को परितोष हो और इन इन को अप्रसन्नता न हो वह धर्म है।

---

१६२ ब्राह्मणगांच (गो); ब्रह्महं गां वा

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥१०६॥
(१६३)

यह यह बातें त्याज्य हैं :—(१) नास्तिक्यम्—ईश्वर को न मानना। (२) वेद निन्दां—वेद की निन्दा (३) देवतानां कुत्सनम्—विद्वानों की निन्दा (४) द्वेष—वैर (५) दम्भ—पाखण्ड (६) मान - अभिमान या घमंड (७) क्रोध—(८) तैक्ष्ण्यं—तेजी या नुकीलापन।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥१०७॥
(१७०)

जो आदमी अधार्मिक है। या जिसका झूठ ही धन है, जो हिंसा में रत है, (न इह असौ सुखं एधते) वह इस लोक में सुख नहीं पाता।

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥१०८॥
(१७१)

(सीदन् अपि धर्मेण) धर्म कार्य्य द्वारा कष्ट भोगता हुआ भी (न मनः अधर्मे निवेशयेत्) मन को अधर्म में न लगावे (अधार्मिकाणां पापाननाम् आशु पश्यन् विपर्ययम्) अधर्मी पापियों के शीघ्र विपर्यय अर्थात नाश को देखता हुआ। अर्थात् पापियों

---

१६३ स्तम्भं के स्थान में दम्भम्

१७० हिंसावर्तीच

का अवश्य नाश होता है इस लिये कष्ट होने पर भी अधर्म न करे।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१०९॥
(१७२)

(न अधर्मः चरितः लोके सद्यः फलति) जो अधर्म किया जाता है वह लोक में शीघ्र ही अपना बुरा फल नहीं दे देता। (गौः इव) जैसे पृथ्वी में बीज बोने से आज ही फल नहीं निकलता। (शनैः आवर्तमानः तु) धीरे धीरे फैलता हुआ (कर्तुः) अधर्म करने वाले की (मूलानि) जड़ों को (कृन्तति) काट डालता है।

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥११०॥
(१७३)

(यदि न आत्मनि) यदि अपने को नहीं तो (पुत्रेषु) पुत्रोंको, (न चेत् पुत्रेषु) यदि पुत्रों को नहीं तो (नप्तृषु) पोतों को अधर्म अवश्य ही फल देगा। (न तु एव तु कृतः अधर्मः कर्तुः भवति निष्फलः) किया हुआ अधर्म बिना फल लाये नहीं रहता। अर्थात् किसी को ऐसा नहीं समझना चाहिये कि अधर्मी लोगों को उसका फल नहीं मिलता। मिलता अवश्य है परन्तु धीरे धीरे।

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥१११॥
(१७४)

---

१७३ तु कृतं कर्म; निष्फलम्

(अधर्मेण एधते तावत्) उस समय तो अधर्म के द्वारा बढ़ जाता है। (ततः भद्राणि पश्यति) फिर समझता है कि अधर्म सुख का मूल है। (ततः सपत्नान् जयति) उससे शत्रुओं को भी जीत लेता है। (समूलः तु विनश्यति) फिर अन्त में जड़ सहित नाश हो जाता है।

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥११२॥
(१७५)

(सत्य-धर्म-आर्यवृत्तेषु शौचे च एव आरमेत् सदा) सदा सत्य, धर्म, आर्यों के से आचरण तथा शुद्धि का पालन करे। (शिष्यान् च शिष्यात् धर्मेण) शिष्यों को धर्म की ही शिक्षा दे। (वाक्—बाहु—उदर संयतः) वाणी, भुजा और पेट को वश में रख के। तात्पर्य यह है कि लोग वाणी से झूठ बोलते, गाली देते, भुजाओं से चोरी करते या मारते, पेट के लिये अधर्म करते हैं। यदि यह तीनों वश में रहें तो अधर्म से बच सकते हैं।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥११३॥
(१७६)

(परित्यजेत् अर्थ कामौ) ऐसे अर्थ और काम को छोड़ दे (यौ स्यातां धर्मवर्जितौ) जो धर्म के विरुद्ध हों। (धर्मं च अपि असुखोदर्कं) ऐसे धर्म को भी न करे जिससे अन्त में दुःख हो (लोकविक्रुष्टं एव) या जिससे संसार को क्लेश हो।

---

१७५ चैवारमेत्; चैव रमेत्

१७६ लोक संक्रुष्टम् (मे, गो, न)। वा (मे); च।

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः ।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥११४॥
(१७७)

(न पाणि पाद चपलः) हाथ और पैर से चंचलता न करे, (न नेत्र चपलः) न आंख से चपलता करे। (अनृजुः) और न बुरा काम करे। (न स्यात् वाक् चपलः च एव) वाणी से भी चपलता न करे। (न परद्रोह कर्मधीः) न दूसरों से द्रोह करने का विचार करे।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥११५॥
(१७८)

(येन अस्य पितरः याता जिस मार्ग पर पिता चलें (येन याताः पितामहाः) और जिसपर बाबा आजा चलें, (तेन यायात् सतां मार्गं) उसी शुभ मार्ग को चले। (तेन गच्छन् न रिष्यते) उस मार्ग पर चलने से दुःख न होगा।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ॥११६॥(१७९)
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥११७॥
(१८०)

---

१७७ नेत्रचपलस्तथा

१८० यामीभिर्

इन लोगों से कभी झगड़ा न करे :—ऋत्विक् जो हवन कराते हैं, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, संश्रित अर्थात् जो लोग अपने आधीन रहते हों, बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य, कुटुम्बी या रिश्तेदार, माता, पिता, बहन, भाई, पुत्र, स्त्री, लड़की, नौकर।

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वांल्लोकानिमान्गृही ॥११८॥
(१८१)

(एतैः विवादान् संत्यज्य) इन लोगों से झगड़े का त्याग कर (सर्वपापैः प्रमुच्यते) अन्य सब झगड़ों से छूट जाता है। (एभिः जितैः च जयति सर्वान् लोकान् इमान् गृही) इन लोगों को अपने अनुकूल कर लेने से गृहस्थ इन सब लोकों को जीत लेता है।

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥११९॥
(१८६)

(**प्रतिग्रह** समर्थः अपि) **दान लेने** का अधिकारी होते हुये भी (प्रसंगं तत्र वर्जयेत्) दान लेने का विचार छोड़ दे (प्रतिग्रहेण हि अस्य आशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति) दान लेने से इसका ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है।

---

१८१ एतान् विवादान् (मे, रा); एतैर्विवादान् (कु); एतैर्विवादं (न)। एतैर्जितैश्च; एभिर्जितैश्च; एतैर्जितश्च (न) एताञ्जित्वा च (स)।

१८६ प्रतिग्रहसमर्थस्तु (रा)। तस्याशु (रा)

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥१२०॥

(१८७)

(प्रतिग्रहे) दान लेने में (द्रव्याणं धर्मं विधिं अविज्ञाय) द्रव्यों की धर्मयुक्त विधि को न जान कर (प्राज्ञः) बुद्धिमान् (क्षुधा) भूख से (अवसीदन् अपि) पीड़ित होकर भी (न प्रति ग्रहं कुर्यात्) दान न ले ।

तात्पर्य यह है कि दान में जो द्रव्य लिया जाता है उसका ठीक ठीक धर्मयुक्त प्रयोग करना कठिन है । दान में लिये हुये धन और अपने कमाये धन में भेद है । अपने कमाये धन के दुरुपयोग से जो पाप होता है उसको अपेक्षा दान में पाये हुये धन के दुरुपयोग से कहीं अधिक पाप होता है । इस लिये बुद्धि-मान को चाहिये कि भूख से पीड़ित होने पर भी दान न ले ।

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् ।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १२१ ॥

(१८८)

(अविद्वान्) जिस पुरुष को दान की वस्तु के प्रयोग का ठीक ठीक ज्ञान नहीं है वह पुरुष (हिरण्यं) सोना, (भूमिं) ज़मीन, (अश्वं) घोड़ा, (गां) गाय, (अन्नं) अन्न, (वासः) वस्त्र, (तिल) तिल, (घृतं) घी (प्रतिगृह्णन्) का दान लेकर (भस्मी भवति दारुवत्) लकड़ी के समान जल जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है ।

---

१८८ अविद्वान्प्रतिगृह्णानो (गो, न); अविद्वान्प्रतिगृह्णानि हि (रा); प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु (मे) ।

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १२२ ॥

(१६०)

(अतपातुः) तप रहित (अनधीयानः) बे-पढ़ा, (प्रति ग्रह रुचिः) दान का इच्छुक (द्विजः) ब्राह्मण (अम्भसि अश्मप्लवेन इव) समुद्र में पत्थर की नाव के समान (सह तेन एव) उस दान के साथ साथ स्वयं भी (मज्जति) डूब जाता है ।

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥१२३॥

(१६१)

(तस्मात्) इसलिये (अविद्वान्) वह पुरुष जिसे दान ली हुई वस्तु के प्रयोग का ठीक २ ज्ञान नहीं है, (विभियात्) डरे (यस्मात् तस्मात् प्रतिग्रहात्) इस उस दान से । (स्वल्पकेन अपि अविद्वान् हि) अज्ञानी थोड़े से दान से भी (पंके गौः इव सीदति) कीचड़ में गाय के समान कष्ट उठाता है ।

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १२४ ॥

(१६२)

धर्मवित् अर्थात् धर्मात्मा को चाहिये कि पानी भी न दे ऐसे ब्राह्मण को जो वैडालवृत्ति (बिल्लीकी सी वृत्ति वाला) हो । न बगले की सी वृत्ति वाले को, न वेद न पढ़े हुये को ।

---

१६२ प्रयच्छेत (गो) । पापे (मे); द्विजे (रा); विप्रे

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १२५ ॥
(१६३)

जो धन विधिके अनुसार कमाया गया हो वह भी यदि बैडालवृति, बकवृत्ति और अवेदवित् को दिया जाय तो दूसरे लोक में दाता के काम नहीं आता ।

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥१२६॥
(१६४)

यथा जैसे (प्लवेन उपलेन) पत्थर की नाव से (निमज्जति) डूब जाता है (उदके तरन्) जल में तैरता हुआ (तथा निमज्जतः) वैसे ही डूब जाते हैं (अधस्तात्) नीचे (अज्ञौ दातृ + प्रतीच्छकौ) दान देने वाले और लेने वाले मूर्ख ।

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः॥१२७॥
(१६५)

बैडाल वृत्ति के लक्षण यह हैं :—धर्म ध्वजी—धर्मात्मा बनता हो । सदा लुब्धः—सदा लोभी हो । छाद्मिकः—जाली हो । लोकदम्भकः—लोगों को धोखा देता हो, हिंस्रः-हिंसक हो, सर्वाभिसन्धकः—सबको भड़काता हो ।

---

१६३ विधिनोपार्जितं (गो, रा)

१६४ दातृप्रतीप्सकौ

१६५ लोकदम्भिकः (मे, गो न); लोक दाम्भिकः (न) । सर्वातिसंधकः (मे, न)

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥१२८॥
(१६६)

बकव्रती के लक्षण यह है :—नीचे को दृष्टि रखने वाला, नैष्कृतिक अर्थात् निकम्मा, स्वार्थसाधन तत्परः—स्वार्थी, शठ, झूठमूठ विनय करने वाला।

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः ।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥१२९॥
(१६७)

जो बकव्रति और बिडालवृत्ति वाले ब्राह्मण हैं वे उस पाप कर्म से अन्धेरे गढ़े में गिरते हैं।

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन्स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥१३०॥
(१६८)

धर्म के (अपदेश) बहाने से पाप करके व्रत न करे। व्रत से पाप को छिपा कर स्त्री और शूद्रों को धोखा देकर। अर्थात् लोगों को धोखा देने के लिये पुण्य की आड़ में पाप न करे।

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।
छद्मनाचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥१३१॥
(१६९)

---

१६६ बकवृत्तिचरो (गो)
१६७ बकवृत्तिनो (गो)
१६९ तच्च; यच्च

(प्रेत्य) मरने के पीछे परलोक में (इह च) और इसलोक में भी (ईदृशाः विप्राः) ऐसे धोखेबाज ब्राह्मण (गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः) ब्रह्मज्ञ लोगों से निन्दित होते हैं । (छद्मना आचरितं यत् च व्रतं) जो व्रत धोखे से किया जाता है (रक्षांसि गच्छति) वह राक्षसपन है ।

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति ।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥१३२॥

(२००)

(अलिंगी) जो ब्रह्मचारी नहीं है और (लिङ्गिवेषेण) ब्रह्मचारी का रूप रखकर (य वृत्तिं उपजीवति) जीविका कमाता है, (स लिङ्गिनां हरति एनः) वह ब्रह्मचारियों के पाप के हरलेता है । (तिर्यक् योनौ च जायते) और नीच योनि को पाता है ।

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥१३३॥

(२०१)

(परकीय निपानेषु) दूसरे के हौज़ या टप में (न स्नायात् च कदाचन) कभी न नहावे । (निपान कर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते) ऐसा स्नान करने से हौज़ वाले की बीमारी लग जाती है ।

---

२०० तिर्यग्योनिषु (मे); तिर्यग्योन्यां च (न)
२०१ न स्नायाद्धि (मे, न)

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च ।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥१३४॥
(२०२)

(यान) सवारी, (शय्या) विस्तर, आसन, कुंआ, बाग़, घर, इनको विना स्वामी की आज्ञा के भोगने वाला उसके पापके चौथाई भाग का भागी होता है ।

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥१३५॥
(२०३)

नदियों में, देवखात नामी तालावों में, पोखरो में, झीलों में और झरनों में नित्य स्नान करे ।

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥१३६॥
(२०४)

बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि सदा यमों का पालन करे, न केवल नियमों का । जो पुरुष केवल नियमों का पालन करता है और यमों का पालन नहीं करता वह नाश को प्राप्त होता है ।

अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्पता ।
अस्तेयमिति पंचैते यमाश्चोपव्रतानि च ॥१३७॥

यह पांच यम या उपव्रत कहलाते हैं :— अहिंसा अर्थात्

---

२०२ भुञ्जान के स्थान में युञ्जान

२०४ यमानेतान कुर्वाणो नियमान्केवलान्भजेत् (रा)

किसी को पीड़ा न देना, सत्य, ब्रह्मचर्य, अकल्पता अर्थात् बनावट न होना और अस्तेय अर्थात् चोरी करना।

अक्रोध गुरु सुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च नियमाः पंचैवोपव्रतानि च ॥१३८॥

यह पांच नियम या उपव्रत हैं :—क्रोध न करना, गुरु सेवा, शौच अर्थात् शुद्धि, आहार लाघव अर्थात् थोड़ा खाना, और प्रमाद न करना।

पतंजलि ने योग शास्त्र में यह यम और नियम बताये हैं :—

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान।

इन तीन श्लोकों का आशय यह है कि नियमों के पालन करने वाले तो बहुत होते हैं, यमों को विरले ही पालन करते हैं। बिना यमों के नियम अधूरे रह जाते हैं। जो केवल नियमों का पालन करता है यमों का नहीं, वह शीघ्र ही पाखण्डी हो जाता है।

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥१३९॥
(२०७)

जानबूझकर इन लोगों का भोजन न खाय :—पागल, क्रोधी, रोगी का, या जिस भोजन में बाल या कीड़ी पड़गई हो या जो पैर से छुआ गया हो। जैसे पैर से आटा गुंधा कर कुछ लोग रोटी बनाते हैं।

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया।
पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥१४०॥
(२०८)

---

२०७ तु न भुञ्जीत। पादस्पृष्टं। तु कामतः।

इस प्रकार का भोजन भी न खाना चाहिये :—भ्रूणघ्नावेक्षितं—गर्भपात कराने वाले का देखा हुआ, या रजस्वला का छुआ हुआ, पक्षियों का चाटा हुआ, या कुत्ते का छुआ हुआ।

गवा चान्नमुपघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः।
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥१४१॥
(२०९)

गाय का सूंघा हुआ, घुष्टान्न (अर्थात् ऐसा भोजन जो पुकार पुकार कर भिखारी आदि को दिया जाता है), गण या समूहों का अन्न, वेश्या का अन्न और जिस अन्न को विद्वान् बुरा समझें।

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥१४२।
(२१०)

चोर का अन्न, गवैये का अन्न, तक्षा का अन्न, व्याज बहुत लेने वाले का, दीक्षित का अन्न जो यज्ञ से पूर्व दीक्षित के लिये हो, जो अन्न कृपण ने जोड़कर रक्खा हो।

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥१४३॥
(२११)

पापी का, हिजड़े का, व्यभिचारिणी स्त्री का, दंभी का, खमीर उठा हुआ, बासी, तथा शूद्र का झूठा।

---

२०९ विदुषा (J)

२१० विशदस्य च (मे) ; निगडेन च ; निगलस्य च (न)

२११ उच्छिष्टमगुरोस्तथा (मे)

चिकित्सकस्यमृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥१४४॥
(२१२)

चिकित्सक का, शिकारी का, क्रूर का, उसका जो दूसरों की जूठिन खाता है, जो तेज़ स्वभाव का है, जो स्त्री प्रसूता-गृह से अभी बाहर नहीं आई उसका, अपमान-युक्त, तथा अनिर्दशं (ऐसे पापी का जो अभी प्रायश्चित्त करके शुद्ध नहीं हुआ),

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥१४ ॥
(२२६)

नित्य आलस्य छोड़कर श्रद्धा से यज्ञ, तथा कुएं तालाब आदि का निर्माण करे । अपने कमाये हुये धन से यज्ञ तथा कुए आदि का निर्माण किया जाता है वह अक्षय फल का देने वाला है ।

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्त्तिकम् ।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥१४६॥
(२२७॥

(ऐष्टिक पौर्तिकम् दानधर्मं नित्यं निषेवेत) यज्ञ और कुए आदि निर्माण सम्बन्धी दान धर्म को नित्य करे । (परितुष्टेन भावेन) श्रद्धापूर्वक (पात्रं आसाद्य) सुपात्र को प्राप्त होकर (शक्तितः) शक्ति के अनुसार । अर्थात् जब कोई सुपात्र मिले तो यथाशक्ति यज्ञ आदि धर्म का पालन करे ।

---

२१२ सूतकान्नं (मे)

२२६ कुर्यात्प्रयत्नतः

पात्रभूताहि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम् ।
असत्सु विनियुंजीत तस्मै देयं न किञ्चन ॥१४७॥

(यः विप्रः) जो ब्राह्मण (पात्र भूतः हि) सुपात्र बनकर (प्रतिग्रहं) दान को (प्रतिगृह्य) लेकर (असत्सु) बुरे काम में (नियुञ्जीत) लगावे (तस्मै देयं न किंचन) उसको कुछ दान भी न देना चाहिये ।

यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया ।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥१४८॥
(२२८)

(अनसूयया याचितेन यत् किंचित् अपि दातव्यं) विना बुरी वासना के यदि कोई कुछ मांगे तो अवश्य ही कुछ न कुछ दे दे । (तत् पात्रं हि उत्पत्स्यते) ऐसा पात्र भी मिल ही जायगा (यत् तारयति सर्वतः) जो सब ओर से तार देगा ।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥१४९॥
(२३३)

वारि अर्थात् जल, अन्न, गौ, भूमि कपड़ा, तिल, सोना तथा घी, इन सब दानों में ब्रह्मदान श्रेष्ठ है ।

ब्रह्मदान का अर्थ है विद्या दान । विद्या दान में दुरुपयोग का भय नहीं है । इस लिये यह दान न तो देने वाले को दुःख देता है न लेने वाले को । इसलिये इसको सब से श्रेष्ठ दान कहा है ।

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥१५०॥
(२३४)

जिस-जिस भाव से जो जो दान देता है। वही वही उस उस भाव से बदले में पाता है।

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥१५१॥
२३५)

(यः अर्चितं प्रति गृह्णाति ददाति अर्चितं एव च) जो सत्कार पूर्वक दान लेता है और सत्कार पूर्वक देता है (तौ उभौ गच्छतः स्वर्गं) वे दोनों सुख को पाते हैं। (नरकं तु विपर्यये) इससे विपरीत होने से दुःख मिलता है।

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम्।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥१५२॥
(२३६)

(न विस्मयेत तपसा) तप करके आश्चर्य न करे अर्थात् घमण्ड न करे। (वदेत् इष्ट्वा च न अनृतम्) यज्ञ करके झूठ न बोले। (न आर्तः अपि अपवदेत् विप्रान्) दुःख पड़ने पर भी विद्वानों का अपवाद न करे (न दत्त्वा परिकीर्तयेत्) न दान देकर ढंढोरा पीटे कि मैंने इतना दिया, इतना दिया।

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥१५३॥
(२३७)

---

२३५ वा

२३६ न चानृतम् ; न वानृतम्

२३७ तु परिकीर्तनात् (मे) ; क्षरति कीर्तनात् (रा)

(यज्ञः अनृतेन चरति) झूठे बोलने से यज्ञ का फल नष्ट हो जाता है। (तपः चरति विस्मयात्) विस्मय से तप नष्ट हो जाता है, (आयुः विप्रापवादेन) विद्वानों के अपवाद से आयु नष्ट हो जाती है, (दानं च परिकीर्तनाद्) ढंढोरा पीटने से दान का फल क्षय हो जाता है।

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥१५४॥
(२३८)

(धर्मं शनैः संचिनुयात्) धर्म को शनैः शनैः उपार्जन करे। (वल्मीकं पुत्तिकाः इव) जैसे चींटियां चिटेह को। (परलोक सहाय अर्थं) परलोक की सहायता के लिये। (सर्व भूतानि अपीडयन्) किसी प्राणी को कष्ट न देते हुये।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥१५५॥
(२३९)

(अमुत्र हि) परलोक में (पित माता सहाय-अर्थं न तिष्ठतः) माता पिता सहायता नहीं दे सकते, (न पुत्र दारा) न पुत्र, न स्त्री, (न ज्ञातिः) न रिश्तेदार (धर्मः तिष्ठतिकेवलः) केवल धर्म ही सहायता देता है।

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥१५६॥
(२४०)

---

२३८ वम्रिका: (गो) ; वल्मिका: (रा)

२३९ पुत्रदारं (J)

२४० प्रमीयते (गो; रा)

प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है। अकेला ही मरता है। अकेला पुण्य को कमाता है और अकेला पाप को।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥१५७॥

(२४१)

(मृतं शरीरं) मरे हुये शरीर को (काष्ठलोष्ठसमं) काठ या ढेले के समान (क्षितौ) भूमि में (उत्सृज्य) छोड़ कर (बान्धवाः विमुखाः यान्ति) रिश्तेदार लौट जाते हैं। (धर्मः तं अनुगच्छति) धर्म ही उसके साथ जाता है।

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ।१५८॥

(२४२)

(तस्मात्) इसलिये (सहायार्थं) परलोक की मदद के लिये (नित्यं) सदा (शनैः) धीरे धीरे (धर्मं संचिनुयात्) धर्म का संचय करे। (धर्मेण हि सहायेन) धर्म की सहायता से ही (दुस्तरं तमः तरति) कठिन अन्धकार को पार कर जाता है।

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ।१५९॥

(२४३)

(तपसा हतकिल्बिषम्) तप के द्वारा पाप नष्ट हो गये हैं जिसके ऐसे (धर्म प्रधानं पुरुषं) धर्मात्मा पुरुष को (भास्वन्तं

---

२४१ धर्मस्तिष्ठति केवलः

२४३ हतदुष्कृतम् (रा)

स्वशरीरिणाम्) जो ब्रह्म के समान तेजोमय हो गया है (आशु परलोकं नयति) धर्म शीघ्र ही परलोक को ले जाता है।

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥१६०॥
(२४४)

(उत्तमैः उत्तमैः सह नित्यं सम्बंधान् आचरेत्) सदा उत्तम उत्तम पुरुषों के साथ सम्बन्ध (रिश्तेदारी) करे। (निनीषुः कुलं उत्कर्षं) कुल को उन्नति देने की इच्छा रखने वाला। (अधमान् अधमान् त्यजेत्) नीच नीच को त्यागदे।

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥१६१॥
(२४५)

(उत्तमान् उत्तमान् गच्छन्) उत्तम उत्तम पुरुषों से सम्बन्ध रखता हुआ (हीनान् हीनान् च वर्जयन्) और नीचों से अलग रहता हुआ (ब्राह्मणः श्रेष्ठताम् एति) ब्राह्मण श्रेष्ठता को पा जाता है। (प्रत्यवायेन) इस से विपरीत चलने से (शूद्रताम्) शूद्रत्व को प्राप्त होता है।

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥१६२॥
(२४६)

---

२४५ उत्तमानुत्तमानेव गच्छन् ; उत्तमानुत्तमान्गच्छन्। हीनांस्तु वर्जयन्

२४६ तथाव्रतः ; तथा व्रतैः (स) ; यथाविधि

(दृढ़कारी) धृतिशील, (मृदुः) नम्र, (दुर्दान्तः) कठिनाइयों को सहन करने वाला (क्रूर-आचारः असंवसन्) दुष्ट लोगों के साथ न रहता हुआ (अहिंस्रः) किसी प्राणी को दुःख न देता हुआ (दम दानाभ्यां) दम और दान के द्वारा (जयेत् स्वर्गं) स्वर्ग को प्राप्त करे। (तथा व्रतः) ऐसा आचरण करने वाला।

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम्।
यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥१६३॥
(२५४)

(यादृशः अस्य भवेत् आत्मा) जैसी जिसकी प्रकृति हो (यादृशं च चिकीर्षितं) और जैसे काम करने में रुचि हो। (यथा च उपचरेत् एनं) जैसी सेवा हो सके (तथा आत्मानं निवेदयेत्) वैसा ही अपने को दूसरों पर प्रकट करना चाहिये। अर्थात् अपने विषय में किसी को धोखा न देवे।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः। १६४॥
(२५५)

(यः अन्यथा सन्तं आत्मानं अन्यथा सत्सु भाषते) जो जैसा है उसके विपरीत अपने को प्रकट करता है (स लोके पापकृत्तमः) वह संसार में सबसे बड़ा पापी (स्तेनः आत्मापहारकः) चोर और आत्म-घाती है।

---

२५४ यो यथोपचरेदेनं

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥१६५॥
(२५६)

(वाचि सर्वे अर्थाः नियताः) वाणी में ही सब अर्थ नियत हैं। (वाक् मूला वाक् विनिःसृताः) सब का मूल वाणी है। वाणी से ही सब निकले हैं। (तां वाचं) उस वाणी को (यः तु स्तेनयेत्) जो चुरावे (स सर्वस्तेयकृत् नरः) वह पुरुष सब चोरियों का करने वाला है।

तात्पर्य यह है कि संसार के सब काम बोल कर ही चलते हैं। इसलिये बोली के द्वारा किसी को धोखा देना उचित नहीं है।

महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः॥१६६॥
(२५७)

(महर्षि-पितृ-देवानां अनृण्यं यथाविधि गत्वा) ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण को यथाविधि चुका कर (पुत्रे सर्वं समासज्य) पुत्र को सब कुछ सौंप कर (वसेत् माध्यस्थं आश्रितः) वाणप्रस्थ आश्रम को जावे।

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥१६७॥
(२५८)

(एकाकी चिन्तयेत् नित्यं) नित्य अकेला चिन्तन करे।

---

२५७ आस्थितः (मे, गो, न); आश्रितः

२५८ हितमात्मनि

(विविक्ते हितं आत्मनः) अपने हित की विवेचना करता हुआ (एका की चिन्तयानः हि परं श्रेयः अधिगच्छति) अकेला चिन्तन करके ही परंपद को पाता है।

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥१६८॥
(२५६)

(एषा गृहस्थस्य विप्रस्य शाश्वती वृत्तिः उदिता) गृहस्थ विप्र की यह नित्य वृत्ति अर्थात् दिनचर्या कही गई है। (व्रतकल्पः स्नातकः तु सत्वग्वृद्धिकरः शुभः) जो स्नातक व्रत करता है वह शुभ है और प्राणियों की वृद्धि करता है।

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥१६९।
(२६०)

(वेद शास्त्रवित् विप्रः) वेद और शास्त्र का जानने वाला विद्वान् (अनेन वृत्तेन वर्तयन्) इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करता हुआ (व्यपेतकल्मषः) पाप को क्षीण करता हुआ (नित्यं) सदा (ब्रह्मलोके महीयते) ब्रह्मलोक में वड़ाई पाता है।

———

पाँचवा अध्याय

———:———

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ १ ॥
(४)

(अनभ्यासेन वेदानां) वेदों का अभ्यास न करने से, (आचारस्य च वर्जनात्) सदाचार के छोड़ देने से, (आलस्यात्) आलस्य से, (अन्न दोषात् च) और अन्न के दोष से (मृत्यु) मौत (विप्रान्) विद्वानों को (जिघांसति) खाना चाहती है।

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविः शेषं च यद्भवेत् ॥२॥ (२४)

(यत् किंचित्) जो कुछ (स्नेह संयुक्तं) घी या तेल में पका हो (भक्ष्यं भोज्यम् अगर्हितम्) और खाने के योग्य तथा अनिन्दनीय हो (तत्) उसको (परि-उषितम् अपि) बासी होने पर भी (आद्यं) खा लेने में दोष नहीं है, (हविः शेषं च यद् भवेत्) हवन का शेष हो तो उसको भी।

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥३॥ (२५)

४ तु वर्जनात् (गो) ; विवर्जनात्

२४ भक्ष्य भोज्यम् (गो)

२५ विक्रियाः ; विक्रिया ; विक्रियाम्

(चिरस्थितं अपि) देर से रक्खा हुआ भी (तु आद्यं) खा लेना चाहिये (अ + स्नेह + आक्तं) बिना घी का (द्विजातिभिः) द्विजों से (यव + गोधूम + जं सर्वं) जौ और गेहूँ से बना हुआ (पयसः च एव विक्रिया) और दूध के विकार अर्थात् खोया आदि से मिला हुआ ।

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥४॥(४३)

(गृहे) गृहस्थाश्रम में (गुरौ) आचार्य कुल अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम में (अरण्येवा) अथवा वानप्रस्थाश्रम में (निवसन्) रहता हुआ (आत्मवान् द्विजः) आत्म-गौरवशील द्विज (आपदि अपि) कष्ट पड़ने पर भी (अवेदविहितां हिंसां न समाचरेत्) वेद विरुद्ध हिंसा को न करे । अर्थात् जिन जिन स्थानों पर दूसरों को पीड़ा देना शास्त्रों में बताया है उन उनको छोड़ कर अन्यत्र कभी किसी को पीड़ा न दे । शास्त्र में जिन स्थानों पर पीड़ा देना विहित है वह इस प्रकार के हैं :—दुराचार से बचाने के लिये माता-पिता तथा आचार्य बालकों तथा शिष्यों को दण्ड दें । राजा दुष्टों को दण्ड दे । जिन पशुओं से मृत्यु का भय हो उनको मारे ।

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥५॥
(४४)

(अस्मिन् चराचरं) इस लोक में (या वेदविहिता हिंसा नियता) जो वेद विहित हिंसा नियत है, (अहिंसां एव तां विद्यात्) उसको अहिंसा ही समझना चाहिये । (वेदात् धर्मः हि निर्बभौ) वेद से ही धर्म निकला है ।

अर्थात् जिन स्थानों पर दण्ड का विधान है वहाँ हिंसा के डर से हट नहीं जाना चाहिये अन्यथा महती हानि होने की आशंका है। यदि बच्चे को दण्ड न दें तो वह बिगड़ जायेंगे। यदि राजा हिंसा के भय से चोर को दण्ड न दे तो चोरी बढ़ जायगी। इसलिये जिन स्थानों पर वेद ने प्राणियों के उपकारार्थ किसी को पीड़ा पहुँचाने का विधान किया है उसको हिंसा की कोटि में ही न रखना चाहिये।

इसको अगले श्लोक में स्पष्ट किया है :—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥६॥(४५)

(यः) (जो आत्म-सुख-इच्छया) अपने सुख की इच्छा से (अहिंसकानि भूतानि) निरपराध जीवों को (हिनस्ति) मारता है, (स जीवन् च मृतः च एव) वह जीता भी मुर्दा है क्योंकि दूसरे प्राणियों के दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। (न क्वचिन सुखमेधते) वह कहीं सुख को नहीं पाता।

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥७॥ (४६)

(यः) जो (प्राणिनां) प्राणियों के (बन्धन-वध-क्लेशान् न चिकीर्षति) क़ैद करने, मारने या पीड़ा देने की इच्छा नहीं करता (स सर्वस्य हित प्रेप्सुः) वह सब का हित-चिन्तक है। (सुखं अत्यन्तं अश्नुते) और बहुत सुख को पाता है।

---

४६ यो बन्धनपरिक्लेशान्।
सुख प्रेप्सुः (न); सुखमानन्त्यम् (मे)।

यद् ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥८॥ (४७)

(यः) जो (किंचन) किसी को भी (न हिनस्ति) नहीं मारता वह (अयत्नेन) सुगमता से ही तत् (अवाप्नोति) उस सबको प्राप्त कर लेता है, (यत् ध्यायति) जिस पर वह ध्यान लगाता है, (यत् कुरुते) या जो काम करता है, (यत्र च धृति बध्नाति) या जिसमें वह दृढ़ता से मन लगाता है ।

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥९॥
(४८)

(प्राणिनां) प्राणियों की (हिंसां) हिंसा को (अकृत्वा) बिना किये (मांसं) मांस (क्वचित्) कहीं भी (न उत्पद्यते) नहीं मिलता । (न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः) और प्राणियों का वध स्वर्ग का देने वाला नहीं है । (तस्मात्) इसलिये (मांसं) मांस को (विवर्जयेत) त्याग दे ।

समुत्पत्तिंच मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥१०॥
(४९)

(मांसस्य) मांस (सं - उत्पत्तिं च) के उत्पन्न होने की रीति तथा (देहिनाम्) प्राणियों की (वध-बन्धौ) हत्या तथा पीड़ा को (प्रसमीक्ष्य) देखकर (सर्वमांसस्य) सब मांस के (भक्षणात्) भक्षण से (निवर्तेत) बचा रहे ।

---

४७ रतिं ; धृतिं ।

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ११॥ (५०)

(पिशाचवत्) पिशाच अर्थात् दुष्ट पुरुषों के समान (विधिं) भोजन तथा भक्ष्य अभक्ष्य के नियम को (हित्वा) छोड़कर (यः मासं न भक्षयति) जो मांस को नहीं खाता अर्थात् जो पुरुष भक्ष्य-अभक्ष्य सम्बन्धी नियम तोड़ने वाले पिशाचों का अनुकरण नहीं करता, (स) वह (लोके) जगत में (प्रियतां याति) प्रियता को पाता है। (व्याधिभिः च न पीड्यते) और न रोगों में ग्रसित होता है।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥१२॥ (५१)

(अनुमंता) अनुमति देने वाला, (विशसिता) अंगों को काटने वाला, (निहन्ता) मारने वाला, (क्रय विक्रयी) मोल लेने और बेचने वाला, (संस्कर्ता) पकाने वाला, (च उपहर्ता च) परोसने वाला (खादकः च) और खाने वाला (इति घातकाः) यह सब घातक कहलाते हैं। अर्थात् इन सबको पाप लगता है।

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥१३॥ (५७)

(प्रेतशुद्धिं) मृत्यु सम्बन्धी शुद्धि के नियमों को (तथा एव च) और इसी प्रकार (द्रव्य-शुद्धिं च) द्रव्यों की शुद्धि के

१० प्रियतामेति (गा)। व्याधिभिर्नोपपीड्यते (न)

११ अनुमन्ता विनिहन्ता (गो)

नियमों को भी (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा, (यथावत्) ठीक ठीक (अनुपूर्वशः) क्रम-पूर्वक (चतुर्णां अपि वर्णानां) चारों वर्णों के।

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥१४॥
(५८)

(दन्तजाते) दांत निकलते ही (अनुजाते च) या उसके पीछे (कृतचूडे च) या मुंडन संस्कार होने के पीछे (संस्थिते) यदि कोई मर जाय तो (सर्वे बांधवाः) सब रिश्तेदार (अशुद्धा) अशुद्ध हो जाते हैं। (सूतकें च तथा उच्यते) और ऐसा कहा जाता है कि वह सूतक में है।

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
अर्वाक्-संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥१५॥
(५९)

(दशाहं) दस दिन तक (शावम्) शव या लाश सम्बन्धी (अशौचं) अशुद्धि (सपिण्डेषु) रिश्तेदारों में (विधीयते) मानी जाती है। सपिण्ड का अर्थ है वह लोग जो एक ही पिण्ड अर्थात् शरीर (माता पिता के शरीर) से जन्मे हैं। अर्थात् जिनमें पिण्ड या शरीर (रक्त) सम्बन्धी समानता है। (अर्वाक्) इससे नीचे (अस्थ्नां) अस्थियों के (संचयनाद्) संचय से (त्र्यहं) तीन दिन (एकाहं एव वा) या एक दिन।

सूतक (mourning period) वह काल है जिसमें रिश्तेदार शोक के कारण अन्य सब कार्य्य छोड़ देते हैं। यह

५९ वा ; च

काल भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न हैं। मनु ने तीन अवधि दी हैं—दस दिन, तीन दिन तथा एक दिन।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥१६॥(६०)

(सपिण्डता) रिश्तेदारी (सप्तमे पुरुषे) सातवीं पीढ़ी में (विनिवर्तते) छूट जाती है। (जन्म नाम्नोः) जन्म और नाम दोनों के (अवेदने) याद न रहने से, (समान—उदक भावः तु) आपस में खानपान का व्यवहार भी छूट जाता है। इसलिये सूतक में सम्मिलित होना भी आवश्यक नहीं समझा गया।

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥१७॥
(६१)

(यथा) जैसे (इदं शावं अशौचं) यह लाश सम्बन्धी अपवित्रता (सपिण्डेषु) परिवार वालों में (विधीयते) बताई गई, (जनने अपि) बच्चे के जन्म पर भी (एवं एव) ऐसा ही (स्यात्) समझनी चाहिये (निपुणं शुद्धिं इच्छताम्) अत्यन्त शुद्धि के इच्छुकों को।

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥१८॥
(६२)

६१, ६२ मेधातिथि और गोविन्द ने दोनों को मिला कर एक श्लोक दिया है—

जननेऽप्येवमेवस्यान्माता पित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः॥

(सर्वेषां शावं अशौचं) मृत्यु सम्बन्धी अशुद्धि सबके लिये है। (मातापित्रोः तु सूतकं) जन्म का सूतक मां बाप को ही है। इनमें भी (पिता उपस्पृश्य शुचिः) पिता नहाकर शुद्ध हो जाता है। (सूतकं मातुः एव स्यात्) केवल माता को ही सूतक लगता है।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ॥१९॥ (६५)

(प्रेतस्य) मरे हुये (गुरोः) गुरु के (पितृमेधं) अन्त्येष्टि संस्कार को (समाचरन्) करने वाला (प्रेतहारैः समं) लाश उठाने वालों के साथ (तत्र दशरात्रेण शुद्धयति) दस दिन तक सूतक में रहता है। दस दिन पीछे शुद्ध हो जाता है।

पहले कहा कि रिश्तेदार लोग सूतक मनायें। इस श्लोक में शिष्य तथा लाश उठाने वालों को भी शामिल कर लिया गया है।

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति ।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥२०॥(६६)

(रात्रिभिः मासतुल्याभिः) संख्या में महीनों के बराबर रातों में (गर्भस्रावे) गर्भपात होने पर (विशुध्यति) शुद्ध हो जाती है। (साध्वी रजस्वला स्त्री) अच्छी रजस्वला स्त्री (रजसि उपरते) रज बन्द होने पर (स्नानेन) स्नान करने से शुद्ध होती है।

अर्थात् यदि किसी स्त्री का चार मास का गर्भ गिर जाय तो वह चार दिन में शुद्ध होगी। पाँच मास का गिरे तो पांच दिन में। इत्यादि।

---

६५ शिष्यश्च (गो)। समं तत्र ; समस्तत्र (रा)

संन्निधावेश वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबान्धवैः ॥२१॥
(७४)

(शाव + अशौचस्य) मृत्युसम्वन्धी सूतक का (एषः कल्पः) यह नियम (सन्निधौ वै) निकट का ही (कीर्तितः) कहा गया है। (असन्निधौ) दूर होने पर (संवन्धिबान्धवैः) रिश्तेदारों को (अयं विधिः ज्ञेयः) यह विधि जाननी चाहिये।

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ २२ ॥
(७५)

(विगतं तु विदेशस्थं) दूरस्थ मरने की (शृणुयात्) ख़बर सुने (यः) जो (अनिर्दशम्) दस दिनके भीतर (यत् शेषं दश रात्रस्य) जो दस दिनमें शेष रहें (तावत् एव अशुचिः भ उतने दिन ही सूतक रखना चाहिये।

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥२३
(७६)

(दशाहे अतिक्रान्ते च) दस दिन बीतने पर (त्रिरात्रं अशुचिः भवेत्) तीन दिन का सूतक काफ़ी है, (संवत्सरे व्यतीते तु) वर्ष बीतने पर (स्पृष्ट्वा अपः एव) स्नान करने से ही (विशुद्ध्यति) शुद्ध हो जाता है।

---

७५ तच्छेषं (गो)

७६ दशाहे तु ; दशाहे च

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥२४॥
(८४)

(न वर्धयेत् अघ + अहानि) सूतक के दिनों को बढ़ाना नहीं चाहिये । अर्थात् अवधि से अधिक शोक न करना चाहिये (प्रति-ऊहेत् न अग्निषु क्रियाः) और न अग्नि-क्रिया अर्थात् हवन आदि का निषेध करना चाहिये । (तत् कर्म कुर्वाणः) इस यज्ञ आदि कर्म को करने वाला (सनाभ्यः अपि) सपरिवार (न अशुचिः भवति) दोषी नहीं होता ।

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा ।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥२५॥
(८५)

(दिवा कीर्तिं) चांडाल, (उदक्यां) रजस्वला स्त्री, (पतित) (सूतिकां तथा) और प्रसूता स्त्री को (शवं) लाश को (तत् स्पृष्टिनं चैव) और लाश के छूने वालों को (स्पृष्ट्वा) छूने से (स्नानेन) स्नान करके (शुद्ध्यति) शुद्ध हो जाता है ।

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥२६॥
(९१)

(आचार्यं) आचार्य, (स्वं उपाध्यायं) अपने उपाध्याय (पितरं) पिता, (मातरं) माता, (गुरुम्) गुरु का (निर्हृत्य प्रेतात्) अन्त्येष्टि संस्कार करने से (व्रती) ब्रह्मचारी (न व्रतेन वियुज्यते) अपने व्रत से छूटता नहीं अर्थात् ब्रह्मचारी का व्रत इन भंग नहीं होता क्योंकि यह तो उसका धर्म है ।

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥२७॥

(९३)

(न राज्ञां अघ दोषः अस्ति) राजों को कभी सूतक नहीं लगता, (व्रतिनां न च सत्रिणाम्) न ब्रह्मचारियों को, न यज्ञ में बैठे हुओं को । (ते हि सदा) वे तो सदा (ऐन्द्रं स्थानं उपासीना ब्रह्मभूतः) मुख्य स्थान पर बैठे हुये पवित्र हैं ।

सूतक और अशौच के जो नियम ऊपर कहे गये वह साधारण गृहस्थों के लिये हैं । इस कोटि में इन तीन को शामिल नहीं किया गया । पहला राजा क्योंकि राजा को नित्य ही प्रजाके काम में तत्पर रहना पड़ता है । जब तक अशौच मनावे उस काल में यदि शत्रु आक्रमण करदे तो क्या हो । इसी प्रकार ब्रह्मचारी को भी इस दोष से मुक्त कर दिया, सत्री अर्थात् जो यज्ञ को रच कर उसमें लगे हुये हैं उनके कार्य्य में भी विघ्न नहीं होना चाहिये । अर्थात् सत्र को जारी रखना चाहिये ।

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ २८ ॥

(९४)

(राज्ञः) राजा की (माहात्मिके स्थाने) बड़े स्थान में होने के कारण (सद्यः शौचं विधीयते) तुरन्त ही शुद्धि हो जाती है ।

---

९३ व्रतितानां (.?) च विद्युता

९४ महात्मिके (मे, रा) ; महात्मके (गो) । चात्र कारणम् ; चात्रकारणम्

(प्रजानां परिरक्षार्थं आसनं च अत्र कारणम्) इसका कारण यह है कि उसको प्रजा की रक्षा के लिये बिठलाया गया है।

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत्।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान्॥२९॥
(१०१)

(विप्रः) विप्र (असपिण्डं प्रेतं द्विजं) बेरिश्तेदारी के मरे हुये द्विजका (बन्धुवत्) भाईके समान (निर्हृत्य) अन्त्येष्टि संस्कार करके (त्रिरात्रेण) तीन रात में (विशुद्ध्यति) शुद्ध होता है, (मातुः आप्तान् बान्धवान् च) माता के निकटस्थ सम्बन्धियों का अन्त्येष्टि संस्कार करके भी तीन दिन में शुद्ध होता है।

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत्॥ ३० ॥
(१०२)

(यत् + अन्नं अत्ति) जिनका अन्न खाता है (तेषां तु) उन का दाह संस्कार करके (दशाहेन एव शुध्यति) दस दिन में शुद्ध होता है, (अन् + अदन् + अन्नं) यदि अन्न न खाता हो (न चेत् तस्मिन् गृहे वसेत्) और न उस घर में रहता हो तो (अह्ना एव) एक दिन में ही शुद्ध हो जाता है।

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्॥३१॥
(१०५)

(देहिनां) मनुष्यों की (शुद्धेः) शुद्धि के (कर्तॄणि) करने वाले यह हैं :—ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, पानी, लीपना, वायु, कर्म, सूर्य्य और काल।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥३२॥
(१०६)

(सर्वेषाम् एव शौचानाम्) सब शौचों में (अर्थ शौचं परं स्मृतम्)धन की शुद्धि सबसे बढ़कर है। (यः अर्थे शुचिः) जो धन कमाने में शुद्ध है (स शुचिः) वह वस्तुतः शुद्ध है। (न मृत + वारि + शुचिः शुचिः) मिट्टी और जल की शुद्धि शुद्धि नहीं है।

अर्थात् जिसके धन कमाने के साधन शुद्ध नहीं हैं वह कितना ही अन्य बातों में शुद्ध क्यों न हो शुद्ध नहीं कहा जा सकता।

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा देववित्तमाः ॥ ३३ ॥
(१०७)

(क्षान्त्या शुद्धयन्ति विद्वांसः) विद्वान लोग क्षमा के द्वारा शुद्ध होजाते हैं। (दानेन अकार्यकारिणः) जो समय पर कार्य करने से चूक जाते हैं वे दान से। अर्थात् दान करने से उनकी इस भूल का दोष दूर हो जाता है। (प्रच्छन्न पापा जप्येन) छिपे हुये पाप जप करके। (तपसा देववित्तमाः) वेदज्ञ लोग तपस्या से।

मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥३४॥
(१०८)

---

१०६ सर्वेषामेव वर्णानाम् (न)

१०७ द्विजोत्तमाः (मे, रा)

(मृत् + तोयैः) मिट्टी और जलसे (शोध्यम्) मैली चीज़ (शुद्ध्यते) साफ़ हो जाती है। (नदी वेगेन शुद्ध्यति) नदी का कीचड़ आदि वेग अर्थात् तेज़ धारा से शुद्ध होता है। (रजसा स्त्री मनो दुष्टा) मन से दूषित स्त्री रजस्वला होकर शुद्ध होती है (सन्यासेनद्विजोत्तमः) ब्राह्मण सन्यास लेकर शुद्ध होता है, अर्थात् सन्यास में सब स्वार्थों को छोड़ कर निष्काम भावसे कर्म करना होता है।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥३५॥
(१०९)

(गात्राणि) शरीर (अद्भिः) जलों से (शुद्ध्यन्ति) शुद्ध होते हैं। (मनः सत्येन शुद्ध्यति) मन सत्य से शुद्ध होता है। (विद्यातपोभ्यां भूतात्मा) सूक्ष्म शरीर विद्या और तप से। (बुद्धिः ज्ञानेन शुध्ययति) बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम्॥३६॥
(११०)

(एषः) यह (शारीरस्य शौचस्य) शरीर सम्बन्धी शुद्धि का (विनिर्णयः) निर्णय (वः प्रोक्तः) मैंने तुमसे कहा। (नानाविधानां द्रव्याणाम्) अनेक प्रकार की चीज़ों की (शुद्धेः) शुद्धि का (निर्णयम) निर्णय (शृणुत) सुनो।

---

११० विनिर्दिशेत्

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ।
भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ ३७ ॥
(१११)

(तैजसाम्) स्वर्ण आदि (मणीनां च) मणियों, (सर्वस्य अश्म-मयस्य च) और सब पत्थर की वस्तुओं की (शुद्धिः) शुद्धि (भस्मना) राख से (अद्भिः) जल से (मृदा चैव) और मिट्टी से (उक्ता मनीषिभिः) विद्वानों ने बताई है ।

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति ।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ३८ ॥
(११२)

(निर्लेपं कांचनं भांडम्) सोने का बर्तन जिसमें कोई गीली चीज़ न लगी हो, (अब्जम्) शंख मोती आदि जल में से उत्पन्न होने वाले पदार्थों से बनी हुई चीज़ (अश्ममयं चैव) पत्थर की चीज़ (राजतं च) और चाँदी की चीज़ (अनु पस्कृतम्) जिसमें नक़्श न हों (अद्भिः एव विशुद्ध्यति) केवल जल से शुद्ध होते हैं ।

अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ३९ ॥
(११३)

(अपाम् अग्नेः च संयोगात्) जल और अग्नि के संयोग से (हैमं रौप्यं च निर्बभौ) सोना और चांदी निकले हैं । (तस्मात्) इस लिये (तयोः) इन दोनों की (निर्णेकः) शुद्धि (स्व योन्या-

---

११३ अग्नेश्चापां च (मे); अग्नेरपां च (न) । बलवत्तरः । रूप्यं (J)

एव) अपनी ही योनि अर्थात् जल और अग्नि से (गुणवत्तरः) अच्छी है ।

ताम्रायः कांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ४० ॥

(११४)

(ताम्र) तांबे, (अयः) लोहे, (कांस्य) कांसे, (रैत्यानाम्) रीति अर्थात् पीतल, (त्रपुणः) लाख, (सीसकस्यच) तथा सीसे का बर्तन (क्षार आम्लोदक वारिभिः) क्षार या अम्ल के पानी तथा जल से (यथा अर्हं शौचं कर्तव्यम्) जैसा जैसा योग्य हों साफ़ करना चाहिये ।

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ४१ ॥

(११५)

(सर्वेषां चैव) और सब (द्रवाणां) द्रव अर्थात् घी आदि बहने वाले पदार्थों की (शुद्धिः) शुद्धि (उत्पवनं स्मृतम्) केवल छान लेने से बताई है । (संहतानाम्) ठोस चीज़ों की जैसे चौकी आदि, (प्रोक्षणम्) पोंछने से (दारवाणां च तक्षणम्) लकड़ी की बनी हुई चीजों की छीलने या खराद करने से ।

---

११४ कांस्यरौप्याणां (मे) ; कांस्यरूप्याणां (न) ; कांस्य रूपाणां सीसकस्य वा

११५ उत्पवनं ; उक्षावनं ; उत्प्लवनं ; आप्लवनं

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ४२ ॥

(११६)

(यज्ञकर्मणि) यज्ञकर्म में (यज्ञ पात्राणाम्) यज्ञ के वर्तनों की शुद्धि (पाणिना मार्जनम्) हाथ से मांजने से (चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु) चमचों और ग्रहों अर्थात् प्यालों की शुद्धि धो डालने से हो जाती है। ग्रह उन प्यालों को कहते हैं जिनमें सोम रस आदि निकाला जाता है।

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

(११८)

(चरूणां स्रुक् स्रुवाणाम्) चरु, स्रुक्, स्रुवा आदि यज्ञ के पात्र जिनमें घी आदि चिकने पदार्थ लिये जाते हैं, (स्फ्य शूर्प शकटानां च) स्फ्य लकड़ी की तलवार जैसी चीज़ होती है और मिट्टी आदि खोदने में काम आती है, सूप, शकट या गाड़ी जिसमें भर कर चांवल या सोम आदि लाते हैं। (मुसल+उलूखलस्य च) और मूसली तथा ओखली इनकी (शुद्धिः उष्णेन वारिणा) शुद्धि गर्म जल से होती है।

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ४४ ॥

(११८)

(बहूनां धान्य वाससाम्) वहुत से अन्न तथा कपड़ों की

११६ तु शुद्धिः प्रक्षालनेन वै ; प्रक्षालनेन च

(शौचम्) शुद्धि (अद्भिः तु प्रोक्षणम्) पानी से पोंछ देने से हो जाती है। (अल्पानां तु शौचम्) थोड़े अन्न तथा कपड़ों की (शौचम्) शुद्धि (अद्भिः प्रक्षालनेन) जल द्वारा धोने से ही (विधीयते) हो जाती है।

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते॥ ४५॥
(११९)

(चर्मणाम्) चमड़े के चीज़ों की (शुद्धिः) शुद्धि (चैलवत् वै) कपड़ों के समान ही है। (दलानाम्) ताड़ आदि के पत्तों से बनी हुई चटाई आदि की भी (तथैव च) उसी प्रकार होती है। (शाक मूलफलानां च) शाक, मूल और फल की (धान्यवत् शुद्धिः इष्यते) अन्न के समान शुद्धि होती है।

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः॥ ४६॥
(१२०)

(कौशेय + आविकयोः) कृमि के कोश से उत्पन्न हुये रेशम को **कौशेय** कहते हैं। अवि अर्थात् भेड़ की ऊन से बने हुये को **आविक** कहते हैं। इनकी शुद्धि (ऊषैः) रेह से, (कुतपानाम् अरिष्टकैः) नैपाली कम्बलों की रीठा से, (अंशु पट्टानाम्) सन आदि के कपड़ों की (श्रीफलैः) बेल के फल से (क्षौमाणां) वल्कल-वस्त्रों की (गौरसर्षपैः) सफ़ेद सरसों से।

---

११९ चैलवच्च ; चेलवंच

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ ४७ ॥
(१२१)

(विजानता) ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि (शङ्ख शृङ्गाणाम्) संख और सींग की वनी हुई चीजों की, (अस्थि दन्त मयस्य च) हड्डी तथा दांत की वनी हुई चीजों की (शुद्धिः) शुद्धि (क्षौमवत्) क्षौम अर्थात् वल्कल वस्त्रों के समान (कार्या) करे, (गोमूत्रेण) गाय के मूत्र द्वारा (उदकेन वा) या जल-द्वारा ।

प्रोक्षणात् तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति ।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ ४८ ॥
(१२२)

(तृणकाष्ठं च पलालं च) घास फूस (प्रोक्षणात् एव शुद्धयति) पोंछने से ही शुद्ध होते हैं । (वेश्म) घर (मार्जन + उपांजनैः) झाड़ू देने तथा लीपने से (पुनः पाकेन मृतमयम्) मिट्टी का वर्तन आग में तपाने से ।

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ ४९ ॥
(१२३)

(मद्यैः) शराव से (मूत्रैः) पेशाव से (पुरीषैः) मल से (ष्ठीवनैः) थूक से (पूयशोणितैः) राध और ख़ून से (संस्पृष्टम्) लगा हुआ (मृण्मयम्) मिट्टी का वर्तन (पुनः पाकेन) दुबारा

---

१२२ तृणकाष्ठानि (न) । मार्जनोल्लेपणै

१२३ मूत्र पुरीषैर्वा ; मूत्रैः पुरीषैर्ता

तपाने से भी (न एव शुद्ध्येत) शुद्ध नहीं होता।

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुध्यति पञ्चभिः ॥५०॥
(१२४)

(भूमिः) भूमि (पंचभिः शुद्ध्यति) पांच चीज़ों से शुद्ध होती है—संमार्जन अर्थात् झाड़ू से (उपाञ्जनेन) लीपने से, सेकेन अर्थात् जल छिड़कने से, उल्लेखनेन अर्थात् खुड़चने से (गवां परिवासेन च) और गायों के वास करने से।

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत्।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ ५१ ॥
(१३४)

(विट्-मूत्रोत्सर्ग शुद्धि अर्थम्) मल-मूत्र त्याग की शुद्धि के लिये (मृत वारि) मिट्टी और पानी (आदेयम् अर्थवत्) पर्याप्त परिमाण में लेना चाहिये। (दैहिकानां मलानां च द्वादशसु अपि शुद्धिषु) शारीरिक मलों की बारह शुद्धियों के लिये भी जल और मिट्टी पूरा-पूरा लेना चाहिये।

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥५२॥
(१३५)

शरीर के बारह मल यह है :—चर्बी, वीर्य, ख़ून, मज्जा, मूत्र, मल, नाक का मैल, कान का मैल, कफ़, आंसू, कीचड़, पसीना।

---

१२४ संमार्जनोपाञ्जनेन ; संमार्जनेनाञ्जनेन

१३५ मूत्रं । कर्णविण् नखाः ; घ्राणकर्णविट्

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् ।
वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा ॥ ५३ ॥

(१३८)

मूत्र त्याग और मल त्याग करके (आचान्तः) आचमन करके (खानि उपस्पृशेत्) इन्द्रिय-स्पर्श करें, (वेदम् अध्येष्यमाणः च अन्नम् अश्नन् च सर्वदा) वेद पढ़नेको बैठने तथा अन्न खाने के पहले भी सदा आचमन और इन्द्रिय-स्पर्श करे।

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च ।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ ५४ ॥

(१४६)

(एषः शौचविधिः कृत्स्नः) यह पूरी शुद्धि की विधि । (द्रव्य-शुद्धिः तथा एव च) और इसी प्रकार द्रव्य शुद्धि भी । (उक्तः वः सर्व वर्णानां) तुम से कही गई सब वर्णों के लिये (स्त्रीणां धर्मान् निबोधत) अब स्त्रियों के धर्म सुनो ।

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्यं कुर्यादुभे कुले ॥ ५२ ॥

(१४९)

(पित्रा भर्त्रा सुतैः वा अपि) पिता, भाई या पुत्र से (न इच्छेत् विरहम् आत्मनः) अपना वियोग न चाहे । (एषां हि

---

१३८ मूत्रपुरीषं च (गो) ; मूत्रं पुरीषं च
१४६ धर्म; धर्मान्
१४९ एषां च (गो) ; एषां तु (रा)

वियोगेन स्त्री गर्ह्यं कुर्यात् उभे कुले) इनसे अलग होकर भय है कि स्त्री दोनों कुलों को दूषित न कर दे।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ ५३ ॥
(१५०)

(गृहकार्येषु दक्षया सदा प्रहृष्टया भाव्यम्) घर के कार्य करने में दक्ष हो, सदा आनन्द से रहे। (सुसंस्कृत उपस्करया) बर्तनों को शुद्ध रक्खे, (व्यये च अमुक्त हस्तया) खुले हाथ ख़र्च न करे, अर्थात् मित-व्यय करे।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥५४॥
(१५१)

(यस्मै दद्यात् पिता तु एनाम्) पिता इसका जिस के साथ विवाह कर दे, (भ्राता च पितुः अनुमतेः) या भाई पिता की आज्ञा से, (तं शुश्रूषेत जीवन्तम्) जीते जी उसकी सेवा करे। (संस्थितं च न लंघयेत्) और उसके मरने पर व्यभिचार न करे।

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ ५५ ॥
(१५२)

(आसाम्) इन स्त्रियों का (स्वस्त्ययनं प्रजापतेः यज्ञः च)

---

१५० गृहकार्ये च

१५१ संस्थितं न च

१५२ यज्ञस्त्वासां। स्वाम्यकारकम्

स्वस्त्ययन और प्राजापत्य यज्ञ (विवाहेषु प्रदानं च) और विवाह में पति के हवाले करना (मंगलार्थं प्रयुज्यते) इनके कल्याण के लिये किया जाता है। (स्वाम्यकारणं च) और यह उनके स्वामीपन का कारण है। अर्थात् विवाह से स्त्रियां अपने पति की सम्पत्ति की स्वामिनी हो जाती हैं।

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥५६॥

(१६३)

(या) जो स्त्री (अपकृष्टं पतिं हित्वा) थोड़े गुण वाले पति को छोड़कर (उत्कृष्टं निषेवते) उससे उत्कृष्ट का सेवन करती है (सा लोके निंद्या एव भवेत्) वह लोक में निन्दनीय होती है (परपूर्वेति च उच्यते) और उसको चिढ़ाने के लिए लोग कहते हैं कि इसका पहला पति तो और था।

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ५७ ॥

(१६४)

स्त्री लोक में व्यभिचार से निन्दित हो जाती है। उसका दूसरा जन्म शृगाल का होता है। पाप के रोग से पीड़ित होती है।

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम्।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ ५८ ॥

(१६७)

---

१६३ योपसेवते। निन्द्येह (गो)। साभवेल्लोके ; लोके भवति
१६४ चाप्नोति ; प्राप्नोति

(एवं वृताम्) ऐसे चलन वाली (सवर्णाम्) अपने वर्ण की (स्त्रीम्) स्त्री को (पूर्वमारिणीम्) अगर वह पहले मर जाय तो (धर्मवित् द्विजातिः) धर्मज्ञ द्विज पुरुष उसे (अग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैः च दाहयेत्) अग्निहोत्र आदि करके जलावे ।

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ ५६ ॥
(१६९)

इस विधि से कभी पंच यज्ञों को न त्यागे । आयु का दूसरा भाग विवाह करके गृहस्थ आश्रम में लगावे ।

छठा अध्याय

—:o:—

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥ (१)

(स्नातकः द्विजः) स्नातक द्विज (एवं विधिवत् गृहाश्रमे स्थित्वा) इस प्रकार नियमानुसार गृहस्थाश्रम में रहकर (विजित-इन्द्रियः) इन्द्रियों को जीतकर अर्थात् विषयों में न फंस कर (नियतः) नियमों का पालन करता हुआ (यथावत्) ठीक ठीक (वने वसेत् तु) वन में वसे। अर्थात् गृहस्थ के पीछे वानप्रस्थ आश्रम में जावे।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥ (२)

(गृहस्थः तु) गृहस्थ (यदा) जब (आत्मनः) अपने (वली पलितम्) शरीर को कमजोर (पश्येत्) देखे। (अपत्यस्य च अपत्यम्) और पुत्र के पुत्र को देखे (तथा) तब (अरण्यं समाश्रयेत्) वानप्रस्थी हो जावे।

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥
(३)

---

३ वने

(ग्राम्यं आहारम्) गांव के भोजन (सर्वं च एव परिच्छदम्) और सब सामान—घोड़ा, चारपाई आदि को (संत्यज्य) त्याग कर (भार्यां पुत्रेषु निक्षिप्य) स्त्री को पुत्रों के सुपुर्द करके, (सह एव वा) या स्त्री के साथ साथ (वनं गच्छेत्) वन को चला जाय।

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥
(४)

(अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र (गृह्यं च अग्निपरिच्छदम्) और होम सम्बन्धी पात्रों को (समादाय) लेकर (ग्रामात्) वस्ती से (अरण्यं निःसृत्य) वन में जाकर (नियतेन्द्रियः निवसेत्) जितेन्द्रिय होकर रहे।

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥ (५)

(विविधैः मेध्यैः मुनि अन्नैः) अनेक प्रकार के पवित्र मुनि-अन्नों (शाक मूल फलेन वा) या शाक मूल फल से (एतान् एव महायज्ञान्) इन महायज्ञों को (विधिपूर्वकम्) नियमानुसार (निर्वपेत्) करे।

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥
(६)

---

४ समानीय (न)। गृह्यं चाथ। निःक्रम्य; निःसृत्य।

६ चीरं च। वा मार्गं वा वार्क्षमेव वा (गो)। नखांस्तथा (मे)

(वसीत चर्म चीरं वा) मृगचर्म या वल्कल पहने। (सायं स्नायात् प्रगे तथा) सायं और प्रातः स्नान करे। (जटाः च श्मश्रु लोम नखानि च) जटा, डाढ़ी, मोछ तथा नाखूनों को (नित्यं विभृयात्) सदा रक्खे। अर्थात् केशच्छेदन न करे।

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥७॥ (७)

(यद् भक्ष्यं स्यात्) जो कुछ खाने योग्य पदार्थ हो (ततः) उसमें से (शक्तितः) अपनी शक्ति के अनुसार (वलिं भिक्षां च दद्यात्) वलि और भिक्षा दे। वलि का अर्थ है प्राणियों का भोजन। (आश्रम + आगतान्) आश्रम में आये हुओं का (अप्, मूल, फल, भिक्षाभिः) जल, मूल, फल आदि से (अर्चयेत्) सत्कार करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥८॥ (८)

(स्वाध्याये नित्य युक्तः स्यात्) स्वाध्याय में सदा रत रहे। (दान्तः) इन्द्रियों का दमन करके (मैत्रः) सबसे मित्रता करके (समाहितः) मन को वश में रखकर (दाता) दान दे, (अनादाता) दान न ले, (सर्वभूत + अनुकम्पकः) सब प्राणियों पर दया करे।

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥९॥ (९)

---

७ भक्षः; भक्ष ; भैक्ष्यं

८ स्वाध्यायशीलो नित्यं स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः। त्यक्तद्वन्द्वो ऽनिशं दाता सर्वं भूतानुकम्पकः ॥ (गो)

नियमानुसार वैतानिक अग्निहोत्र करे। दर्श और पौर्णमास पर्व को यथाशक्ति छूटने न दे।

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्।
तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥१०॥ (१०)

ऋक्ष-इष्टि, आग्रयण इष्टि, चातुर्मास्य इष्टि करता रहे। तुरायण और दाक्षायण भी।

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥११॥
(११)

(वासन्त शारदैः) वसन्त और शरद ऋतु के (स्वयमाहृतैः) अपने हाथ से लाये हुये (मेध्यैः मुनि+अन्नैः) पवित्र मुनि-अन्नों द्वारा (पुरोडाशान् चरून् च) पुरोडाश और चरु को (पृथक्) अलग अलग (विधिवत्) विधि के अनुसार (निर्वपेत्) बनावे।

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥१२॥
(१२)

(तद् वन्यं मेध्यतरं हविः) उस वन की पवित्र हवि को (देवताभ्यः हुत्वा) अग्नि में आहुति देकर (शेषम् आत्मनि युंजीत) शेष को स्वयं अपने प्रयोग में लावे। (लवणं च स्वयं कृतम्) स्वयं अपने बनाये हुये नमक को अर्थात् या तो नमक न खावे या स्वयं बनाया हुआ खावे।

---

१० दर्शेष्ट्या (मे)। नक्षत्रेष्टिं तथा दर्शपौर्णमासानि चाहरेत् (गो)। उत्तरायणं (च) क्रमशो ; नारायणं च क्रमशो। दक्षिणायनमेव च (गो)।

१२ देवताभ्यश्च

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥
(१३)

(अद्यात्) इन चीज़ों को खावे, स्थलज अर्थात् भूमि में पैदा हुये या जल में पैदा हुये फूल, मूल और फलों को। पवित्र वृक्षों से उत्पन्न हुओं को। (फलसंभवान् स्नेहान् च) फलों से पैदा हुए तैलों को।

वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥१४॥
(१४)

इन चीज़ों को न खावे :—शराव, मांस, (भौमानि कवकानि) भूमि में उत्पन्न हुये कवक (शायद यह कुकुरमुत्ता हो), भूतृण (यह भी एक शाक है), शिग्रुक (शायद सहजन हो), श्लेपात्मक फल जैसे लहसोड़ आदि।

नोट—कवक, भूतृण, शिग्रक आदि किन शाकों के नाम हैं, यह कहना कठिन है। शायद यह वन की चीजें हैं। इन का वाणप्रस्थी के लिये निषेध है।

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥१५॥
(१५)

(आश्व युजे मासि) क्वार के महीने में (पूर्व संचितम्) पहले का रक्खा हुआ, (मुनि + अन्नम्) मुनि-अन्न, (जीर्णानि

---

१४ मधुमांसानि; मधुमांसं च, श्लेप्मातक०; श्लेष्मान्तक०

वासांसि च एव) और पुराने वस्त्र, (शाक फलानि च) और शाक तथा फल त्याग दे।

वर्षा से पूर्व मुनि + अन्न आदि वर्षा-काल के लिये इकट्ठा किया जाता है। इसे वर्षा के पीछे फेंक देना चाहिये। क्योंकि क्वार से ताज़ा मिलने लगता है।

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥१६॥

(१६)

(केनचित्) किसी के द्वारा (उत्सृष्टम् अपि) छोड़े हुये भी (फालकृष्टम्) खेत के धान्य आदि को (न अश्नीयात्) न खावे (आर्तः अपि) रोग में भी (ग्रामजातानि मूलानि च फलानि च) गांव में उत्पन्न हुये मूल और फल को न खावे।

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥१७॥

(१८)

(नक्तं च अन्नं समश्नीयात्) या तो केवल रात को भोजन करे (दिवा वा) या केवल दिन को (आहृत्य) लाकर (शक्तितः) शक्ति के अनुसार। (चतुर्थकालिकः वा स्यात्) या चार समय में एक समय खाये अर्थात् दो दिन में एक वार। (वा अपि अष्टम-कालिकः) या आठ समय में एक वार भी।

---

१६ उच्छिष्टमपि (गो)। पुष्पाणि च फलानि च (मे, गो, न)
१८ 'वान्न'; 'चान्न'

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् ।
पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत् ॥१८॥
(२०)

(वा) या (चान्द्रायणविधानैः) चान्द्रायण व्रत को (शुक्लकृष्णे च) शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष में (वर्तयेत्) वर्ते । (वा) या (पक्षान्तयोः) दोनों पक्षों के अन्त में (क्वथितां यवागूम्) जौ की पकी लप्सी (सकृत् अश्नीयात्) एक बार खावे ।

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥१९॥ (२१)

या सदा केवल पुष्पमूल और फल खावे, जो समय के पक्ष में हुये हों या स्वयं वृक्ष से गिर गये हों । (वैखानसमते स्थितः) वाणप्रस्थी बनकर ।

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥२०॥ (२६)

(अप्रयत्नः सुखार्थेषु) अपने सुख के लिये यत्न न करे । ब्रह्मचारी रहे, ज़मीन पर सोवे, (शरणेषु अममः च एव) मकान आदि में ममता न करे, (वृक्ष मूलनिकेतनः) वृक्ष के नीचे ही पड़ रहा करे ।

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥२१॥ (२७)

(तापसेषु एव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षम् आहरेत्) वाणप्रस्थी

---

२० व्वागुं (s)
२७ भैक्षमाचरेत

ब्राह्मणों से अत्यावश्यक भिक्षा ले लेवे। (गृहमेधिष च अन्येषु) अन्य गृहस्थों से भी, (द्विजेषु वनवासिषु) यदि कोई जंगल में वसा हुआ ब्राह्मण हो, तो उससे भी ले ले।

ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन्।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥२२॥ (२८)

या गांव से लाकर वन में वसता हुआ आठ ग्रास खा लेवे। या तो पत्ते में लेवे या हाथ में या ठीकरे में।

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥२३॥
(२९)

(विप्रः वने वसन्) वन में रहकर ब्राह्मण (एताः च अन्याः च दीक्षाः सेवेत) इन नियमों का तथा अन्य नियमों का पालन करे। (आत्मसंसिद्धये च) और आत्म-सुधार के लिये (विविधाः औपनिषदीः च) भिन्न-भिन्न उपनिषत् सम्बन्धी नियमों का पालन करे।

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥२४॥ (३०)

विद्या और तप की वृद्धि तथा शरीर की शुद्धि के लिये यह उपनिषदों के नियम तो ऋषियों, ब्राह्मणों और गृहस्थों को भी पालने चाहिये।

---

२९ आत्मसंसिद्धये; आत्मसंशुद्धये

३० सिद्धये

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥२५॥
(३३)

(आयुषः तृतीयं भागम्) आयु के तीसरे भाग में (वनेषु च विहृत्य एव) वाणप्रस्थाश्रम के कर्तव्य को समाप्त करके (आयुषः चतुर्थं भागम्) आयु के चौथे भाग में (संगान् त्यक्त्वा) सम्बन्धों को छोड़कर (परिव्रजेत्) संन्यासी हो जाय ।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥२६॥
(३५)

(ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य) तीनों ऋणों को चुका कर (मनः मोक्ष निवेशयेत्) मन को मोक्ष में लगावे । (अनपाकृत्य) ऋणों को न चुका कर (मोक्षं सेवमानः तु) मोक्ष का सेवन करनेवाला तो (अधः व्रजति) अधोगति को प्राप्त होता है ।

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥२७॥
(३६)

(अधीत्य विधिवत् वेदान्) वेदों को नियमानुसार पढ़कर, (पुत्रान् च धर्मतः उत्पाद्य) धर्मानुकूल सन्तान उत्पन्न करके (इष्ट्वा च शक्तितः यज्ञैः) और यथाशक्ति यज्ञ करके (मनः मोक्षे निवेशयेत्) मन को मोक्ष में लगावे ।

---

३३ च; तु । त्यक्तसङ्गः (गो)

३५ नियोजयेत् (गो)

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥२८॥
(३७)

(द्विजः वेदान् अनधीत्य) ब्राह्मण वेद न पढ़कर, (अनुत्पाद्य तथा सुतान्) सन्तान न उत्पन्न करके और (अनिष्ट्वा च एव यज्ञैः च) यज्ञ न करके (मोक्षम् इच्छन्) जो मोक्ष की इच्छा करता है, (व्रजति अधः) वह अधोगति को प्राप्त होता है ।

प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥२९॥
(३८)

(सर्ववेदस दक्षिणां प्राजापत्याम् इष्टिं निरूप्य) सर्वस्व दक्षिणा वाली प्राजापत्य इष्टि को करके (आत्मनि अग्नीन् समारोप्य) अपने आत्मा में अग्नियों को धारण करके (ब्राह्मणः प्रव्रजेत् गृहात्) ब्राह्मण घर छोड़कर सन्यासी होवे ।

अर्थात् प्राजापत्य यज्ञ में अपना सब कुछ दक्षिणा में देवे । अबतक अग्नि को वेदी में जलाकर हवन करता था । परन्तु सन्यासाश्रम में अपना आत्मा ही अग्नि-स्वरूप हो जाता है । भौतिक यज्ञ के स्थान में आत्मिक यज्ञ करना होता है । इसलिये भौतिक यज्ञ का निषेध है ।

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३०॥
(३९)

---

३७ वेदम् (मे)। तथा प्रजाम् ; तथा प्रजाः (मे) ; तथात्मजान् (न); तथा सुतम् (गो)

(यः सर्व भूतेभ्यः दत्वा अभयं गृहात् प्रव्रजति) जो सर्वस्व दान करके अभय होकर घर त्याग देता है, (तस्य ब्रह्मवादिनः) उस ब्रह्मवादी के (लोकाः तेजोमयं भवन्ति) लोक-परलोक प्रकाशमय हो जाते हैं। अर्थात् वह अन्धकार युक्त योनियों को नहीं पाता।

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ।३१॥
(४०)

(यस्मात् द्विजात्) जिस ब्राह्मण से (भूतानाम्) प्राणियों को (अणु अपि भयं न उत्पद्यते) थोड़ा भी भय उत्पन्न नहीं होता। (देहात् विमुक्तस्यतस्य) उसको मरने पर (भयं नास्ति कुतः चन) कहीं भी भय नहीं है।

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥३२॥ (४१)

(अगारात् अभिनिष्क्रान्तः) घर से निकलकर (पवित्र-उपचितः) कमण्डलु आदि से युक्त होकर (मुनिः) मुनि (समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः) प्राप्त सुख-साधनों से उदासीन होकर (परिव्रजेत्) विचरे। अर्थात् यदि उसे सुख के साधन प्राप्त हों, तो उनको न भोगे।

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥३३॥
(४२)

(एक एव नित्यं चरेत्) अकेला विचरे। (सिद्ध्यथम्)

---

४१ आगारा० (S)

४२ सिद्धार्थः ससहायवान् (गो)

मोक्ष सिद्धि के लिये (असहायवान्) किसी का आश्रय न तलाश करे, (एकस्य सिद्धिम् संपश्यन्) यह जान कर कि मोक्ष उसको अकेले ही प्राप्त करनी है, (न जहाति न हीयते) ऐसी मनोवृत्ति करने से न वह किसी को छोड़ता है, न उसको कोई छोड़ता है। अर्थात् छोड़ने या छूटने का दुःख नहीं होता।

अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥३४॥ (४३)

(अन् + अग्निः, अ + निकेतः स्यात्) न उसका चूल्हा हो, न घर हो। (अन्नार्थं ग्रामं आश्रयेत्) अन्न के लिये गांव में जावे। (उपेक्षकः) उदासीन होकर, (असंकुसुकः) चंचल न हो। (मुनिः भाव समाहितः) मुनि के भावों को रखकर। अर्थात् भोजन के लिये ग्राम में जाने पर भी लोभ या लोलुपता न करे।

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥३५॥ (४४)

(एतत् मुक्तस्य लक्षणम्) सन्यासी के यह लक्षण हैं :— कपाल अर्थात् ठीकरा, वृक्ष की जड़ रहने के लिये, कुचैलम् अर्थात् मोटे वस्त्र, असहायता अर्थात् किसी पर निर्भर न रहना और। सबको बराबर समझना।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥३६॥ (४५)

---

४३ ऽसंकसुको ; ऽशंकसुको ; ऽशंकुशुको ; शंकसूको ; ऽसंकुत्तको (गो) ; ऽसांचयिको (स, न)

४५ निर्वेशं; निर्देशं; निदेशं

(मरणं न अभिनन्देत) मरने में सुख न माने, (जीवितं न अभिनन्देत) जीने में भी सुख न माने। (कालं एव प्रतीक्षेत्) समय की प्रतीक्षा करे। (यथा भृतकः निर्देशम्) जैसे किसी का नौकर अपने स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा में रहता है।

दृष्टिपूतम् न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥३७॥ (४६)

(दृष्टिपूतं पादं न्यसेत्) दृष्टि से पवित्र करके पैर रक्खे अर्थात् देखकर चले, वस्त्र से छानकर जल पिये। सत्य से पवित्र करके वाणी बोले। मन अर्थात् ज्ञान से पवित्र करके (अर्थात् विचार-पूर्वक) आचरण करे।

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ३८ ॥
(४७)

(अति वादान् तितिक्षेत्) बुराई करनेवालों की उपेक्षा करे। (कंचन न अवमन्येत्) किसी का अनादर न करे। (इमं देहं आश्रित्य) इस देह का आश्रय लेकर (केनचित् वैरं न कुर्वीत्) किसी से वैर न करे।

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ३९ ॥
(४८)

क्रोध के बदले क्रोध न करे। (आक्रुष्टः) निन्दा करनेवाले के साथ कुशल बोले। शाप आदि न दे। (सप्तद्वारावकीर्णां अनृतां वाचं च न वदेत्) सप्त दरवाजों में फैली हुई झूठ बात न बोले। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, राग, द्वेष इन सात

कारणों से मनुष्य झूठ बोलने में प्रवृत्त होता है। 'सात दरवाजों' का अर्थ यह भी हो सकता है कि सत्य एक है। असत्य अनेक हैं। 'सात' का अर्थ है अनेक। अर्थात् मनुष्य झूठ बोलते समय इधर उधर बहकता है। मानों उसकी वाणी एक विषय को छोड़कर नाना विषयों में फैल जाती है।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥४०॥ (४६)

(अध्यात्मरतिः आसीनः) आत्म-ज्ञान में लगा रहे (निरपेक्षः) उदासीन रहे, (निरामिषः) विषयों में न फंसे। (आत्मना एव सहायेन सुखार्थी इह विचरेत्) अपनी ही सहायता से इस संसार में आनन्दी होकर विचरे।

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत् कर्हिचित् ॥४१॥
(५०)

(भिक्षां कर्हिचित् न लिप्सेत्) इन इन बातों को बता कर भिक्षा न मांगे :—(उत्पातनिमित्ताभ्याम्) भूकम्प आदि आनेवाले उत्पात, आंख फड़कने आदि के फल, (नक्षत्रांग विद्यया) राहु, केतु आदि ग्रहों की विद्या (अनुशासन वादाभ्याम्) राजनैतिक बातें या वाद-विवाद।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत् ॥४२॥
(५१)

---

४९ निराश्रयः

५१ भिक्षुकैश्चान्यैर् । उपसंविशेत

(तापसैः आकीर्णम् आगारं न उपसंव्रजेत्) तपस्वियों से घिरे हुये घर में भिक्षा के लिये न जाय। (ब्राह्मणैः वा) या ब्राह्मणों से, (वयोभिः) पक्षियों से, (अपि वा श्वभिः) या कुत्तों से, (भिक्षुकैः वा) या भिखारियों से।

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥४३॥
(५३)

(क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः) केश, नाखून, डाढ़ी मोंछ मुंड कर (पात्री) भिक्षा पात्र लेकर (दण्डी) लाठीलेकर (कुसुम्भ + वान्) कमण्डल लेकर (सर्व भूतानि अपीडयन्) किसी प्राणी को कष्ट न देता हुआ (नित्यं नियतः विचरेत्) सदा नियमानुकूल विचरा करे।

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥४४॥
(५५)

(भैक्षम् एककालं चरेत्) एक बार भिक्षा मांगे, (विस्तरे न प्रसज्जेत) बहुत भिक्षा का लोभ न करे, (भैक्षे प्रसक्तः यतिः हि विषयेषु अपि सज्जति) जो सन्यासी भिक्षा में लालच करता है वह विषयों में फंस जाता है।

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥४५॥
(५६)

---

५२ कुटुम्बवान्

५५ प्रसज्येत

(विधूमे) जिस घर में धुआं बन्द हो गया हो, (सन्नमुसले) मूसल की आवाज़ न आती हो, (व्यङ्गारे) आग न जलती हो, (भुक्तवज्जने) लोगों ने भोजन पा लिया हो, (वृते शरावसंपाते) खाने के बर्तन डाल दिये गये हों, ऐसे घर में (यतिः) सन्यासी (नित्यं भिक्षां चरेत्) सदा भिक्षा मांगे।

तात्पर्य यह है कि सब खा चुकें तो बची बचाई भीख देने में किसी को कष्ट नहीं होता। रोटी बनते ही सन्यासी पहुँच जाय तो बुरा लगने की सम्भावना है।

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥४६॥

(५७)

(अलाभे न विषादी स्यात्) भीख न मिले तो दुखी न हो। (लाभे च एव न हर्षयेत्) मिलने पर हर्ष न करे, (प्राणि यात्रिक मात्रः स्यात्) केवल इतना खाय कि जीवन यात्रा बनी रहे। (मात्रा संगात् विनिर्गतः) विषयों के संग से बचा रहे।

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥४७॥

(५८)

(अभिपूजितलाभान् तु सर्वशः एव जुगुप्सेत) मजेदार चीजें जिनको सब लोग चाहते हैं उनसे सदा बचा रहे। (अभिपूजि-

---

५७ न रागी न विषादी (गो)। लाभश्चैनं न हर्षयेत् (मे, रा); लाभे चैव न हर्षयेत् (गो, न)

५८ अभिपूजित लाभान्तु भिक्षां यत्नेन वर्जयेत् (गो)। लाभैश्चः लाभैस्तु।

तलाभैः च) मज़ेदार चीज़ों से (मुक्तः अपि यतिः बद्ध्यते) मुक्त सन्यासी भी बन्धन में फंस जाता है।

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥४८॥
(५९)

(अल्प + अन्न + अभ्यवहारेण) थोड़े भोजन से, (रहः स्थान + आसनेन वा) एकान्त में बैठने से (विषयैः ह्रियमाणानि इन्द्रियाणि निवर्तयेत्) विषयों की ओर खिंचने वाली इन्द्रियों को रोकें।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥४९॥
(६०)

इन्द्रियों के निरोध से, राग द्वेष के क्षय से, और अहिंसा से प्राणियों को अमृतत्व अर्थात् मोक्ष की योग्यता होती है।

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥५०॥ (६५)

(सूक्ष्मतां च अन्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः) योग से परमात्मा की सूक्ष्मता का विचार करे। (देहेषु च समुत्पत्तिम् उत्तमेषु अधमेषु च) उत्तम और अधम योनियों का भी।

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥५१॥
(६६)

---

६५ चैवोपपत्तिम् ; च समुत्पत्तिम्

६६ भूषितोऽपि ; दूषितोऽपि। वसन्। रतः

(दूषितः अपि चरेत् धर्मम्) यदि कोई दोष लगावे तो भी धर्म को न छोड़े (यत्र तत्र आश्रमे रतः) चाहे किसी आश्रम में क्यों न रहे। (समः सर्वेषु भूतेषु) सब प्राणियों में समदृष्टि रक्खे। (न लिंगं धर्मकारणम्) चिह्न धर्म का कारण नहीं है। अर्थात् सन्यासी केवल गेरुये कपड़े पहन कर नहीं हो जाता।

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥५२॥ (६७)

यद्यपि कतकवृक्ष अर्थात् निर्मली का फल (अम्बुप्रसादकम्) जल को शुद्ध करने वाला है (तस्य वारि नाम ग्रहणात् एव न प्रसीदति) केवल नाम लेने मात्र से उसका पानी शुद्ध नहीं होता।

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥५३॥
(६८)

प्राणियों की रक्षा के लिये सदा रात दिन शरीर के अत्यय अर्थात् कष्ट होने पर भी भूमि को देख कर चले।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥५४॥
(७१)

जैसे तपाई हुये धातुओं के मल जल जाते हैं इसी प्रकार प्राणायाम से मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण हो जाते हैं।

---

६८ चैव के स्थान में पीड (गो)

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥५५॥
(७२)

प्राणायाम से दोषों को जला दे। धारणाओं से पाप को, प्रत्याहार से संसर्ग अर्थात् राग को, ध्यान से नास्तिकपन को जला दे। (प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार तथा ध्यान योग के अङ्ग हैं)।

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥५६॥
(७८)

जैसे वृक्ष नदी-तट को छोड़ देता है, या जैसे पक्षी वृक्ष को छोड़ देता है। इसी प्रकार इस देह को विना किसी चिंता के छोड़कर संसाररूपी ग्राह से छूट जाता है।

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥५७॥
(८०)

(यदा) जब (भावेन) आत्म-ज्ञान के भाव से (सर्वभावेषु निःस्पृहः भवति) विषय भावों की ओर उदासीन हो जाता है, (तदा प्रेत्य च इह च शाश्वतं सुखम् अवाप्नोति) तब यहां भी और मरने के बाद भी अक्षय सुख को पाता है।

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥५८॥ (८१)

---

८१ सर्वद्वन्द्वैर्वि० (मे)

(अनेन विधिना) इस विधि से (सर्वान् संगान् शनैः शनैः त्यक्त्वा) सब संसर्गों को धीरे धीरे छोड़कर (सर्व द्वन्द्व विनिर्मुक्तः) राग-द्वेष आदि सब द्वन्द्वों से मुक्त होकर (ब्रह्मणि एव अवतिष्ठते) ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है।

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥५९॥
(८३)

(यत एतत् अभिशब्दितम्) यह जो कुछ कहा गया, (तत् सर्वम् एव) वह सब ही (ध्यानिकम्) ध्यान से सम्बन्ध रखता है। (अनध्यात्मवित्) जो आत्मिक ज्ञान नहीं रखता या जो ध्यान नहीं करता, (कः चित्) वह कोई भी (क्रियाफलं न उपाश्नुते) किसी काम के फल को नहीं पाता।

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ६० ॥
(८५)

जो ब्राह्मण इस क्रमयोग से सन्यासी होता है, वह पापों को नष्ट करके परं ब्रह्म को प्राप्त होता है।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ६१ ॥
(८७)

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी। यह चार आश्रम पृथक्-पृथक् गृहस्थ से ही निकले हैं।

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ९२ ॥
(८८)

यह सब शास्त्र-विधि से क्रम-पूर्वक पालन किये जाने से विद्वान् को परमगति को प्राप्त करा देते हैं ।

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥९३॥
(८९)

वेद और स्मृति के विधानानुसार इन चारों में गृहस्थ सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि यह शेष तीनों का पालन करता है ।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥९४॥
(९०)

जैसे सब नदी, नाले समुद्र में जाकर ही ठहरते हैं । उसी प्रकार सब आश्रम वाले गृहस्थ ही के आश्रय से स्थिर रहते हैं ।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥९५॥ (९१)

इन चारों आश्रम वालों को चाहिये कि नित्य दस लक्षण वाले धर्म का पालन करते रहें ।

---

८८ विप्रं के स्थान में प्राज्ञं
८९ वेदश्रुति०; वेदस्मृति०
९१ दशलक्षणिको (गो)

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥
(९२)

धर्म के दस लक्षण यह हैं :—धृति (धैर्य), क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (सफ़ाई), इन्द्रिय निग्रह, धी (बुद्धि); विद्या, सत्य, अक्रोध (क्रोध न करना) ।

---

९२ धीर के स्थान में ह्रीर (न, स)

———

सातवाँ अध्याय

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥

(१)

राजा के धर्मों की इस अध्याय में व्याख्या करूंगा, कि राजा कैसा होना चाहिये। (यथा तस्य संभवः च) उस की उत्पत्ति कैसे हुई है। (यथा तस्य परमा सिद्धिः च) और राजधर्म की पूरी सिद्धि कैसे हो सकती है।

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

(२)

(यथाविधि ब्राह्म संस्कारं प्राप्तेन क्षत्रियेण) जिस क्षत्रिय को वैदिक विधि से राजा बनाया गया हो, (सर्वस्य अस्य यथान्यायं परिरक्षणम् कर्तव्यम्) उसको चाहिये कि न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करे।

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥ (३)

(अस्मिन् अराजके लोके हि) इस लोक में बिना राजा के (सर्वतः विद्रुते भयात्) चारों ओर गड़बड़ होने के भय से

२ धर्मस्यास्य (सर्वस्यास्य के स्थान में)

(अस्य सर्वस्य रक्षार्थम्) इस सब जगत् की रक्षा के लिये (राजानम् असृजत् प्रभुः) ईश्वर ने राजा होने की संस्था को चलाया।

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥४॥

(४)

राजा को इन-इन गुणों का सार इकट्ठा करके बनाया :—इन्द्र, अनिल (वायु), यम, अर्क (सूर्य), अग्नि, वरुण, चन्द्र, वित्तेश (कुवेर)।

अर्थात् राजा में यह सब गुण पाये जाने चाहिये।

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥

(५)

(यस्मात्) चूंकि (एषां सुरेन्द्राणाम्) इन देवताओं के (मात्राभ्यः) सार से (निर्मितः नृपः) राजा बनाया गया है। (तस्मात्) इसलिये (एषः) यह (सर्वभूतानि) सब प्रजा को (तेजसा) तेज से (अभिभवति) जीत लेता है।

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥६॥

(६)

(आदित्य वत्) सूर्य के समान (एषाम्) इनके (चक्षूंषि च मनांसि च) आंखों और मनों को (तपति) प्रकाशित करता है। (भुवि) देश में (एनम्) इस राजा का (कः चित् अपि) कोई भी (अभिवीक्षितुं न शक्नोति) सामना नहीं कर सकता।

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥

(७)

राजा अपने प्रभाव के अनुसार अग्नि, वायु, सूर्य सोम, धर्मराट्, कुबेर, वरुण और इन्द्र है। अर्थात् वही पुरुष राजा है जिसमें ऐसे गुण हों।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥ (८)

राजा यदि आयु में छोटा हो तो भी साधारण मनुष्य समझ कर उसका अनादर न करे। क्योंकि यह तो मनुष्य के रूप में बड़ा देवता है।

तात्पर्य यह है कि जब प्रजा ने उसे राजा बनाया तो समस्त प्रजा ने उसे अपना अधिकार दे दिया। अब वह साधारण मनुष्य नहीं है। इतने बड़े अधिकार से युक्त है।

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥

(९)

(अग्निः) आग (दुरुप सर्पिणं नरम्) कुचाली मनुष्य को (एकम् एव) अकेला ही जलाती है। (राजाग्निः) राजा रूपी अग्नि (स—पशु—द्रव्य—संचयं कुलं दहति) पशु, धन आदि के साथ समस्त कुल को जला देती है। अर्थात्—राजा कुचाली मनुष्य को प्राणदण्ड, पशुदण्ड, धनदण्ड सभी कुछ दे सकता है।

---

७ स चेन्द्रः स्वप्रभावतः (ने)

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः । १० ॥

(१०)

(स) वह राजा (कार्य्यशक्तिम् देशकालौ च तत्त्वतः अवेक्ष्य) काम, शक्ति, देश, काल का ठीक ठीक विचार करके (धर्म सिद्ध्यर्थम्) धर्म की सिद्धि के लिये (पुनः पुनः विश्वरूपम् कुरुते) बार-बार नाना प्रकार का रूप धारण करता है। अर्थात् परिस्थिति को देखकर राजा को कभी दयालु और कभी कर्कश बनना पड़ता है।

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥११॥

(११)

राजा के प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता में श्री है। पराक्रम में विजय है। क्रोध में मृत्यु है। राजा सब तेजों वाला होता है।

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥

(१२)

(यः तु) जो (तम्) ऐसे राजा से (संमोहात्) मूर्खता से (द्वेष्टि) द्वेष करता है (असंशयम् विनश्यति) वह अवश्य ही नष्ट हो जाता है। उसके नाश के लिये राजा शीघ्र ही विचार करता है।

---

१० कार्यं चावेक्ष्य (मे, रा); सोऽवेक्ष्य (गो, न)
११ मृत्युः संवसति (रा)

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु सं व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥
(१३)

(तस्मात्) इसलिये (स नराधिपः) वह राजा (यं धर्मम्) जिस क़ानून का (इष्टेषु व्यवस्येत्) जिन इष्ट विषयों में निर्धारण करे, (अनिष्टेषु अनिष्ठम् अपिच) और जिस का अनिष्ट विषयों में निषेध करे, (तं धर्मं न विचालयेत्) उस धर्म का उल्लंघन न करे ।

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥ (१४)

(तस्य अर्थे) उस राज-धर्म के पालन के लिये (पूर्वम्) आदि सृष्टि में (ईश्वरः) ईश्वर ने (दण्डम् असृजत्) दण्ड विधान को बनाया । वह दण्ड विधान कैसा है ? (सर्वभूतानां गोप्तारम्) सब प्राणियों का रक्षक है । (ब्रह्म तेजोमयम्) ब्रह्म का सा उस में तेज है, (आत्मजं धर्मम्) स्वयं ईश्वर से उत्पन्न हुआ धर्म है ।

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥१५॥
(१५)

(तस्य भयात्) उस दण्ड के भय से (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (स्थावराणि चराणि च) स्थावर और जंगम (भोगाय

---

१३ अनिष्टं वा

१४ तदर्थं (मे, गो); तस्यार्थे

१५ चलन्ति ते (मे)

कल्पन्ते) अपने अपने भोग को पाते हैं। (स्वधर्मात् न चलन्ति च) अपने धर्म से विचलित नहीं होते।

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥ (१६)

(तम्) उस दण्ड को (अन्यायवर्तिषु नरेषु) अन्यायी मनुष्यों में (यथार्हतः) योग्यता के अनुसार (संप्रणयेत्) स्थापित करे, (देशकालौ शक्तिं च विद्यां च तत्वतः अवेक्ष्य) देश-काल, शक्ति, विद्या आदि को ठीक-ठीक विचार कर।

अर्थात् अन्यायी पुरुषों को दण्ड देते समय, देश काल, शक्ति आदि सभी बातों का विचार करना चाहिये। आंख मूंद कर एक सा दण्ड नहीं देना चाहिये। क्योंकि दण्ड का तात्पर्य सुधार है, बदला लेना नहीं।

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥
(१७)

(स दण्डः राजा पुरुषः) वस्तुतः वह दण्ड ही राजा है, (स नेता) वही नेता है, (सः च शासिता) वही हाकिम है। (चतुर्णाम् आश्रमाणां च धर्मस्य स प्रति भूः स्मृतः) यही दण्ड चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् उत्तरदाता (ज़ामिन या ज़िम्मेवार) है।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥
(१८)

---

१६ धर्मतः (गो)

दण्ड ही सब प्रजाओं पर राज करता है। दण्ड ही उनकी रक्षा करता है। जब सब सोते हैं, तब दण्ड जागता है। बुद्धिमान् इसीलिये दण्ड को धर्म कहते हैं।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ १९॥

(१९)

(सम्यक् समीक्ष्य धृतः स) यह दण्ड यदि ठीक ठीक दिया जाय, तो (सर्वाः प्रजाः रंजयति) सब प्रजा को सुख देता है। (असमीक्ष्य प्रणीतः तु) अन्धाधुन्धी से दिया हुआ दण्ड (सर्वतः विनाशयति) सब का नाश कर देता है।

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः॥ २०॥

(२०)

(यदि राजा) अगर राजा (दण्ड्येषु) अपराधियों को (अतन्द्रितः) आलस्य रहित होकर (दण्डं न प्रणयेत्) दण्ड न दे, तो (बलवत्तराः) बलवान लोग (दुर्बलान्) निर्बलों को (अपक्ष्यन्) भून डालें (शूले मत्स्यान् इव) जैसे मछली खाने वाले सींक पर मछलियों को भूनते हैं।

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।
स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम्॥ २१

(२१)

---

१९ स धृतः; सुधृतः; संवृत्तः

२० जले मत्स्यानि वाहिंस्युर्

(अद्यात् काकं पुरोडाशम्) कौआ यज्ञहवि को खा जाय। (श्वा च लिह्यात् हविः तथा) और कुत्ता हवि को चाट जाय। (स्वाम्यम् च न स्यात् कस्मिन् चित्) किसी में किसी का स्वामित्व न रहे। (प्रवर्तेत अधरोत्तरम्) ऊंच नीच और नीच ऊंच हो जाय।

दण्ड के अभाव में ऐसी गड़बड़ियां हो जायंगी।

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्॥२२॥

(२४)

(दण्डस्य विभ्रमात्) दण्ड में गड़बड़ होने से (दुष्येयुः सर्व वर्णाः) सब वर्ण दूषित हो जाते हैं, (भिद्येरन् सर्व सेतवः) सब पुल टूट जाते हैं अर्थात् सब मर्यादायें नष्ट हो जाती हैं, (सर्वलोक प्रकोपः च भवेत्) और सब लोकों में क्षोभ हो जाता है।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति॥२३॥

(२५)

(यत्र) जहां (श्यामः लोहिताक्षः पापहा दण्डः चरति) काला काला लाल आंखों वाला और पाप को नष्ट करने वाला दण्ड विधान है (नेता चेत् साधु पश्यति) और राजा ठीक-ठीक देखनेवाला है, (तत्र) वहां (प्रजाः न मुह्यन्ति) प्रजा को मोह नहीं सताता।

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥२४॥

(२६)

(राजानम्) जो राजा (सत्यवादिनम्) सत्यवादी है, (समीक्ष्य कारिणम्) देख भाल के काम करने वाला है, (प्राज्ञम्) बुद्धिमान है, (धर्म + काम + अर्थ + कोविदम्) धर्म, अर्थ, काम का ज्ञान रखता है, उसी को (तस्य संप्रणेतारम्) दण्ड देने का अधिकारी (आहुः) कहा है।

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २५ ।
(२७)

(तं सम्यक् प्रणयन्) दण्ड का ठीक-ठीक विधान करनेवाला (राजा) राजा (त्रिवर्गेण अभिवर्धते) धर्म, अर्थ और कामरूपी संवृद्धि को पाता है (कामात्मा) कामी (विषमः) पक्षपाती (क्षुद्रः) संकुचित विचारवाला राजा (दण्डेन एव निहन्यते) दण्ड से स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

दण्डो हि सुमहत्तेजा दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २६ ॥
(२८)

(दण्डः हि सुमहत्तेजः) दण्ड बड़े तेजवाला है (अकृत-आत्मभिः दुर्धरः च) इस दण्ड को वह लोग धारण नहीं कर सकते, जिनमें आत्मशक्ति नहीं है। अर्थात् आत्म-शक्ति वाला ही राज नियम का पालन कर सकता है। (धर्मात् विचलितं नृपं सबान्धनम् एव हन्ति) जो राजा धर्म से विचलित है, उसका सम्बन्धियों सहित नाश हो जाता है।

---

२७ कामात्मा के स्थान में कामान्धो (ने)। निपात्यते

२८ विचलितो (मे)

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २७ ॥
(२६)

दण्ड का पालन न होने से दण्ड राजा का नाश करने के पश्चात् दुर्ग (क़िला), राष्ट्र (राज्य), सचराचर लोक (स्थिर तथा जंगम सम्पत्ति), अन्तरिक्षगत (पक्षी आदि), मुनि, देव सब को कष्ट देता है ।

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ २८ ॥
(३०)

इस दण्ड को ऐसा राजा पालन नहीं कर सकता :—

(१) असहाय—जो अच्छे मंत्रियों तथा राजसभा से परामर्श नहीं लेता । (२) मूढ़—मोही । (३) लुब्ध—लोभी । (४) अकृत-बुद्धि—बुद्धि-शून्य । (५) विषय-सक्त—विषयी, लम्पट ।

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ २९ ॥
(३१)

ऐसा राजा इस दण्ड को चला सकता है :—

(१) शुचि—पवित्र (२) सत्य-सन्ध—सत्य-प्रिय (३) यथाशास्त्रानुसारी—शास्त्र के अनुकूल चलने वाला (४) सुसहाय—अच्छे मन्त्री या राजसभा-युक्त (५) धीमान्—बुद्धिमान् ।

३१ दण्डः प्रणयितुं शक्तः (मे, रा); दण्डः प्रणेतुं शक्यस्तु (न) प्रणेतुं शक्यते दण्डः (गो)

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥३०॥
(३२)

(स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्) अपने राज में न्याय करे (शत्रुषु भृशदण्डः च) और शत्रुओं को दण्ड दे (सुहृत्सु अजिह्मः) मित्रों के साथ कुटिलता न करे, (स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु) जो स्नेह करने वाले विद्वान् हैं, उनके साथ (क्षमान्वितः) सहनशील हो। अर्थात् उनके कहने पर क्रोध न करे, अन्यथा वह ठीक परामर्श न देंगे।

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३१ ॥
(३३)

(शिलोञ्छेन अपि जीवतः एवं वृत्तस्य नृपतेः यशः) ऐसे राजा का यश चाहे वह कण बीन बीनकर ही क्यों न खाता हो, (लोके विस्तीर्यते) लोक में फैलता है। (तैल विन्दुः अम्भसि इव) जैसे जल में तेल की बूंद डालने से समस्त जल में फैल जाती है।

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३२ ॥
(३४)

---

३२ न्याय वृत्तिः; न्यायवृत्तः
३३ शिलोञ्छादपि (न)

(अतः विपरीतस्य अजितात्मनः नृपतेः यशः तु) इससे विपरीत विषयी राजा का यश तो (लोके संक्षिप्यते) लोक में संकुचित हो जाता है (घृतविन्दुः अम्भसि इव) जैसे जल में घी की बूंद। घी की बूंद जम जाती है, फैलती नहीं।

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३३॥
(३५)

(अनुपूर्वशः स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषां वर्णानाम् आश्रमाणां च) क्रमपूर्वक अपने-अपने धर्म में चलनेवाले सब वर्ण और आश्रमों का (राजा अभिरक्षिता सृष्टः) राजा को रक्षक बनाया गया है।

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥३४॥
(४४)

(दिवानिशम्) रात दिन (इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेत्) अपनी इन्द्रियों को वश में रखने का उपाय करता रहे। (जितेन्द्रियः हि प्रजाः वशे स्थापयितुं शक्नोति) जितेन्द्रिय ही प्रजा को वश में रख सकता है।

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ३५ ॥
(४५)

---

३५ स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां; स्वेषु धर्मेषु निष्ठानाम्
४४ जितेन्द्रियस्तु (मे); जितेन्द्रियश्च (न)
४५ क्रोधजानि तु (मे)

काम से उत्पन्न हुये दस, क्रोध से उत्पन्न हुये आठ, कठिन दुर्व्यसनों को यत्न पूर्वक छोड़ दे ।

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ३६ ॥

(४६)

जो राजा काम से उत्पन्न हुये व्यसनों में फंसता है, वह अर्थ और धर्म से छूट जाता है । क्रोध से उत्पन्न हुये व्यसनों से अपने आत्मा को ही नष्ट कर बैठता है ।

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ३७ ॥

(४७)

काम से उत्पन्न हुये दस व्यसन यह हैं :—

(१) मृगया—शिकार (२) अक्ष—जुआ (३) दिवास्वप्न—दिन में सोना (४) परिवाद—दूसरों के दोष निकालना (५) स्त्रियः—स्त्रियों के साथ रहना (६) मद—नशा (७, ८, ९) तौर्य-त्रिक अर्थात् नाचना, गाना, बजाना (१०) वृथाट्या—व्यर्थ घूमना ।

कामी पुरुष काम के वश होकर इन व्यसनों में फँस जाते हैं । कामी पुरुष का मन किसी काम में नहीं लगता । इसलिये मन बहलाने के लिये इधर-उधर फिरता है ।

---

४७ मृगयाक्षा (J)

पैशुन्युं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥३८॥
(४८)

क्रोध से उत्पन्न होनेवाले आठ दोष यह हैं :—

(१) पैशुन्य—चुग़ली करना (२) साहस—अच्छे पुरुषों का अपमान करने का साहस (३) द्रोह (४) ईर्ष्या (५) असूया—डाह (६) अर्थदूषण—धन मार लेना (७) वाक्-पारुष्य—गाली (८) दण्डजम् पारुष्यम्—मारना पीटना ।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ३९ ॥
(४९)

(यम् लोभम्) जिस लोभ को (सर्वे कवयः) सब विद्वानों ने (एतयोः द्वयोः मूलं विदुः) इन दोनो प्रकार के १८ दोषों का मूल बताया है (तम् यत्नेन जयेत्) उसको यत्न से जीते। (तत् + जौ एतौ उभौ गणौ) और उससे उत्पन्न होने वाले इन दोनों व्यसन-समूहों को ।

दश दोष काम से उत्पन्न होते हैं और आठ क्रोध से। और काम और क्रोध लोभ से उत्पन्न होते हैं। इसलिये काम, क्रोध, लोभ तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले अवगुणों को त्याग दे ।

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ४० ॥
(५०)

---

४८ वाग्दण्डजन पारुष्यं (गो)

४९ तज्जौ ह्येतावुभौ गुणौ (रा); तज्जौ ह्येतौ गुणावुभौ (न)

(कामजे गणे) काम से उत्पन्न हुये दोषों में (एतत् चतुष्कम् कष्टतमम् विद्यात्) इन चारों दोषों को सब से बड़ा समझे :—

पानम्—शराब पीना, अक्षाः—जुआ खेलना, स्त्रियः—स्त्रियों का संसर्ग, मृगया—शिकार। क्रमानुसार अर्थात् सब से कठोर नशा है, उससे कम जुआ, उससे कम स्त्री-संग, उससे कम शिकार।

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥ ४१॥

(५१)

(क्रोधजे अपि गणे) क्रोध से उत्पन्न हुये दोषों में (एतत त्रिकम् सदा कष्टतमम् विद्यात्) इन तीन को सब से कठिन जाने—(१) दण्डस्य पातनं—पीटना (२) गाली देना (३) धन-ले लेना।

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान्॥ ४२॥

(५२)

(अस्य सप्तकस्य वर्गस्य) यह सात दोष (सर्वत्र एव अनुषङ्गिणः) जो प्रायः सभी मनुष्यों में पाये जाते हैं, इन में से (पूर्वं पूर्वं व्यसनम् आत्मवान् गुरुतरम् विद्यात्) पहले पहले व्यसन को बुद्धिमान कठिनतर समझें।

क्रमशः यह सात दोष यह हैं :—

---

५१ तथा

५२ आत्मवान्; आत्मनः

नशा, जुआ, स्त्री सङ्ग, शिकार, पीटना, गाली देना, धन छीन लेना।

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥४३॥

(५३)

(व्यसनस्य मृत्योः च व्यसनम् कष्टम् उच्यते) व्यसन और मृत्यु इन दोनों में व्यसन अधिक बुरा है। (व्यसनी अधः अधः व्रजति) व्यसनी धीरे-धीरे नीचे गिरता जाता है। (अव्यसनी मृतः स्वः याति) जो व्यसनी नहीं है वह मर कर स्वर्ग को जाता है।

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥४४॥

(५४)

सात या आठ सचिव अर्थात् - मंत्रियों को नियत करे। वे इस प्रकार के हों :—मौल अर्थात् पुश्तैनी जिन्होंने पीढ़ी दर पीढ़ी राज्य की सेवा की हो, शास्त्र विद्—राज्य शासन के नियम जानते हों, शूर—निर्भय हों,—लब्धलक्ष अर्थात् जिनका निश्चित लक्ष हों, (not aimless),—कुलोद्भव—अच्छे कुल में उत्पन्न हों, परीक्षित अर्थात् जिनकी परीक्षा हो चुकी हो अर्थात् देखे भाले हों।

---

५४ कुलोद्गतान् (J) चाष्टा; चाष्टौ। कुर्वीत च (प्रकुर्वीत के स्थान में)। परीक्षकान् (न)

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्य महोदयम् ॥ ४५ ॥
(५५)

आसान काम भी विना सहायता के एक पुरुष से नहीं हो सकता। तो राज्य जैसा कठिन काम बिना सहायता के कैसे हो सकता है।

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ४६ ॥
(५६)

इन मंत्रियों के साथ नित्य इन बातों का विचार करे :—

(सामान्यम् सन्धि-विग्रहम्) किससे सन्धि करना चाहिये और किससे युद्ध। (स्थान) दण्ड, कोश, पुर, राष्ट्र यह चार स्थान कहलाते हैं। दण्ड—Criminal Department, कोश—Finance. पुर—Public Works Department, राष्ट्र—Political Department.

(समुदयम्) सर्वतोमुखी उन्नति—General progress (गुप्तिम्) रक्षा—Police or army, (लब्ध प्रशमनानि) प्राप्त राज्य के लोगों को सन्तुष्ट रखना—Pacification of Subjects.

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ४७ ॥
(५७)

---

५५ किमु; किन्तु

५७ -द्धितमात्मने (गो)

(तेषाम् कार्येषु स्वम् स्वम् अभिप्रायम् पृथक्-पृथक् उपलभ्य) कामों में इनके अपने-अपने अभिप्राय को अलग-अलग जान कर (समस्तानां च) और इनके संयुक्त विचार को जानकर (आत्मनः हितम् विदध्यात) अपना हित करे ।

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ४८ ॥
(५८)

(सर्वेषाम् तु विशिष्टेन विपश्चिता ब्राह्मणेन) इन सब में श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण से (षाड् गुण्यसंयुतम् परमम् मंत्रम् मंत्रयेन) छः गुण वाले परम मंत्र पर विचार करे ।

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् ।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ४६ ॥
(५६)

(नित्यम् समाश्वस्तः) सदा विश्वास करके (सर्व कार्याणि तस्मिन् निक्षिपेत्) सब काम उसको सौंप दे । (तेन सार्धं विनिश्चित्य) उससे परामर्श करके (ततः) तत्पश्चात् (कर्म समारभेत्) काम आरम्भ करे ।

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ५० ॥
(६०)

---

५६ निक्षिपेत् समारभेत्; समाचरेत्

६० अवस्थितान् के स्थान में कुलोद्गतान्

इसके सिवाय अन्यों को भी मंत्री बनावे जो शुद्ध, बुद्धिमान्, निश्चय विचार वाले, भले प्रकार धन कमाने वाले और देखे भाले हों।

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरिति कर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥५१॥
(६१)

(यावद्भिः नृभिः) जितने आदमियों से (अस्य इति कर्तव्यता निर्वर्तेत) राज का काम चल सके (तावतः) उतने (अतन्द्रितान्) चुस्त, (दक्षान्) चतुर, (विचक्षणान्) बुद्धिमान् पुरुषों को (प्रकुर्वीत) रख ले।

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ५२ ॥
(६२)

(तेषाम्) उनमें से (शूरान्, दक्षान्, कुलोद्गतान्, शुचीन्) वीर, चतुर, अच्छे कुल वाले, पवित्र लोगों को (आकर कर्मान्ते अर्थे नियुंजीत) सोने की खान या ऐसे ही बाहरी कामों पर नियुक्त करे, (भीरून् अन्तर्निवेशने) जो डरपोक हों उनको भीतरी कामों पर।

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ५३ ॥
(६३)

---

६१ निवर्तेतास्य (मे)

ऐसों को दूत बनावे :—सब शास्त्र के जानने वाले, इशारों से ही समझने वाले, शुद्ध हृदय वाले, चतुर और अच्छे कुल वाले।

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥६४॥
(६४)

ऐसा दूत राजा के लिये हितकर है :—अनुरक्त अर्थात् राजा से प्रेम करने वाला, शुचि—शुद्ध हृदय वाला, दक्ष—चतुर, स्मृतिमान्—अच्छी स्मृतिवाला, देशकाल का पहचानने वाला, (वपुष्मान्) शरीर में हृष्ट-पुष्ट, (वीतभी) न डरने वाला (वाग्मी) उचित रीति से बातचीत करने वाला।

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ५५ ॥
(६५)

दण्ड अर्थात् क़ानून मंत्री के आधीन है। सुशिक्षा क़ानून के आधीन है। कोष और राज राजा के आधीन हैं। सन्धि और लड़ाई दूत के आधीन है।

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥
(६६)

---

६५ कोषा तु दूते; च दूते
६६ दूत एव च। भिनत्येव तु (मे)। भिद्यन्ते येन मानवाः (मे) भिद्यन्ते येन मानवः (न); भिद्यन्ते येन बान्धवाः (गो, कु) भिद्यन्ते येन वा नवा (रा)

दूत ही सन्धि कराता है। दूत ही मिले हुओं को तोड़-फोड़ देता है। दूत ही ऐसा काम करता है जिससे मनुष्यों में भेद हो जाता है।

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥५७॥
(६७)

(स अस्य निगूढेङ्गितचेष्टितैः कृत्येषु विद्यात्) दूत को चाहिये कि वह गुप्त इशारों या चेष्टा से 'कृत्यों' की खोज में रहे :—

'**कृत्य**' उन लोगों को कहते हैं, जो धन, स्त्री, सम्पत्ति आदि के लोभ से फोड़े जा सकते हैं। दूत दूसरों के राज्य में रहते हुये ऐसे लोगों का पता रखते हैं, जिससे आवश्यकता पड़ने पर उनको मिलाया जा सके।

(आकारम् इंगितम् चेष्टाम् भृत्येषु च चिकीर्षितम्) दूत का यह भी कर्तव्य है कि राज्यकर्मचारियों के विचार तथा इच्छाओं पर भी दृष्टि रक्खे। अर्थात् कौन क्या चाहता है।

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ५८ ॥
(६८)

(सर्वम् परराजचिकीर्षितम् च तत्वेन बुद्ध्वा) दूसरे के राज के विचारों को ठीक-ठीक जानकर (तथा प्रयत्नं आतिष्ठेत्) ऐसा प्रयत्न करे (यथा आत्मानम् न पीडयेत्) जिससे अपने राज्य को किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सके।

---

६८ तत्त्वेन के स्थान में यत्नेन (गो)

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ५९ ॥
(६९)

राजा अपने महल ऐसे स्थान में बनावे, जहां जंगल हों, अन्न पर्याप्त हो, अच्छे पुरुष रहते हों, रोग आदि उपद्रवों का डर न हो, रम्य हो, निकट के लोग उनका आदर करते हों और जहां कला-कौशल की उन्नति हो सकती हो।

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ६० ॥
(७०)

नगर को इस प्रकार सुरक्षित करे :—धन्वदुर्ग—(अस्त्र-शस्त्रों से अभिरक्षित—Fortified by artillery), महीदुर्ग (भूमि इस प्रकार हो कि बाहर का आक्रमण न हो सके - जैसे धुस् क़िले होते हैं। गोला बाहर से आकर भूमि में ही धंस जाता है), अब्दुर्ग (पानी की खाई चारों ओर हो), वार्क्षम् (चारों ओर घना जंगल हो), नृदुर्ग (सेना से घिरा हो), गिरिदुर्ग (पहाड़ से घिरा हो)।

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ६१ ॥
(७१)

---

६९ अनाकुलम् (गो)। देशमाविशेत (रा)

७० धन्वदुर्गं ; धनुर्दुर्गं। वार्क्षमेव च। च समाश्रित्य। समाश्रित्यावसेत्।

७१ सर्वेण तु प्रकारेण........प्रशस्यते (गो)

(बाहु गुण्येन) बहुत से गुणों के कारण (एषां हि गिरि-दुर्गम् विशिष्यते) इन सबसे अच्छा गिरि दुर्ग है। इसलिये (सर्वेण प्रयत्नेन गिरि दुर्गम् समाश्रयेत्) पूर्ण प्रयत्न करके गिरि दुर्ग का आश्रय लेना चाहिये।

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ६२ ॥

(७४)

(प्रकारस्थः एकः धनुर्धरः शतं योधयति) प्राकार अर्थात् खाई या क़िले के भीतर एक सिपाही सौ सिपाहियों से लड़ सकता है। (शतम् दस सहस्राणि) सौ दस हज़ार से। (तस्मात् दुर्गम् विधीयते) इसलिये क़िले बनाने का विधान है।

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ६३ ॥

(७५)

(तत्) उस क़िले को इतनी चीज़ों से युक्त होना चाहिये — (१) आयुध—शस्त्र-अस्त्र, (२) धन, (३) धान्य—अन्न, (४) वाहन—घोड़े आदि सवारी, (५) ब्राह्मण—विद्वान्, (६) शिल्पिभिः—कारीगर (७) यन्त्र—कलें, (८) यवस—चारा, (९) उदक—जल।

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ६४ ॥

(७६)

---

७४ तस्माद्दुर्गं विशिष्यते (रा,न); तस्माद्दुर्गाणि कारयेत् (मे)
७६ सर्वर्तुगं

(तस्य मध्ये) उस क़िले के बीच में (आत्मनः सुपर्याप्तम् गृहम् कारयेत्) अपना अच्छी भांति सुसज्जित घर बनावे, वह (गुप्तम्) सुरक्षित हो, (सर्वर्तुकम्) सब ऋतुओं के योग्य हो, (शुभ्रम्) सुन्दर हो (जलवृक्षसमन्वितम्) जल और वृक्षों से युक्त हो।

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥६५॥
(७७)

(तत् अध्यास्य) ऐसे क़िले में निवास करके राजा ऐसी भार्या से विवाह करे जो (लक्षणान्विताम्) अच्छे लक्षण वाली हो, (कुले महति संभूताम्) बड़े कुल में उत्पन्न हुई हो और (हृद्याम्) मनोहर (रूपगुणान्विताम्) रूपवती हो।

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥६६॥
(७८)

(पुरोहितम् च कुर्वीत) एक पुरोहित नियत करे (ऋत्विजः च एव वृणुयात्) ऋत्विज अर्थात् यज्ञ करने वालों का वरण करे (उनको नियत करे), (ते) वे ऋत्विज, (अस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युः) इसके गृह्य सम्बन्धी कर्म करें, (वै तानि कानि) जो कोई किये जाते हों।

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥६७॥
(७९)

---

७८ चर्त्विजः; चार्त्विजम् । तेऽस्य के स्थान में तस्य

(राजा विविधैः आप्तदक्षिणैः क्रतुभिः यजेत) राजा को चाहिये कि ऋतु सम्बन्धी सभी यज्ञों को करे और उनमें दक्षिणा दे, (धर्मार्थम् च एव विप्रेभ्यः भोगान् धनानि च दद्यात्) धर्म के लिये ब्राह्मणों को भोग्य पदार्थ तथा धन दे।

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥६८॥ (८०)

(आप्तैः च) होशियार आदमियों द्वारा (राष्ट्रात्) राज से (सांवत्सरिकम् बलिम् आहारयेत्) वर्ष भर की मालगुज़ारी को वसूल करावे। (लोके आम्नाय परः च स्यात्) लोक में वेद पर चलने वाला हो। (वर्तेत पितृवत् नृषु) प्रजा के साथ ऐसा वर्ताव करे जैसे पिता पुत्र के साथ करता है।

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥६९॥
(८१)

(तत्र तत्र) भिन्न-भिन्न स्थानों पर (विविधान् विपश्चितः अध्यक्षान्) भिन्न-भिन्न चतुर अध्यक्ष (Governors) नियत करे। (तम्) वे (अस्य) इस राज्य के (सर्वाणि कार्याणि) सब कार्यों को (कुवर्ताम् नृणाम्) करने वाले मनुष्यों पर (अवेक्षेरन्) देख भाल रक्खें।

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ७० ॥
(८२)

---

८२ विधीयते; ऽभिधीयते

(गुरुकुलात्) गुरुकुल से (आवृत्तानां विप्राणाम्) लौटे हुये विद्वानों का (पूजकः भवेत) आदर करे। (नृपाणाम्) राजों का (एषः ब्राह्मः निधिः) यह विद्या सम्बन्धी कोष (अक्षयः हि) तो कभी नाश नहीं होता। अर्थात् राजा का सबसे बड़ा धन यह है कि उसके राज में विद्वान् अधिक हों।

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥७१॥
(८३)

इस धन को न चोर चुरा सकते हैं, न (अमित्र) शत्रु नष्ट कर सकते हैं। इसलिये राजा को चाहिये कि (ब्राह्मणेषु) विद्वानों में (अक्षयः निधिः) इस विद्या रूपी धन को (निधातव्यः) रक्खे। जैसे धन की रक्षा के लिये एक घर होता है ऐसे ही विद्या की रक्षा के लिये विद्वान् घर हैं।

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ७२ ॥
(८४)

(अग्निहोत्रेभ्यः) यज्ञ आदि के लिये (ब्राह्मणस्य मुखे वरिष्ठम् हुतम्) ब्राह्मण के मुख में डाला हुआ श्रेष्ठ पदार्थ (न स्कन्दते) कभी चूक नहीं करता, (न व्यथते) न पीड़ा देता है, (न कर्हिचित विनश्यति) न कभी नष्ट होता है।

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ७३ ॥
(८७)

---

८३ ब्राह्मणे ह्यक्षयो (मे); ब्राह्मणेष्वचलो (न)

८४ स्कन्दति; स्कन्दते। च्यवते; व्यथते।

(सम + उत्तम + अधमैः आहूतः तु राजा) यदि राजा को कोई लड़ने के लिये बुलावे (चैलेंज करे) तो चाहे वह बराबर का हो, चाहे बड़ा, चाहे छोटा, (संग्रामात् न निवर्तेत) युद्ध से न हटे। (प्रजाः पालयन् क्षात्रम् धर्मम् अनुस्मरन् च) प्रजा का पालन करता हुआ और क्षात्र धर्म पर ध्यान रखता हुआ।

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ७४ ॥

(८८)

यह तीन चीजें राजों के लिये बहुत श्रेयस्कर (कल्याण करने वाली) हैं :—(१) युद्ध से न भागना (२) प्रजा का पालन। (३) विद्वानों का सत्कार।

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥७५॥

(८९)

(आहवेषु) युद्धों में (मिथः) परस्पर (अन्योन्यम्) एक दूसरे को (जिघांसन्तः) मार डालने की इच्छा करने वाले (महीक्षितः) राजा लोग (परम् शक्त्या युध्यमानाः) बहुत बलपूर्वक लड़ते हुये (अपराङ् मुखाः) कभी पीठ न दिखाने वाले (स्वर्गम् यान्ति) परमगति को प्राप्त होते हैं।

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ७६ ॥

(९०)

---

८८ प्रजानां परिपालनम् (गो)

(रणे युद्धमानः) रण में युद्ध करने वाला (रिपून्) शत्रुओं को (कूटैः आयुधैः न हन्यात्) गुप्त और अज्ञात् हथियारों से न मारे। (न कर्णिभिः) न ऐसे बाणों से जो शरीर से निकल न सकें, (न अपि दिग्धैः) न विष से बुझे हुओं से (न अग्निज्वलित तेजनैः) न उनसे जिनमें अग्नि जल रही हो।

न च हन्यात्स्थलारूढं क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्॥९१॥
(९१)

(स्थलारूढम् न हन्यात्) जो भूमि पर हो उसे न मारे। (न क्लीवम्) नपुंसक को न मारे, (न कृताञ्जलिम्) न उसको जो हाथ जोड़ता हो, (न मुक्तकेशम्) न उसको जो सामने अपने बाल खोल दे। (न आसीनम्) न बैठे हुये को (न तव अस्मि-इति वादिनम्) न उसको जो गिड़गिड़ाकर कहदे कि मैं तो आपका ही हूँ।

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥९२॥
(९२)

(न सुप्तम्) न सोते हुये को, (न विसन्नाहम्) न उसको जिसने कवच उतार दिया हो, (न नग्नम्) न नंगे को, (न निरायुधम्) न शस्त्र रहित को, (न अयुध्यमानम्) न उसको जो लड़ता न हो, (न पश्यन्तम्) न उसको जो केवल युद्ध देखने आया हो, (न परेण समागतम्) न उसको जो दूसरे के साथ आया हो।

---

९१ न पुटाञ्जलिम् (गो)। मुक्तकेशमासीनं (गो,रा)

९२ भग्नं; नग्नं

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतः न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥

(९३)

(न आयुध व्यसन प्राप्तम्) न उसको जिसका शस्त्र टूट गया हो, (न आर्तम्) न शोकातुर को, (न अति+परि+क्षतम्) न बहुत घायल को, (न भीतम्) न डरे हुये को (न परावृत्तम्) न भागनेवाले को, (सतां धर्मम् अनुस्मरन्) अच्छे पुरुषों के कर्तव्य का स्मरण करके।

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ८० ॥

(९४)

जो डरकर भागता हुआ युद्ध में शत्रु से मारा जाता है, उसको अपने स्वामी के किये हुये सब पापों का फल भोगना पड़ता है।

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ८१ ॥

(९५)

इस भागनेवाले पुरुष के जीवन का जो कुछ कमाया हुआ पुण्य होता है, स्वामी उस सब का भागी हो जाता है परलोक में।

तात्पर्य यह है कि युद्ध में भागना बहुत बड़ा पाप है।

---

९५ च; तु

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥८२॥
(९६)

इतनी वस्तुयें उसी की हो जाती हैं, जो जीत ले :—

रथ, घोड़ा, हाथी, छाता, रुपया, अन्न, पशु, स्त्री, सब कुप्पी में रक्खे जानेवाले घी, तेल आदि पदार्थ ।

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यः दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ८३ ॥
(९७)

(उद्धारम्) जो बहुत बड़ा धन हो, जैसे कोष आदि, उसे (राज्ञः दद्युः) राजा को देवे । (एषा वैदिकी श्रुतिः) यह वैदिक श्रुति है । (अपृथक् जितम् तु) जिस चीज़ को सब ने मिलकर जीता हो (राज्ञा सर्वयोधेभ्यः दातव्यं) राजा को चाहिये कि ऐसी चीज़ को सब योद्धाओं को दे देवे ।

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन्रणे रिपून् ॥ ८४ ॥
(९८)

(एषः) यह (अनुपस्कृतः) अनिन्दनीय (सनातनः) सनातन (योधधर्मः) युद्ध का धर्म (प्रोक्तः) कहा गया । (रणे रिपून् घ्नन्) रण में शत्रुओं को मारता हुआ (क्षत्रियः) क्षत्रिय (अस्मात् धर्मात् न च्यवेत) इस धर्म से न गिरे ।

---

९७ राज्ञे च (गो); राज्ञस्तु (मे)

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ८५ ॥

(९९)

(अलब्धं च एव लिप्सेत) जो प्राप्त नहीं है उसकी इच्छा करे, (लब्धम् प्रयत्नतः रक्षेत्) जो प्राप्त है, उसकी प्रयत्न से रक्षा करे। (रक्षितम् वर्धयेत् च एव) जो रक्षित है उसको बढ़ावे। (वृद्धम् पात्रेषु निःक्षिपेत्) बढ़े हुये को सुपात्र को दान दे।

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥८६॥

(१००)

(एतत् चतुर्विधम्) यह चार प्रकार का (पुरुषार्थ प्रयोजनम् विद्यात्) पुरुषार्थ का प्रयोजन समझे। (नित्यम्) सदा (अतन्द्रितः) आलस्य छोड़कर (अस्य अनुष्ठानम्) इसका पालन (सम्यक् कुर्यात्) भली भांति करे।

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ८७ ॥

(१०१)

(अलब्धम् इच्छेत् दण्डेन) जो प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त करने की इच्छा दण्ड से करे। (लब्धम् रक्षेत् अवेक्षया) जो प्राप्त है उसकी देख भाल करके रक्षा करे। (रक्षितम् वर्धयेत्

---

९९ रक्षेच्च यत्नतः (१, रा); रक्षेत्प्रयत्नतः; रक्षेत यत्नतः (गो); रक्षेदपेक्षया (न)

१०१ पात्रेषु निक्षिपेत; पात्रे निवेदयेत; दानेन निक्षिपेत

वृद्धया) जो सुरक्षित है उसको व्यापार आदि वृद्धि के साधनों द्वारा बढ़ावे । (वृद्धम् पात्रेषु निःक्षिपेत्) बढ़े हुये धन को सुपात्रों को दे देवें ।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ ८८ ॥
(१०२)

(नित्यम् उद्यत् दण्डः स्यात्) सदा दण्ड को तैय्यार रक्खे (नित्यम् विवृत पौरुषः) सदा पुरुषार्थ को फैलावे । (नित्यम् संवृतसंवार्यः) सदा गोपनीय चीज़ों जैसे कोष आदि को गुप्त रक्खे, (नित्यम् अरेः छिद्रानुसारी) सदा शत्रु के दोष को देखता रहे ।

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ ८९ ॥
(१०३)

(उद्यत दण्डस्य) जो सदा दण्ड को तैय्यार रखता है । ऐसे पुरुष से (कृत्स्नम् जगत्) सम्पूर्ण जगत् (नित्यम्) सदा (उत्+विजते) कांपता रहता है । (तस्मात्) इसलिये (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (दण्डेन एव) दण्ड के द्वारा ही (प्रसाधयेत्) ठीक रक्खे ।

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥९०॥
(१०४)

---

१०२ संवृतसंचारो (न); संवृतसंधार्यो (गो) .

१०४ नित्यं सुसंवृतः; नित्यं स्वसंवृतः; नित्यमतन्द्रितः

(अमायया एवं वर्तेत) छल-शून्य रहे, (न कथंचन मायया) छल का बर्ताव कभी न करे। (अरि-प्रयुक्ताम् मायाम्) शत्रुओं से किये हुये छल को (स्वयंवृतः) अपनी रक्षा करता हुआ (नित्यम् बुध्येत) सदा जानता रहे।

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ ६१ ॥
(१०५)

(अस्य) राजा की (छिद्रम्) निर्बलताओं को (परः) शत्रु (न विद्यात्) न जान पावे, (परस्य छिद्रम् तु विद्यात्) शत्रु के दोषों को यह जानता रहे। (कूर्म इव) कछुवे के समान (अंगानि गूहेत्) अपने अंग छिपाये रहे। (आत्मनः विवरम्) अपने छिद्र की (रक्षेत्) रक्षा करता रहे।

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ ६२ ॥
(१०६)

(वकवत् अर्थान् चिन्तयेत्) बगले के समान धन की चिन्ता करता रहे, (सिंहवत् च पराक्रमेत्) सिंह के समान पराक्रम करे। (वृकवत् च अवलुम्पेत) भेड़िये के समान मारे (शशवत् च विनिष्पतेत्) खरगोश के समान आपत्ति से भागता रहे।

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ ६३ ॥
(१०७)

---

१०५ परस्यच (मे,न)

१०६ दूसरे और चौथे चरण एक दूसरे के स्थान में।

(एवम् विजयमानस्य अस्य ये परिपन्थिनः स्युः) इस प्रकार के विजयी राजा के जो विरोधी होवें, (तान् सर्वान्) उन सबको (साम + आदिभिः उपक्रमैः) साम, दाम, दण्ड, भेद से (वशम् आनयेत्) वश में लावे ।

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ।९४॥

(१०८)

(यदि ते तु) अगर वे (प्रथमैः त्रिभिः उपायैः) पहले तीन उपायों से (न तिष्ठेयुः) न रुकें तो (दण्डेन एव) दण्ड से ही (प्रसह्य) बलात्कार (एतान्) इनको (शनकैः) धीरे: धीरे: (वशम् आनयेत्) वश में करे ।

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ।९५॥

(१०९)

(पण्डिताः) बुद्धिमान् लोग (सामादीनां चतुर्णाम् उपायानाम् अपि) साम, दाम, भेद, दण्ड, इन चार उपायों में (सामदण्डौ प्रशंसन्ति) साम और दण्ड को अच्छा समझते हैं, (नित्यम् राष्ट्र + अभिवृद्धये) सदा राज की उन्नति के लिये ।

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथारक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ९६ ॥

(११०)

---

१०८ न तिष्ठन्ते सामाद्यैः (मे)

११० तथा रक्षन्हि राष्ट्रांश्च हन्याच्च (गो)

(यथा निर्दाता) जैसे खेत नराने वाला (कक्षम् उद्धरति) घास आदि को उखाड़ डालता है, (धान्यन् च रक्षति) और अन्न के पौधों की रक्षा करता है। (तथा नृपः राष्ट्रम रक्षेत्) उसी प्रकार राजा राज्य की रक्षा करे, (हन्यात् च परिपन्थिनः) और विरोधियों का नाश करे।

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥

(१११)

(यः राजा) जो राजा (स्वराष्ट्रम्) अपने राज को (मोहात्) अज्ञान वश (अनवेक्षया) विना देख भाल के (कर्षयति) दुबला होने देता है, (सः) वह (अचिरात्) शीघ्र (राज्यात्) राज से (भ्रश्यते) च्युत हो जाता है, (सबान्धवः च) और अपने बन्धुओं के सहित (जीवितात्) अपने जीवन से भी।

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥९८॥

(११२)

जैसे प्राणियों के प्राण शरीर के दुबला होने से क्षीण हो जाते हैं इसी प्रकार राष्ट्र के दुबला होने से राजाओं के प्राण क्षीण हो जाते हैं।

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते॥९९॥

(११३)

---

१११ ०पेक्षया (गो)

राष्ट्र के संग्रह में नित्य इस विधान का आचरण करे। वही (पार्थिव) राजा सुख पाता है जो राष्ट्र का अच्छा संग्रह करता है।

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ १०० ॥
(११४)

दो, तीन या पांच गांवों के बीच में गुल्म अर्थात् संस्थान विशेष (जिला आदि) की स्थापना करे। तथा सौ गांव के बीच में भी राष्ट्र का निर्माण करे।

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ १०१ ॥
(११५)

एक-एक गांव का अधिपति नियुक्त करे। इनके ऊपर दस-दस गांवों का। फिर इन बीस पर एक, फिर इन सौ सौ पर एक, फिर इन हज़ार-हज़ार पर एक।

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ १०२ ॥
(११६)

एक गांव का हाकिम यदि अपने गांव के उत्पन्न हुये दोषों को स्वयं न ठीक कर सके तो दस गांव वाले हाकिम को धीरे-धीरे (शनकैः) सूचना दे देवे। इसी प्रकार दस गांव का हाकिम बीस वाले को।

---

११ ग्रामे (J)। विंशतीशिनम्

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ १०३ ॥
(११७)

वीसवाला सौ वाले को सूचना दे । और सौ वाला हजार वाले से निवेदन करे ।

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥१०४॥
(११८)

ग्रामवासियों से प्रतिदिन जो जो कर राजा को लेना है, अर्थात् —अन्न, पान लकड़ी आदि इन सब को ग्रामिक अर्थात् गांव का हाकिम इकट्ठा किया करे ।

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च ।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥१०५॥
(११९)

हाकिमों की जीविका का विधान इस प्रकार है :—

दशी एक कुल को ले, विंशी पांच कुलों को, शती एक ग्राम को, सहस्री एक पुर को । (कुल — दो हल की खेती को कहते हैं ।)

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१०६॥
(१२०)

---

११९ कुलानि तु (मे,न)

१२० प्रतिपन्नानि चैव हि (मे)

उनके ग्राम सम्वन्धी काम तथा अन्य कामों को राजा का एक प्यारा मन्त्री आलस्यरहित होकर किया करे।

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्स्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्॥१०७॥

(१२१)

नगर नगर में एक सव के शुभचिंतक को नियत करे। यह बड़ी पदवी वाला, घोर रूप अर्थात् रोवदार और नक्षत्रों में ग्रहों के समान तेजस्वी होना चाहिये।

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः॥ १०८॥

(१२२)

(स) वह राजा (तान् सर्वान्) उन सव पर सदा स्वयं (अनु + परि + क्रामेत्) दौरा करता रहे। (राष्ट्रेषु) राष्ट्रों में (तत् + चरैः) दूतों द्वारा (सम्यक्) भलीभांति (तेषां वृतम्) उनके चालचलन को (परिणयेत्) जानता रहे।

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥१०९॥

(१२३)

(राज्ञः) राजा के (रक्षाधिकृताः भृत्याः) रक्षण के लिये जो नौकर रक्खे जाते हैं, वे (प्रायेण) प्रायः (परस्वादायिनः शठाः भवन्ति) दूसरों को धोखा देकर खा जानेवाले होते हैं। (तेभ्यः इमाः प्रजाः रक्षेत्) इन से इस प्रजा को बचाता रहे।

---

१२२ सम्यग्रूपतया चरैः (मे)

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥११०॥

(१२४)

(ये पाप चेतसः) जो पापी लोग (कार्मिकेभ्यः) काम वालों से (अर्थम् एव) रिश्वत (गृह्णीयुः) लेवें (तेषां सर्वस्वम् आदाय) उनका सब माल जप्त करके (राजा कुर्यात् प्रवासनम्) राजा उनको देश से निकाल दे ।

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १११ ॥

(१२५)

(कर्मसु युक्तानाम्) काम में नियुक्त (स्त्रीणाम्) स्त्रियों (प्रेष्य-जनस्य च) और कर्मचारियों की (प्रत्यहम् वृत्तम् कल्पयेत्) दैनिक वेतन नियत करे (स्थानम्) और पदवी को भी (कर्मा-नुरूपतः) कर्म के अनुसार ।

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः११२

(१२६)

(अवकृष्टस्य) छोटे नौकर को (पण वेतनम् देयः) एक पण मजदूरी दे । (उत्कृष्टस्य षट्) बड़े को छः पण । (तथा षाण्मासिकः छादः), और छमाही कपड़े (मासिकः तु धान्य द्रोणः) महीने में एक द्रोण अनाज ।

---

१२५ राजकर्मसु स्थानकर्मा० । (J)

१२६ भक्तकम् (गो,न) । द्रोणाश्च (J) ।

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥११३॥
(१२७)

(वणिजः) व्यापारी से (करान्) महसूल को (दापयेत्) दिलवावे इन इन बातों को देखकर :—(१) क्रय—ख़रीद, (२) विक्रय - बिक्री, (३) अध्वानम्—मार्ग की अवस्था (roads etc), (४) भक्तं—लाने में कितना भोजन आदि का व्यय पड़ा, (५) परिव्ययं—रक्षा के लिये कितना यत्न करना पड़ा।

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् ।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥११४॥
(१२८)

(यथा) जिस रीति से (राजा) राजा, (कर्मणाम् कर्ता च) और व्यापारी (फलेन युज्येत) दोनों को अच्छा फल मिले, (तथा अवेक्ष्य) उसी रीति से जांच करके (नृपः राष्ट्रे सततम् करान् कल्पयेत्) राजा राज में कर लगावे।

अर्थात् 'कर' लगाने में मुख्य दो बातों का विचार रखना चाहिये, एक तो व्यापार की सुविधा और दूसरे राज्य की भलाई।

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥११५॥
(१२६)

(यथा) जैसे (वार्योकः) जोंक, (वत्स) बछड़ा, (षट् - पदाः) भ्रमर (अल्पम् अल्पम्) थोड़ा थोड़ा करके बिना पीड़ा

पहुँचाये (आद्यम्) अपने भोजन को (अदन्ति) खाते हैं। (तथा) उसी प्रकार (अल्पः अल्पः) थोड़ा-थोड़ा करके (राष्ट्रात्) राज से (राज्ञा) राजा के द्वारा (आब्दिकः करः) सालाना महसूल (ग्रहीतव्यः) उगाया जाना चाहिये।

जौंक जिसका खून पीती है, उसको हानि नहीं पहुँचाती, बछड़ा माता को हानि नहीं पहुँचाता और भौंरा फूलों का रस चूसकर फूलों को वैसा ही छोड़ देता है। इसी प्रकार राजा को ऐसा कर लेना चाहिये कि प्रजा को कभी हानि न पहुँचे।

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥११६॥
(१३०)

पशु और सोने के व्यापार से जो लाभ हो, उसका पचासवां भाग राजा को लेना चाहिये, अन्न का आठवां, छठा या बारहवां।

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ ११७ ॥
(१३१)

पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥११८॥
(१३२)

इन चीज़ों के व्यापार से जो लाभ हो, उसका छठा भाग ले :-(१) गोंद, मधु, घी, गन्ध, औषध, रस, फूल, मूल, फल

---

१३० वा; च

१३१ गन्धासवरसानां (मे)

(२) पत्ता, शाक, तृण, (भूसा आदि), चमड़ा बांस या बेत की टोकरियां आदि, मिट्टी और पत्थर के वर्तन।

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।
न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥११९॥
(१३३)

(म्रियमाणः अपि राजा) राजा को चाहे मौत के बराबर संकट क्यों न हो (श्रोत्रियात् करम् न आददीत्) विद्वान् से विद्या सम्बन्धी वस्तुओं पर कर न लगावे। (न च) और न (अस्य विषये वसन्) इसके राज में वसने वाला (श्रोत्रियः) विद्वान् (क्षुधा) भूख से (संसीदेत्) मरने पावे।

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १२० ॥
(१३४)

(यस्य राज्ञः तु विषये) जिस राजा के देश में (श्रोत्रियः) विद्वान् (क्षुधा) भूख से (सीदति) पीड़ित होता है (तस्य) उस राजा का (तत् राष्ट्रम् अपि) वह राज भी (क्षुधा) भूख से (अचिरेण एव) शीघ्र ही (सीदति) पीड़ित होता है।

---

१३२ चर्मणां वैणवस्य च (गो)

१३३ न च गच्छेद्द्विपादं च श्रोत्रियो (गो)

१३४ तस्य सीदति तद्राष्ट्रं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् (गो)

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १२१ ॥
(१३५)

(अस्य) इसकी (श्रुतवृत्ते) विद्या और रुचि को (विदित्वा) जानकर (धर्म्यां वृत्तिम्) धार्मिक जीविका को (प्रकल्पयेत्) लगा दे । (एवम् च) और इसकी (सर्वतः) सब ओर से (संरक्षेत्) रक्षा करे (पिता औरसम् पुत्रम् इव) जैसे पिता निज पुत्र की करता है ।

संरक्ष्यमाणो राज्ञायं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १२२ ॥
(१३६)

यह विद्वान् (राज्ञा संरक्ष्यमाणः) राजा के संरक्षण को प्राप्त करके (अन्वहम्) प्रति दिन (यं धर्मम् कुरुते) जो धर्म करता है. (तेन) उस धर्म के द्वारा (राज्ञः) राजा की (आयुः वर्धते) आयु बढ़ती है (द्रविणम्) धन भी (राष्ट्रम् एव च) और राज भी ।

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥१२३॥
(१३७)

राजा (यत् किंचित् अपि) ऊपर के हिसाब से कम भी (वर्षस्य करसंज्ञितम्) वार्षिक कर (दापयेत्) वसूल करावे

---

१३५ च कल्पयेत् (गो) । संरक्षेत्सर्वतश्चेनं (मे); भयेभ्यश्च तथा रक्षेत् (गो)

(राष्ट्रे व्यवहारेण जीवन्तम् पृथक् जनम्) उससे जो उसके राज में तुच्छ व्यापार करके जीविका प्राप्त करता है।

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १२४ ॥

(१३८)

(कारुकान्) बढ़ई (शिल्पिनः) कारीगर (शूद्रान्) मज़दूर (आत्म-उपजीविनः) नौकर (menials) इनसे (महीपतिः) राजा (मासि-मासि) हर महीने (एक-एक कारयेत्) एक-एक वार काम ले लेवे। कर न लगावे।

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥

(१३९)

(अतितृष्णया) बहुत लालच करके (आत्मनः परेषां च मूलं न उच्छिन्द्यात्) अपनी और दूसरों की जड़ न उखाड़े। (आत्मनः मूलम् उच्छिन्दन्) अपनी जड़ काटने से (आत्मानम् तान् च पीडयेत्) स्वयं अपने को और दूसरों को हानि पहुँचेगी।

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥१२६॥

(१४०)

(महीपतिः) राजा (कार्य्यं वीक्ष्य) काम को दृष्टि में रखकर (तीक्ष्णः च एवं मृदुः च स्यात) कड़ाई या नरमी करे। क्योंकि

---

१३८ चाल्पोपजीविनः (मे)

१४० न तीक्ष्णो न मृदुश्च स्यात्कार्यं (गो)। धर्मतः

जो राजा कड़ा भी हो सकता है और नरम भी उसका सब मान करते हैं।

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥१२७॥
(१४१)

(नृणाम् कार्येक्षणे खिन्नः) यदि स्वयं राजाओं के करने का जो काम है उसमें कुछ रोग आदि के कारण खिन्नता हो और राजा स्वयं न जा सके तो अपने मुख्य मंत्री को जो धर्मज्ञ, बुद्धिमान, आत्मसंयमी तथा कुलीन हो अपने आसन पर बिठाल दे।

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२८ ॥
(१४२)

(एवम्) इस प्रकार (आत्मनः) अपने (सर्वम्) सब (इति कर्तव्यम्) कर्तव्य को (विधाय) करके (युक्तः च अप्रमत्त च) बिना आलस या प्रमाद के (इमाः प्रजाः) इस प्रजा को (रक्षेत्) रक्षा करे।

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१२९॥
(१४३)

---

१४१ प्राज्ञं के स्थान में शान्तं। कुलोद्भवम् (मे,न,गो); कुलोद्गतम् (रा)

१४३ मृतः स न स (मे); मृतः स न च; मृतः स सं न (न); मृतः स न तु (रा); मृतस्तु न (गो)

(यस्य) जिस राजा के (सभृत्यस्य) नौकर आदि सहित (संपश्यतः) देखते हुये अर्थात् आँखों के सामने (प्रजाः) प्रजा (विक्रोशन्त्यः) रोती चिल्लाती (दस्युभिः) दुष्टों से (ह्रियन्ते) लूटी जाती है (मृतः स न तु जीवति) उस राजा को मरा समझो न कि जीवित ।

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१३०॥

(१४४)

प्रजा का पालन ही क्षत्रिय का परमधर्म है । राजा को योग्य है कि अपने धर्म का ही निर्दिष्ट फल भोगे । अर्थात् अपने धर्म को पालन करने से जो फल मिलता है उसी पर संतुष्ट रहे, अन्य प्रकार के सुख भोगने की आकाङ्क्षा न करे ।

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥१३१

(१४५)

(पश्चिमे यामे उत्थाय) बहुत तड़के उठकर (कृतशौचः) शौच आदि कर्म करके (समाहितः) ध्यान लगाकर (हुताग्निः) हवन करके (ब्राह्मणाम् च अर्च्य) ब्राह्मणों का सत्कार करके (शुभाम् सभाम् प्रविशेत् सः) अपनी शुभ सभा में बैठे ।

---

१४५ हुताग्निर्ब्राह्मणानर्च्य (मे, गो); हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य ; हुताग्निं ब्राह्मणांश्चार्च्य (रा,न); हुत्वाग्नीन्ब्राह्मणांश्चार्च्य । प्रविशेत्स के स्थान में प्रविशेत ।

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥१३२॥
(१४६)

वहां बैठकर सब प्रजा को सन्तुष्ट करके वापिस करे। सब प्रजा को विदा करके मन्त्रियों के साथ परामर्श करे।

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१३३॥
(१४७)

मन्त्रियों से परामर्श ऐसे स्थान पर करना चाहिये, जहां कोई पहुँच न सके। अर्थात् पहाड़ की चोटी पर या एकान्त महल में या जंगल में।

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥
(१४८)

जिस राजा के भेद को और पुरुष जानने नहीं पाते, उसके पास यदि कोश न भी हो, तो भी वह सम्पूर्ण पृथ्वी को भोगता है।

जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोऽतिगान् ।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत्॥१३५
(१४९)

---

१४६ तत्र स्थिताः (मे, न)
१४७ ०मुपासह्य रु (मे) रहोगतम् (रा)।
१४९ तिर्यग्योनान्। वयोऽतिगान्;वयोऽधिकान्; वयोगतान्।

परामर्श करते समय इतनों को अपने पास से हटा दे :—

मूर्ख, गूंगा, अन्धा, बहरा, तोता, मैना आदि पक्षी, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी तथा अंग भंग वाला (क्योंकि प्रायः शत्रु इन्हीं के द्वारा भेद लिया करता है और इनसे प्रायः धोखा हो जाता है)

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च ।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥१३६॥

(१५०)

अपमान पाकर यह पक्षी आदि भेद को खोल देते हैं और विशेष कर स्त्रियां । इसलिये उनका अपमान न करे । (जब उनको हटाना हो, तो आदरपूर्वक हटाना चाहिये ।)

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः ।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥ १३७ ॥

(१५१)

दोपहर को या आधी रात को आलस्य रहित होकर धर्म, काम और अर्थ की बातों को मन्त्रियों के साथ विचारे ।

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥१३८॥

(१५२)

(परस्पर विरुद्धानाम् तेषाम्) धर्म, अर्थ और काम में यदि परस्पर विरोध पड़े, तो उनका (समुपार्जनम्) विचारपूर्वक समन्वय करे, जिससे किसी अंग को हानि न पहुँचे । कन्याओं और कुमारों के विवाह तथा रक्षा का भी प्रबन्ध करे ।

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १३९ ॥
(१५३)

दूत या गुप्तचरों के भेजने का काम या अन्य जो काम शेष रहा हो या महल की स्थिति तथा प्रतिनिधियों के विचार इन सब का चिन्तन करे ।

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १४० ॥
(१५४)

सम्पूर्ण अष्टविधिकर्म और पञ्चवर्ग का पूरा-पूरा विचार करे। अनुराग और उपराग तथा मंडल (Province) की कार्यवाहियों का भी चिन्तन करे ।

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १४१ ॥
(१५५)

(१) मध्यम, (२) जीतने की इच्छा वाला, (३) उदासीन, (४) शत्रु इनके विचारों को प्रयत्न करके जानता रहे ।

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥
(१५६)

---

१५४ मण्डलस्य तु (गो)
१५५ विशेषतः (मे)

संक्षेप से मण्डल अर्थात् सूबों की शासन सम्बन्धी यह चार मूल प्रकृतियां हैं। आठ और हैं। इस प्रकार बारह हुईं।

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः॥ १४३॥
(१५७)

मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, अर्थ या ख़ज़ाना, दण्ड यह पांच और हैं। विस्तार करने से बहत्तर होती हैं।

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम्॥ १४४॥
(१५८)

शत्रु और शत्रु के साथियों को तो पास ही समझना चाहिये। फिर मित्र और फिर उदासीन को।

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च॥ १४५॥
(१५९)

इन सब को साम आदि उपायों से वश में रक्खे। या तो सब से अलग अलग या सब को मिलाकर। वीरता से और नीति चातुर्य से।

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा॥१४६॥
(१६०)

---

१५९ वा (गो)

१६० षड्गुणांश्चिन्तयेत् (मे, न); षाड्गुण्यं चिन्तयेत् (गो, रा)

मेल, लड़ाई, चढ़ाई, उपेक्षा, द्वैधीभाव तथा संश्रय (अर्थात् किसको किसके आश्रित रहना चाहिये) इन छः पर विचार करे।

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च॥ १४७॥
(१६१)

सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय को विचारपूर्वक जहां जैसा अवसर देखे वहां वर्ते।

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥१४८।
(१६२)

संधि, विग्रह, यान, आसन और संश्रय दो-दो प्रकार के होते हैं।

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥१४९॥
(१६३)

(तदा त्वायति सं युक्तः सन्धि) वह सन्धि जो तात्कालिक या भविष्य में फल दे सके, दो प्रकार की होती है (१) समान यान-कर्मा—जिसमें दो मित्र मिलकर किसी पर आक्रमण करें (२) विपरीत अर्थात् असमानयानकर्मा—जिसमें मित्र दल अलग अलग किसी पर आक्रमण करते हैं।

---

१६१ संधाय च विगृह्य च; संधिं विग्रहमेव च

१६२ संधिं च। द्वैधं संश्रतमेव च; द्विविधः संश्रय; स्मृतः।

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१५०॥
(१६४)

विग्रह (लड़ाई) भी दो प्रकार का है। एक तो अपने कार्य के लिये किया जाता है और एक अपने मित्र का अहित देखकर किया जाता है।

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १५१ ॥
(१६५)

यान (चढ़ाई) दो प्रकार का है। एक तो स्वयं अकेला, दूसरा मित्रों के साथ।

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥१५२॥
(१६६)

आसन (उपेक्षा) दो प्रकार का है। क्रमशः दैवयोग से हीनता देखकर उपेक्षा करना या मित्र के अनुरोध से।

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१५३॥
(१६७)

द्वैध दो प्रकार का होता है। एक तो बल (सेना) का, दूसरा स्वामी का।

---

१६४ च। मित्रेण चैवोपकृते (गो)

१६७ कार्यस्य सिद्धये (मे)

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥१५४॥
(१६८)

संश्रय दो प्रकार का होता है । एक तो शत्रु से पीड़ित होकर अर्थ-सम्पादन के लिये किसी का आश्रय लेना दूसरा किसी राजा को बहुत अच्छा और उपकारी समझकर उसका आश्रय लेना ।

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥१५५॥
(१६९)

(यदा) जब (अवगच्छेत्) जाने कि अपना (आयत्यामा) भविष्य (ध्रुवम्) निश्चय रूप से (आधिक्यम्) अच्छा है । परन्तु (तदात्वे अल्पिकाम् पीड़ाम्) और उस समय थोड़ी पीड़ा है, (तदा सन्धिम् समाश्रयेत्) उस समय सन्धि कर ले ।

यदा प्रकृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१५६॥
(१७०)

(यदा) जब (मन्येत्) समझे कि (सर्वाः प्रकृतीः भृशम् प्रकृष्टाः) कि सब परिस्थिति बहुत अनुकूल है । (तथा) और आत्मानम् अति उच्छ्रितम्) और अपने को बलवान समझे, (तदा कुर्वीत विग्रहम) तब लड़ाई करे ।

---

१७० प्रहृष्टा; प्रकृष्टा । तदात्मानं । मन्येत विग्रहम् ।

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १५७ ॥
(१७१)

(यदा) जब (मन्येत) जाने (भावेन) भाव से अपने बल को हृष्ट-पुष्ट और (परस्य) शत्रु के बल को विपरीत जाने, तभी (रिपुम् प्रतियायात्) शत्रु पर चढ़ाई कर दे ।

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १५८ ॥
(१७२)

और जब सवारी या सेना में कम हो, तब (आसीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन् अरीन्) शत्रुओं को प्रयत्न से धीरे धीरे शान्त करता हुआ बैठा रहे ।

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥१५९॥
(१७३)

जब राजा शत्रु को बहुत बलयुक्त देखे, तब सेना के दो भाग करके अपना कार्य साधे ।

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१६०॥
(१७४)

---

१७१ स्वकं बलम् (गो, रा)

१७२ सान्त्वयन्नरिम्; सान्त्वयन्नरीन्; सान्त्वयन्रिपून्

१७३ सर्वथा; सर्वदा (गो)

१७४ गमनाय समो

जब शत्रु की सेना का बहुत बड़ा आक्रमण हो, तो शीघ्र धार्मिक बली राजा का आश्रय ले।

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१६१॥ (१७५)

(तम्) उस पुरुष की (सर्वयत्नैः) सब यत्नों से (गुरुम् यथा) गुरु के समान (नित्यम् उपसेवेत्) नित्य सेवा करे। (प्रकृतीनाम् निग्रहम् कुर्यात्) जो परिस्थितियों को वश में रख सकता हो (यः अरिबलस्य च) और जो शत्रु की सेना का भी दमन कर सकता हो।

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १६२ ॥ (१७६)

अगर तब भी आश्रय लेने में दोष दिखाई पड़ता हो, तो फिर भय रहित होकर लड़ाई में जुट जाय।

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१६३॥ (१७७)

नीतिज्ञ राजा को सब उपायों से ऐसा करना चाहिये कि उसके मित्र, उदासीन या शत्रु बढ़ न जावें।

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥१६४॥ (१७८)

---

१७५ प्रकृतीनांतु ...... बलस्य तु (गो)। उपसेवेत सततम्।

१७६ स युद्धम्; सुयुद्धम्। निर्वितर्कः; निर्विकल्पः; निर्विशङ्कः

सब (आयतिम्) भविष्य के (तदात्वम्) वर्तमान् के (अतीत) गत समय के कामा के सब गुण और दोषों को ठीक ठीक जान लें।

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १६५ ॥

(१७६)

वह पुरुष (शत्रुभिः न अभिभूयते) शत्रुओं से पराजित नहीं होता (आयत्याम् गुणदोषज्ञः) जो भविष्य के गुण और दोषों को जानता है (तदात्वे क्षिप्र निश्चयः) वर्तमान के विषय में तुरन्त निश्चय कर सकता है। (अतीते कार्य्यं शेषज्ञः) और व्यतीत हुये के विषय में विचार कर सकता है।

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥१६६॥

(१८०)

(यथा) जिस रीति से (मित्र + उदासीन + शत्रुवः) मित्र, उदासीन, और शत्रु (एवम् न अभि + सं + दध्युः) इस को वश में न करने पावें। (तथा सर्वम् संविदध्यात्) वैसा सब उपाय करे, (एषः सामासिकः नयः) यह संक्षेप से नीति कही है।

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः।
तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥१६७॥ (१८१)

---

१८० तथा प्रयत्नमातिष्ठेदेषः (रा)

(यदा) जब (प्रभुः) राजा (अरिराष्ट्रम्) शत्रु के राष्ट्र पर (यानम्) चढ़ाई (आतिष्ठेत्) करे (तदा) उस समय (अनेन विधानेन) इस रीति से (अरिपुरम्) शत्रु के नगर को जावे।

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥१६८॥
(१८२)

राजा मार्गशीर्ष शुभ महीने में, फाल्गुन में या चैत में, (जब वर्षा न हो न अधिक जाड़ा हो)

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद्ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥१६९॥
(१८३)

दूसरे समय में भी जब कि जय निश्चय हो, तब अपनी ओर से झगड़ा कर के चल दे। या जब देखें कि शत्रु के नगर में उपद्रव हो रहा है, उस समय में।

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥१७०॥
(१८४)

चढ़ाई से पूर्व इतना प्रबन्ध करे :—

(१) मूल अर्थात् राजधानी का प्रबन्ध ठीक हो।
(२) 'यात्रिकम्—मार्ग के लिये सब प्रकार का सामान हो।
(३) आस्पदम्—डेरा, तम्बू आदि ठीक हों।
(४) चार अर्थात् दूत ठीक ठीक प्रकार से नियत हों।

---

१८२ फाल्गुनं वापि (मे, न)
१८३ च कालेषु······रिपौ (गो)

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥१७१॥ (१८५)

(५) त्रिविध मार्ग अर्थात् जल, थल और आकाश के मार्ग ठीक हों।

(६) अपनी छः प्रकार की सेना ठीक हो।

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढ़े युक्ततरो भवेत् ।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १७२ ॥ (१८६)

'शत्रु-सेवी मित्र' अर्थात् जो मित्र शत्रु से मिला हो और 'गत-प्रत्यागत' अर्थात् जो अफ़सर पहले छुड़ा दिया गया हो और फिर आ गया हो, इनसे 'युक्तर' अर्थात् सचेत रहे, क्योंकि यह भयानक शत्रु हो सकते हैं।

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥१७३॥ (१८७)

दण्ड-व्यूह, शकट-व्यूह, बराह-व्यूह, मकर-व्यूह, सूची-व्यूह, गरुड़-व्यूह ऐसे व्यूह बनाकर सेना को ले जावे।

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥१७४॥ (१८८)

---

१८५ सांपरायिकमार्गेण । पुरं प्रति

१८६ तन्निकृष्टतरो रिपू (गो)

१८७ तं मार्गं आशङ्केत यतो नीति

जिधर से भय की आशङ्का हो, उधर ही सेना अधिक रक्खे। या पद्म-व्यूह की रचना करे।

यह सेनाओं के भिन्न भिन्न प्रकार के व्यूह हैं, इनको दक्ष सेनाध्यक्ष ही समझ सकते हैं।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥१७५॥
(१८९)

सेनापति और उनके अध्यक्षों को सब दिशाओं में नियुक्त करे। जिस दिशा में अधिक भय हो, उसी को पूर्व दिशा माने। अर्थात् उधर को ही अधिक ध्यान रक्खे।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समंततः।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥१७६॥
(१९०)

(स्थाने युद्धे च कुशलान् अभीरून् अविकारिणः) स्थान और युद्ध में कुशल, निडर और विकार रहित (आप्तान् गुल्मान्) चतुर अध्यक्षों को (कृत संज्ञान्) विशेष उपाधियां नियत करके (समन्ततः स्थापयेत्) हर स्थान पर नियुक्त करे।

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥१७७॥
(१९१)

(अल्पान् संहतान् योधयेत्) योद्धा यदि थोड़े हों, तो उनको मिलाकर लड़ावे। (कामम् विस्तारयेत बहून्) बहुत हों, तो उनको फैला दे। सूची-व्यूह और वज्र-व्यूह को बनाकर युद्ध करावे।

स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १७८ ॥
(१९२)

सम भूमि में रथ और घोड़ों से युद्ध करे, (अनूपे नौद्विपैः तथा) जल में नाव और हाथियों से। वृक्ष और झाड़ियों में धनुष से। थल में तलवार और चर्म शस्त्रों से।

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ १७९ ॥
(१९४)

सेना का उत्साह बढ़ावे। जब उनके व्यूह बनें, तो उनकी भलीभांति परीक्षा करे। (अरीन् योधयताम् अपि चेष्टाः विजानीयात्) जब वे शत्रुओं से लड़ते हों, तो भी उनकी चेष्टाओं को जानता रहे।

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १८० ॥
(१९५)

(अरिम् उपरुध्य) शत्रु को घेरकर (आसीत्) ठहरे। (अस्य राष्ट्रं च उपपीडयेत्) उसके राष्ट्र को कष्ट दे। (अस्य यवस + अन्न + उदक + इन्धनम्) उसके घास, अन्न, चल और ईंधन को बिगाड़ दे।

---

१९२ चर्मायुधैस्तथा

१९४ तांश्च सर्वान्परीक्षयेत् (रा); भृशं तांश्च परीक्षयेत् (मे)

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १८१ ॥

(१९६)

तालाबों, परकोटों, खाइयों को तोड़ दे । इसको भलीभांति निर्बल कर दे और रात में भी उसको त्रास दे ।

उपजप्यानुपजपेद्बुध्येतैव च तत्कृतम् ।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १८२ ॥

(१९७)

(उपजप्यान् उपजपेत्) शत्रु के दल में जिनमें भेद उत्पन्न हो सकता हो, उनमें भेद उत्पन्न कर दे । (तत् कृतम् एव च बुद्ध्येत्) उनके कार्यों को भी जानता रहे । (युक्ते च दैवे) अवसर प्राप्त होने पर (जयप्रेप्सुः) जय का इच्छुक (अपेत भीः) डर छोड़कर (युध्येत्) युद्ध करे ।

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १८३ ॥

(१९८)

साम, दान, भेद सब से या इनमें से एक एक से शत्रु को जीतने का यत्न करे और कभी कभी युद्ध से भी ।

---

१९६ वित्रासयेद्बलम् (गो)

१९८ साम्ना भेदेन दण्डेन (मे, गो) । वियुक्तं प्रयतेतारिं विजेतुं सहसा न तम् (मे)

अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥१८४॥

(१९९)

(यस्मात्) चूंकि (युद्ध्यमानयोः) युद्ध करनेवाले दो दलों की विजय अनित्य हुआ करती है और संग्राम में पराजय की भी सम्भावना है, इसलिये युद्ध को न करना ही अच्छा है ।

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ।
तथा युध्येत संपत्तो विजयेत रिपून्यथा ॥ १८५ ॥

(२००)

पहले कहे हुये तीनों उपायों के असम्भव होने पर तो सम्पन्न होकर लड़ना और शत्रु को जीतना ही ठीक है ।

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ १८६ ॥

(२०१)

विजय प्राप्त करने पर देव, ब्राह्मण, धार्मिक लोगों की पूजा करे । (परिहारान् प्रदद्यात्) जिनकी हानि हुई है, उनको प्रतीकार के रूप में धन दे । (अभयानि च ख्यापयेत्) और अभय की घोषणा कर दे । अर्थात् घोषणा कर दे कि अब किसी को किसी प्रकार का भय न होना चाहिये ।

---

२०० पूर्वोक्तानां परिक्षये; पूर्वोक्तानामसंभवे । संयत्तो, संयुक्तो; संपन्नो

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम् ।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥१८७॥
(२०२)

जो हारा हुआ राजा या उसके मन्त्री आदि हैं, उनकी इच्छा को जानकर उसी के वंशवालों को वहां का राजा बना दे और समय की क्रिया को करे। अर्थात् शासन-विधि को ठीक ठीक नियत कर दे।

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥१८८॥ (२०३)

(तेषाम् यथा उदितान् धर्म्यान् प्रमाणानि कुर्वीत) जैसा वह अपने रस्म रिवाज बतावें, उनको प्रमाण करे अर्थात् उनको मान ले। उनके आन्तरिक कार्यों में हस्ताक्षेप न करे और इस नये बनाये हुये राजा का उसके प्रधान पुरुषों के साथ रत्न आदि से सत्कार करे।

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः ।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥१८९॥
(२०६)

(वा अपि सह सन्धिम् कृत्वा) या उसके साथ सन्धि करके (प्रयत्नतः) प्रयत्नपूर्वक (युक्तः) मेल करके (व्रजेत्) वापिस आवे। (मित्रम् भूमिम् हिरण्यम् त्रिविधम् फलम् संपश्यन् वा)

---

२०२ सर्वेषां च (गो), सर्वेण तु (मे)। समधिक्रियाम् (न)
२०३ धर्मान्नियोजयेत् (न)
२०६ भूमिं च

तीन फलों को प्राप्त करके अर्थात् तात्पर्य यह है कि यदि विना युद्ध के ही या युद्ध के मध्य में शत्रु मित्र हो जाय, तो उससे भूमि या धन लेकर लौट आना चाहिये।

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥१६०॥

(२०७)

राजा के पड़ोसी राजों में कोई ऐसा राजा होता है, जो राजा को खाली पाकर आक्रमण करने का अवसर तके रहता है, उसको **'पार्ष्णिग्राह'** कहते हैं। 'आक्रन्द' वह राजा है, जो पार्ष्णिग्राह को दबाने का अवसर तकता है।

राजा को चाहिये कि जब किसी पर चढ़ाई करे, तो अपने पार्ष्णिग्राह और आक्रन्द पर दृष्टि रक्खे। अर्थात् इस बात का प्रबन्ध करने के पश्चात् चढ़ाई करे कि उसकी अनुपस्थिति में दूसरा पड़ोसी उसके राज पर आक्रमण तो न कर देगा। पड़ोसी चाहे मित्र हो, चाहे शत्रु, उसका विशेष प्रबन्ध किये विना चढ़ाई न करनी चाहिये।

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥१६१॥

(२०८)

सोने या भूमि को पाकर राजा इतना नहीं बढ़ता, जितना स्थिर मित्र को पाकर, चाहे वह कृश अर्थात् निर्बल ही क्यों न हो। क्योंकि वह (आयतिक्षमम्) भविष्य में काम आ सकता है।

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ १९२ ॥
(२०९)

ऐसा छोटा मित्र भी अच्छा होता है, जो धर्मात्मा, कृतज्ञ, संतोषी, प्रेमी तथा धृति-शील हो ।

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ १९३ ॥
(२१० ॥

बुद्धिमानों ने ऐसे शत्रु को कड़ा बताया है, जो चतुर, कुलीन, वीर, दक्ष, दानी, कृतज्ञ और धृति शील हो । क्योंकि ऐसे का जीतना कठिन है ।

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ १९४ ॥
(२११)

आर्यता, पुरुष की पहचान, वीरता, दयालुता (स्थौल लक्ष्यम्) दानशीलता यह गुण यदि किसी राजा में भी हों और वह उदासीन भी हो, तो भी समझना चाहिये कि वह किसी न किसी दिन बढ़ जायगा । अतः उसके ऊपर दृष्टि रखनी चाहिये ।

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ १९५ ॥
(२१२)

---

२११ कारुण्यवेदिता (रा)

२१२ अवधारयन् (गो)

(आत्मार्थम्) अपनी रक्षा की आवश्यकता हो, तो (अविचारयन्) विना सङ्कोच के भूमि को छोड़ दे, चाहे वह कितनी ही अच्छी, उपजाऊ और पशु आदि सम्पत्तिवाली क्यों न हो, अर्थात् जहां रक्षा का प्रश्न हो, वहां ममता या लोभ ठीक नहीं है।

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ १९६ ॥
(२१३)

आपत्ति की निवृत्ति के लिये धन की रक्षा करे। धन की अपेक्षा स्त्री की रक्षा करे। अपनी रक्षा के लिये किसी की परवाह न करे। न धन की न स्त्री की। अर्थात् राजा के लिये अपनी रक्षा परम आवश्यक है। जब उस पर आपत्ति आयेगी, तो वह न परिवार की रक्षा कर सकता है, न सम्पत्ति की।

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः ॥१९७॥
(२१४)

(सर्वाः आपदः सह समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्य) यह देखकर कि सब आपत्तियां एक साथ उत्पन्न हो जाती हैं, बुद्धिमान् को चाहिये कि उपायों को काम में लावे, चाहे (संयुक्तान् वियुक्तान् च) सबको एक साथ या अलग अलग एक एक करे।

---

२१३ आपदर्थे। आत्मानं सततं, (मे), आत्मानं सर्वतो, आत्मानं सर्वदा (गो), आत्मानं तु तथा (न)

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ १९८ ॥
(२१५)

(अर्थ सिद्धये) अर्थ की सिद्धि के लिये (एतत् त्रयम समाश्रित्य) इन तीनों का आश्रय लेकर (प्रयतेत) प्रयत्न करे। (१) उपेतारम्—प्राप्त करनेवाला, (२) उपेयम्—प्राप्त करने की वस्तु. (३) उपाय ।

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायाम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥
(२१६)

इस प्रकार राजा मन्त्रियों के साथ सब बातों (श्लोक १३२ से १९८ तक जो बातें दी हैं, उनके सम्बन्ध में) का विचार करके व्यायाम, स्नान आदि करके दोपहर के समय खाने के लिये घर के भीतर जावे ।

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २०० ॥
(२१७)

(तत्र) वहां (अन्नाद्यम् अद्यात्) भोजन करे, जिसकी (सुपरीक्षितम्) भलीभांति परीक्षा कर ली गई हो । (यह परीक्षा ऐसे लोग करें) (आत्म भूतैः) जो राजा के आत्मीय अर्थात् अत्यन्त प्रिय हों, (कालज्ञैः) अवसर को समझते हों, (अहार्यैः) शत्रु से कभी न मिल जायं, (मन्त्रैः विषापहैः) और जो विष को दूर करने की विधि जानते हों ।

---

२१५ साधयेत्कार्यमात्मानः

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत्।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २०१ ॥
(२१८)

भोजन के सब द्रव्यों को विष मारनेवाली दवाइयों से युक्त करे। सदा विष मारने वाले रत्न साथ रक्खे।

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २०२ ॥
(२१९)

(वेष + आभरण संशुद्धाः) कपड़े और जेवर से शुद्ध (परीक्षिताः) परीक्षा ली हुई (सुसमाहिताः) अच्छी (स्त्रियः) स्त्रियां व्यजन + उदक + धूपनैः) भोजन, जल तथा पंखा आदि से (एवम्) इस राजा की (स्पृशेयुः) सेवा करें।

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥ २०३ ॥
(२२०)

इस प्रकार यान (सवारी), शय्या, आसन, अशन (भोजन) स्नान, आभूषण आदि के साधनों में प्रयत्न करें।

---

२१८ विषघ्नैरुदकैश्चापि (मे, न)। नेजयेत् (मे, गो, स, न), शोधयेत् (रा)। प्रयतो, नियतो।

२१९ स्त्रियश्चैव (मे)। वेशाभरणसंयुक्ताः संस्पृशेयुः समाहिताः (मे)

२२० यानशय्यासनाशने, यानशय्यासनादिषु, यानशय्यासनेषु च

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तः पुरे सह ।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥२०४॥
(२२१)

खाना खाकर स्त्रियों के साथ कुछ देर विहार करे । फिर यथा समय कार्य आरम्भ करे ।

अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥२०५॥
(२२२)

स्वयं सुसज्जित होकर सब सेना आदि, सवारी, शस्त्र तथा युद्ध सम्बन्धी सामग्री का निरीक्षण करे ।

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२०६
गुप्तचर
(२२३)

(सन्ध्याम् च उपास्य) फिर संध्या करके (शस्त्रभृत्) राजा (अन्तर्वेश्मनि रहसि) महल के गुप्त स्थान में (आख्यायिनां प्रणिधीनाम् च चेष्टितम् शृणुयात्) गुप्तचरों और प्रतिनिधियों की बातें सुने ।

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २०७ ॥
(२२४)

(तम् जनम्) उन आदमियों को (सम् अनुज्ञाप्य) ठीक

---

२२४ भोजनार्थं तु । स्त्रीभिरन्तः पुरं ।

ठीक आदेश देने के पश्चात् (अन्यत् कक्षान्तरम् गत्वा) दूसरे कमरे में जाकर अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ भोजन करने जावे।

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः॥ २०८॥

(२२५)

वहां खाना खाकर बाजे आदि का आनन्द लेवे। और फिर सो जाय और दूसरे दिन प्रातःकाल (गतक्लमः) अर्थात् ताज़ा होकर उठें।

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत्॥२०९॥

(२२६)

राजा इस प्रकार रोगरहित रहकर सब बातों का विधान करे। रोग की दशा में इस सब काम को अपने आधीन पुरुषों के सुपुर्द कर दे।

—:o:—

२२५ उत्तिष्ठेद्विगतक्लमः (मे, न)

२२६ एतद्वृत्तं समातिष्ठेद् (न)। सर्वमेवैतद् (न), सर्वमेवेदं (मे)

आठवाँ अध्याय

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥१॥

(१)

(पार्थिवः) राजा (व्यवहारान् दिदृक्षुः) व्यवहारों को देखने की इच्छा करके (ब्राह्मणैः सह) ब्राह्मणों (मंत्रज्ञैः मंत्रिभिः च) और विद्वान् मन्त्रियों के साथ (विनीतः) नीति से युक्त होकर (सभाम् प्रविशेत्) सभा में प्रवेश करे।

तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २ ॥

(२)

(तत्र आसीनः) वहां बैठकर (स्थितः वा अपि) या खड़ा रहकर (दक्षिणं पाणिम् उद्यम्य) दाहिना हाथ उठाकर (विनीत वेषा भरणः) नीतियुक्त वेश और वस्त्रों सहित (कार्यिणाम्) काम वालों के (कार्याणि) कामों को (पश्येत्) देखे।

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक् ॥ ३ ॥

(३)

(प्रत्यहम्) प्रतिदिन (देशदृष्टैः शास्त्रदृष्टैः च हेतुभिः) देश की अवस्था तथा शास्त्र की आज्ञा को ध्यान में रखकर अलग अलग जो अठारह प्रकार के मुकदमे हैं, उनको विचारे ।

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥
(४)

वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥
(५)

सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥ (६)
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह (७)(७)

अठारह प्रकार के मुक़द्में (अभियोग) यह हैं :—

(१) ऋणादान—ऋण लेने सम्बन्धी,
(२) निक्षेप—धरोहर रखना,
(३) अस्वामिविक्रय—जिस माल पर अपना अधिकार नहीं उसे बेच देना,
(४) संभूय समुत्थान—साझे का व्यापार
(५) दत्तस्य अनपकर्म—दान देकर लौटा लेना
(६) वेतन अदानम्—तनख़्वाह न देना

---

६ दण्डवाचके

७ आह्वय एव च; आह्वयमेव च; आह्वानमेव च

(७) संवित् व्यतिक्रम—इक़रारनामे के विरुद्ध चलना
(८) क्रय-विक्रय अनुशय—खरीदने और बेचने के झगड़े
(९) स्वामि पालयोः विवादः—पशु के स्वामी और पशु के पालनेवाले का झगड़ा
(१०) सीमा विवाद—खेत, मकान आदि की सीमा कहां तक है, इसका झगड़ा
(११) दण्ड पारुष्य—मारपीट
(१२) वाचिक पारुष्य—गाली गलौज
(१३) स्तेयम्—चोरी
(१४) साहस – लूट
(१५) स्त्री संग्रहण—पराई स्त्री को ले लेना
(१६) स्त्रीपुं-धर्म—पति-पत्नी के झगड़े
(१७) विभाग—बँटवारा
(१८) द्यूत—जुआ सम्बन्धी झगड़े।

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

(८)

ऐसे अवसरों पर झगड़ा करने वाले मनुष्यों के काम का सनातन धर्म का आश्रय लेकर निर्णय करे।

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥

(९)

---

८ वदतां नृणाम् (गो)

यदि राजा स्वयं काम को न देख सके तो इस काम को देखने के लिये विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करे।

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥१०॥
(१०)

वह तीन सभ्यों (मैम्बरों) के साथ सभा में जाकर और सभापति आसन ग्रहण करके इस के कामों को देखे।

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥११॥
(११)

जिस देश में वेद जानने वाले तीन विद्वान मैम्बर होते हैं और जहां राजा की ओर से एक ब्राह्मण नियुक्त होता है उसी को ब्रह्म-सभा कहते हैं।

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्य चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥१२
(१२)

जहां धर्म अधर्म से बींधा जाता है और (अस्य शल्यं न कृन्तन्ति) मैम्बर लोग इस कांटे को निकालते नहीं, वहां के मैम्बर भी अधर्म से विंध जाते हैं।

---

१० सभामेवोपविश्याग्र्याम् (गो)

११ च प्रकृतो; चाधिकृतो

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषी ॥ १३ ॥

(१३)

या तो सभा में जावे नहीं । जावे तो ठीक बात कहे । चुप रह कर या अनुचित बोल कर मनुष्य (किल्बिषी) दूषित हो जाता है ।

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

(१४)

जहां मैम्बरों के देखते देखते धर्म अधर्म से और सत्य झूठ से मारा जाता है वहां के मैम्बरों को मरा हुआ समझना चाहिये ।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥१५॥

(१५)

मारा हुआ धर्म मार डालता है । रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है । इस लिये धर्म को न मारना चाहिये । कहीं ऐसा न हो कि मारा हुआ धर्म हम को मार दे ।

---

१३ सभा वा न प्रवेष्टव्या
१४ तु; च । प्रेक्ष्यमाणानां, प्रेक्षमाणानां ।
१५ मा वो (न)

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

(१६)

धर्म भगवान का नाम 'वृष' (सुख बरसाने वाला) है। उस 'वृष' को जो 'अलं' (समाप्त) करे उस का नाम वृषल है इस लिये धर्म का लोप करके वृषल नहीं बनाना चाहिये ।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥

(१७)

धर्म ही एक ऐसा सुहृद् (मित्र) है जो मृत्यु में भी साथ जाता है, और सब तो शरीर के साथ हीं नष्ट हो जाता है ।

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

(१८)

जो अधर्म किया जाता है, उसका चौथाई पाप करनेवाले को लगता है, चौथाई देखनेवाले को, चौथाई सब सभासदों को (कौंसिल के मेम्बरों को), चौथाई राजा को ।

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥

(१९)

(निन्दार्हः यत्र निन्द्यते) जहां बुराई करनेवाले को दण्ड मिलता है, वहां राजा निर्दोष (अनेनाः) हो जाता है। सभासद

१६ त्वलम् (मे, गो); त्यम् (जै्न)

पाप से छूट जाते हैं (एनः गच्छति कर्त्तारम्) और पूरा पाप पाप करने वाले को ही लगता है।

अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥२०॥
(२४)

अर्थ और अनर्थ दोनों को जानकर तथा केवल धर्म और अधर्म को जानकर वर्ण के क्रम से सब काम वालों के कामों की देख-भाल करे।

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २१ ॥
(२५)

स्वर (आवाज), वर्ण (रंग), इंगित (इशारा), आकार (चेहरे की बनावट आदि), चक्षु (आंख), चेष्टा (कर्म) आदि बाहिरी चिह्नों से मनुष्यों के मन के भीतर की बात जान ले।

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २२ ॥
(२६)

आकार, इशारा, गति (चाल ढाल), चेष्टा, बोलचाल, आंख और मुख के विकार से मन के भीतर की बात जानी जा सकती है।

---

२५ स्वर०; मुख० (गो)
२६ ज्ञायते (गो); गृह्यते

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २३ ॥

(२७)

राजा को चाहिये कि बालकों की जायदाद की उस समय तक रक्षा करे जब तक वह समावृत अर्थात् बालिग़ न हो जायँ और जबतक उनके लड़कपन न छूट जायँ ।

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २४ ॥

(२८)

निस्सन्तान बांझ, निष्कुल (जिनके कुल में कोई रहा न हो), पतिव्रता, विधवा तथा रोगी स्त्रियों के माल की भी राजा को रक्षा करनी चाहिये ।

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥२५॥

(२९)

उनके जीते जी यदि उनके रिश्तेदार उनका धन ले लें, तो धार्मिक राजा को चाहिये कि उनको चोर का दण्ड दे ।

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥२६॥

(३०)

---

२७ यावच्चातीत (मे, गो)

२८ वन्ध्यापुत्रासु (गो)

२९ हरेयुर्बान्धवा धनम्

(प्रणष्ट स्वामिकम् रिक्थम्) जिस जायदाद का स्वामी नष्ट हो गया हो अर्थात् "लावारिस" उस को राजा तीन वर्ष के लिये अपने आधीन करले। (त्रि + अब्दात् + अर्वाक्) तीन वर्ष के भीतर भीतर स्वामी आजाय तो वह वापिस लेले। तीन वर्ष बाद वह जायदाद राजा की हो जाय।

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि।
संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥२७॥

(३१)

जो कहे कि मेरी जायदाद है उस की ठीक ठीक जांच करे कि कैसी है, कितनी है इत्यादि। यदि वह ठीक है तो उसे देदीजाय।

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ २८ ॥

(३२)

खोई हुई चीज़ के स्थान, समय, वर्ण, रूप, प्रमाण आदि का न बताने वाला उतना दण्ड पावे जितने का वह दावा करता है।

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः।
दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २९ ॥

(३३)

(प्र + नष्ट + अधिगतात्) किसी का खोया हुआ धन यदि मिले, तो राजा उसमें से धर्म का विचार करता हुआ छठा, दसवां या बारहवां भाग ले ले।

---

३१ नियोज्यो। संवेद्य

३२ अवेदयन्प्रणष्टस्य (न)। देशकालौ (रा)। वर्णरूप प्रमाणं (गो)

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ।
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान्राजेभेन घातयेत् ॥३०॥
(३४)

खोई हुई वस्तु (lost property) को सँभालकर रक्खे । जो इसको चोर ले जायं तो उनको राजा हाथी से मरवा डाले ।

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३१ ॥
(३५)

जो मनुष्य सच-सच कह दे कि यह धन मेरा है, राजा उसका छठा या बारहवां भाग ले ले ।

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥३२॥
(३६)

यदि भूठ बोले तो उसके धन का आठवां भाग जुर्माना करें या जितने का दावा किया है उसका कुछ भाग ।

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ ।
तस्माद्द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३३ ॥
(३८)

(क्षितौ निहितम् पुराणम् निधिम्) जमीन में गड़ी हुई पुरानी सम्पत्ति को यदि राजा देखे, उसमें से आधी द्विजों को दान कर दे और आधी अपने कोष में रख ले ।

---

३५ ममेदमिति । मानवः के स्थान में हेतुना (न)

३६ संख्यया (मे, न)

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३४ ॥

(३९)

भूमि में गड़े हुये पुराने कोषों तथा धातुओं के आधे का राजा को अधिकार है, क्योंकि राजा भूमि का अधिपति है।

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥३५॥

(४०)

जिस धन को चोर चुरा ले गये हों और वह मिल जावे, तो राजा उसको सब वर्णों को (अर्थात् जिसका हो उसको) दे देवे। जो राजा इस प्रकार के धन को स्वयम् भोगता है, वह चोरी के दोष का भागी होता है।

जातिजानपदान्धर्माञ्छ्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३६ ॥

(४१)

धर्म का जाननेवाला मनुष्य जाति-धर्म, नगर-धर्म, श्रेणी-धर्म, कुल-धर्म को देखकर अपना धर्म पालन करे। तात्पर्य यह है कि

---

३८ कोपे विनिक्षिपेत् (न)

३९ निधानां हि

४० चौराद्धृतम्

४१ जातिधर्माञ्जानपदान् (गो); शाश्वतान् (न)। परिपालयेत् (रा); प्रतिपालयेत्

भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न मनुष्य-समूहों की भिन्न-भिन्न मर्यादायें हैं, उनको देख भाल कर कार्य करना चाहिये।

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः॥३७॥
(४२)

जो मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं वह दूर रहते हुये भी लोगों के प्रिय हो जाते हैं। क्योंकि वे अपने अपने कर्तव्य में स्थित हैं।

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ ३८ ॥ (४३)

न राजा और न राजा के कर्मचारी स्वयं 'कार्यम्' (Case) अर्थात् ऋण आदि का मुक़द्मा चलावें, और न दूसरे को मिलने वाले धन में से कुछ भी लें।

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ३९ ॥
(४४)

जैसे (मृगयुः) शिकारी हिरन के (असृक्-पातैः) गिरे हुये ख़ून को देख देखकर उसके पैरों का पता चलाता है, इसी प्रकार राजा अनुमान करके धर्म की तलाश करे।

---

४२ लोकेऽस्मिन्स्त्रे स्त्रे ध्र में व्यवस्थिताः (न)

४३ नान्यस्य कस्यचित् (गो) । ग्रसेतार्थं (, गो); ग्रसेदर्थम् ।

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४० ॥

(४५)

(व्यवहार विधौ स्थितः) जो राजा मुकदमे का फ़ैसला करने में संलग्न है, उसको चाहिये कि इन बातों पर पूर्ण रीति से विचार करे :—

(१) सत्य—अर्थात् कोई छल तो नहीं है ?
(२) अर्थ—अभियोग का उद्देश्य क्या है ?
(३) आत्मानम्—स्वयं अपने पद का विचार करे कि मैं राजा हूँ। मुझे न्याय करना चाहिये ।
(४) देश
(५) रूप
(६) काल

सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४१ ॥

(४६)

(सद्भिः धार्मिकैः द्विजातिभिः आचरितम् यत् स्यात्) जो धार्मिकद्विज सत्पुरुषों के आचार के अनकूल हो, और देश कुल तथा जाति की मर्यादा के विरुद्ध न हो उस को व्यवहार में लावे ।

---

४५ साक्षिणम् (मे, गो); साक्षिणः (न) । कालं च रूपं च; रूपं च कालं च ।

४६ अनुरूपं; अविरुद्धं ।

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥४२॥ (४७)

अधमर्ण = क़र्ज़दार जो उधार ले। उत्तमर्ण = महाजन जो उधार दे। क़र्ज़ के रुपये के लिये यदि महाजन नालिश करे तो उस धनिक का निश्चित धन क़र्ज़दार से दिलवा दे।

यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।
तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥४३॥ (४८)

जिन-जिन उपायों से महाजन का रूपया वसूल हो सके उन उन उपायों को काम में लावें।

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ४४ ॥ (५१)

(अर्थे अपव्ययमानम् तु) क़र्ज़े से इनकार करने वाले से (करणेन विभावितम्) भिन्न भिन्न प्रमाणों से निर्धारित कर के (धनिकस्य अर्थं दापयेत्) महाजन का रुपया दिलवा दे। (दण्डं लेशम् च शक्तितः) और उस की शक्ति के अनुसार थोड़ा दण्ड भी दे।

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्तादिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ४५ ॥ (५२)

---

४७ नोदितः (गो)।

५१ अर्थं विवदमानं तु (गो); अर्थे न धारयामीति। कारणेन; करणेन

५२ देशं; दृश्यं। अभियुक्तो दिशेद्दिशं; करणं वा समुद्दिशेत्; करणं चान्यदुद्दिशेत्; कारणं चान्यदुद्दिशेत्।

(संसदि) कचहरी में (देहि-इति उक्तस्य अधमर्णस्य आह्नवे) देदो ऐसा कहने पर यदि कर्जदार इनकार करे और कहे कि मैं नहीं जानता तो (अभियोक्त) मुद्दई (देश्यम् करणम् आदिशेत्) प्रमाणपत्र पेश करे (वा) या (अन्यद् उद्दिशेत्) कुछ और उचित प्रमाण दे। (करण = तमस्सुक Instruments)

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः।
यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ४६ ॥
(५३)

अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति।
सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ४७ ॥
(५४)

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥४८॥
(५५)

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत्।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ४९ ॥
(५६)

इतनी अवस्थाओं में मनुष्य मुकद्दमा हार जाता है :—

(१) यः अदेश्यं दिशति—जो झूठे कागज पेश करता है।

---

५३ अदृशं; अदेश्यं। ०पह्नवीति च।

५४ यस्त्वपधावति; यस्त्वधावति।

५५ देशे संभाषिते न च (गो)। नेच्छेद्यश्चापि (गो)।

(२) यः निर्दिश्य अपह्नुते—जो कागज़ पेश करके इनकार करता है।
(३) यः अधर-उत्तरान् अर्थान्विगीतान् न अवबुध्यते—जो अगली पछली बात को नहीं समझता।
(४) बात को उलट दे।
(५) हाकिम के पूछने पर कुछ का कुछ कह जाय।
(६) गवाहों से एकान्त में बात करता है।
(७) जो हाकिम के प्रश्नों पर अप्रसन्न होता है।
(८) पूछने पर बोलता नहीं।
(९) कहे तो अनिश्चित रूप में कहे।
(१०) पूर्वापर न समझे।

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५० ॥

(५७)

मेरे पास गवाह हैं, ऐसा कहने पर हाकिम कहे 'पेश करो" और न पेश करे तो हाकिम को चाहिये कि इन कारणों से उसे हरा दे।

अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्बध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५१ ॥

(५८)

(अभियोक्ता) मुद्दई यदि न बोले तो दण्ड या जुर्माने के योग्य

---

५७ ज्ञातारः सन्ति; साक्षिणः सन्ति; सन्ति ज्ञातार इत्युक्त्वा; ज्ञातारः सन्ति चेत्युक्त्वा। धर्मस्थो हेतुनानेन (न);। तमिति; तमपि।

है और यदि तीन पक्ष के भीतर मुद्दाइलै जवाबदेही न करे तो हार जाय।

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत्।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम्॥५२॥
(५९)

जो उचित धन से कम दे या जो उचित धन से अधिक का दावा करे उस का दूना दण्ड उन दोनों को मिलना चाहिये क्योंकि वे दोनों पापी हैं।

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा।
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ॥५३॥
(६०)

राजा या ब्राह्मण के सामने ऋण का इनकार करने पर महाजन को चाहिये कि कम से कम सात गवाह पेश करे।

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः।
तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः॥५४॥
(६१)

महाजन लोग मुकद्दमों में कैसे गवाह पेश करें और उन को किस प्रकार सच-सच गवाही देना चाहिये इस का वर्णन अब करेंगे।

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि॥५५॥
(६२)

---

५९ यावन्न ब्रवीतार्थम्। धनम्।

गृहस्थी हों, सन्तान वाले हों, मौल अर्थात् उसी देश के हों, चाहे क्षत्रिय हों, चाहे वैश्य हों, चाहे शूद्र, ये मुद्दई के कहने पर गवाही देने के योग्य हैं। हर कोई नहीं। (अनापदि) यह व्याख्या साधारण है। आपत्काल में अन्य भी हो सकते हैं।

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ५६ ॥
(६३)

सब वर्णों में जो कार्य में चतुर हों उन को साक्षी करना चाहिये। यह धर्म जानने वाले हों और लोभी न हों। इन से विपरीत को त्याग दे।

नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥
॥ ५७ ॥ (६४)

इन का मुकद्दमें से धन का संबन्ध न हो, झूठे न हों, मित्र न हों, शत्रु न हों, केवल दोष निकालने वाले न हों, न रोगी हों, न अपराधी (सज़ा पाये) हों।

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः ॥५८॥
(६५)

न राजा को गवाह बनावे, न कारीगर को, न नट को, न श्रोत्रिय को, न ब्रह्मचारी को, न सन्यासी को।

---

६३ साध्यपु साक्षिणः। विपरीते।

६५ गृहस्थो न च सङ्ग विवर्जितः (गो)

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥५९॥
(६६)

न ग़ुलाम या दास को, न दस्यु को, न दुष्ट कर्म करने वाले को, न बुड्ढे को, न बच्चों को, न निकृष्ट को, न उसको जिस की इन्द्रियां ठीक नहीं हैं ।

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।
न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ।६०।
(६७)

न दुखी को, न नशे वाले को, न पागल को, न भूखे प्यासे को, न थके को, न कामी को, न क्रोधी को, न चोर को ।

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥६१॥
(६८)

स्त्रियों की साक्षी स्त्रियां दें । द्विजों की समान पद वाले द्विज, शूद्रों की सदाचारी शूद्र, चाण्डालों की चाण्डाल ।

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ।। ६२ ॥
(६९)

---

६९ शरीरस्यापि चात्यये; शरीरस्यैव चात्यये ।

७० भृतकेन च

घर के भीतर का अभियोग हो, वन का, या शरीर की हानि (रक्तपात) आदि का तो जो कोई इस का अनुभव रखता हो उसी को साक्षी कर ले।

स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।
शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ६३ ॥
(७०)

न होने पर स्त्री, बालक, बूढ़ा, शिष्य , रिश्तेदार, दास, चाकर सभी की गवाही हो सकती है ।

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा ।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ६४ ॥
(७१)

बाल, वृद्ध, दुखी, जो झूंठ बोले तो समझना चाहिये कि इन का चित्त स्थिर नहीं है ।

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥६५॥
(७२)

(साहस) डाका, चोरी, पर-स्त्री-गमन, गाली, मारपीट में ऐसे गवाहों की गवाही न ले ।

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ६६ ॥
(७३)

---

७१ तु; च
७२ साहसेषु; साहसेषु च

(साक्षि द्वैधे) जब गवाहों में विरोध हो तो राजा को चाहिये बहुपक्ष को माने, संख्या में दोनों पक्ष बराबर हों, तो गुणी लोगों की, यदि गुणियों में विरोध हो तो धर्मात्मा ब्राह्मण की।

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥६७॥

(७४)

गवाही आंख से देखे की भी होती है और कान से सुने की भी। जो साक्षी सत्य बोलता है, वह धर्म और अर्थ से हारता नहीं।

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ६८ ॥

(७५)

आर्य सभा में देखे और सुने के विपरीत साक्षी देनेवाला घोर नरक को जाता है और मर कर सद्गति को नहीं पाता।

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किंचन।
दृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ६९ ॥

(७६)

गवाही में तलब न भी किया गया हो और देखा सुना हो तो जैसा देखा-सुना हो, वैसा पूछने पर कह दे।

स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७०॥ (७८)

---

७५ ०मवैति (मेवैति); ०मभ्येति

७६ वीक्षेत

गवाह जो स्वाभाविक रीति से व्यावहारिक बात कहे वह ठीक है। जो इससे विपरीत कहे, वह (धर्मार्थम्) मुक़द्दमे के विषय में अपार्थकम्) निरर्थक है।

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनानेन सान्त्वयन् ॥७१॥
(७९)

(सभान्तः) सभा में (प्राप्तान्) आये हुये (साक्षिणः) गवाहियों से (अर्थि + प्रत्यर्थि सन्निधौ) मुद्दई, मुद्दाइलै के सामने (प्राड् विवाकः) वकील (अनेन विधिना) इस प्रकार (सान्त्वयन्) शान्ति देकर (अनुयुञ्जीत) पूछे :—

यत् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः ।
तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥७२॥
(८०)

(अस्मिन् कार्ये) इस मुक़द्दमे में (द्वयोः अनयोः) इन दोनों का (मिथः) परस्पर (चेष्टितम्) व्यवहार (यद्वेत्थ) जो कुछ तुम जानते हो (तत् सर्वम्) उस सब को (सत्येन) सच-सच (ब्रूत) कह दो। (अत्र हि) इस मुक़द्दमे में (युष्माकम्) तुम्हारी (साक्षिता) गवाही है।

---

७९ साक्षिणः सर्वान् (भे)
८० विंत्थ । यत्रसाक्षिता ।

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ७३ ॥

(८१)

(साक्षी) गवाह (साक्ष्ये) गवाही में (सत्यम् ब्रुवन्) सच बोलता हुआ (पुष्कलान् लोकान् आप्नोति) उत्तम लोकों को प्राप्त होता है (इह च) और इस लोक में (उत्तमां कीर्तिम्) बड़ी कीर्ति को । (एषा वाक्) यह वाणी (ब्रह्मपूजिता) ईश्वर से आदर की हुई है अर्थात् ईश्वर सत्यवक्ता से प्रसन्न होता है ।

साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ७४ ॥

(८२)

(साक्ष्ये) गवाही में (अनृतम्) झूठ (वदन्) बोलनेवाला (भृशम्) बहुत (वारुणैः पाशैः) वरुण के पाश अर्थात् ईश्वर के दण्डरूपी नियमों से (बध्यते) बांधा जाता है । (विवशः) विवश होकर (आशतम् आजातीः) सौ जन्मों तक (तस्मात्) इसलिये (ऋतम् साक्ष्यम्) सच्ची गवाही (वदेत्) देनी चाहिये । [अर्थात् झूठी गवाही देनेवाले को ईश्वर की ओर से किसी न किसी जन्म में अवश्य दण्ड मिलता है । उसका कभी छुटकारा हो ही नहीं सकता । [सौ जन्मों का अर्थ है. दीर्घकाल तक]

---

८१ लोकान्प्राप्नोत्यनिन्दितान्; लोकान्प्राप्नोत्यनुत्तमान्; लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।

८२ साक्ष्ये वदेदृतम्; साक्ष्यं वदेदृतम् ।

८३ सर्वधर्मेषु साक्षिभिः ।

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥७५॥

(८३)

सत्य से साक्षी पवित्र हो जाता है। सत्य से धर्म बढ़ता है। इसलिये सब वर्णों में गवाहों को सच ही बोलना चाहिये।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥७६॥

(८४)

आत्मा का साक्षी आत्मा ही है, और आत्मा की गति भी आत्मा ही है; इसलिये मनुष्यों के सबसे अच्छे गवाह अर्थात् अपने आत्मा का (मा अवमंस्थाः) तिरस्कार मत करो।

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ७७ ॥

(८५)

पापी समझते हैं कि कोई हमको नहीं देखता। उसको देव देखते हैं और अपना ही अन्तरात्मा देखता है।

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥७८॥

(८६)

यह सब मनुष्यों के वृत्त को जानते हैं :— द्यौः, भूमि, बल, हृदय, चन्द्र, सूर्य, यम, वायु, रात, संध्या और धर्म।

---

८५ स्वश्चैवा०; स्वयंचा०; स्वस्यैवा०;

देवब्राह्मणसांनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥

॥ ७९ ॥ (८७)

देव और ब्राह्मण के (सांनिध्ये) सामने (द्विजान् शुचीन्) पवित्र द्विजों से (पूर्वाह्णे) प्रातः काल (उदङ् मुखान् प्राङ् मुखान् वा) उत्तर को मुख कर के या पूर्व को मुख कर के (शुचिः) पवित्र हाकिम (ऋतं साक्ष्यम् पृच्छेत्) सच्ची गवाही पूछे ।

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८० ॥

(८८)

ब्राह्मण गवाह हो तो उस से इतना ही कहना काफ़ी है 'कहो' यदि क्षत्रिय है तो कहना चाहिये 'सच कहो' । वैश्य हो तो कहना चाहिये 'गाय, बीज, और सोना चुराने का पाप लगेगा यदि झूठ बोलोगे तो' । यदि शूद्र हो तो उस से कहना चाहिये कि 'सब पाप लगेंगे अगर झूठ बोला तो ।'

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८१ ॥

(८९)

(ये लोकाः) जो लोग ब्राह्मण के घातक को प्राप्त होते हैं, जो

---

८८ शूद्रमेभिस्तु पातकैः; शूद्रमेतैस्तु पातकैः; शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ।
८९ ब्रह्मघ्नानां (गो); घातिनाम् ।

स्त्री और बालक के घातक को, जो कृतघ्न और मित्र-द्रोही को, वे सब झूठ बोलने वाले को।

जन्मप्रभृति यत्किंचित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ८२॥
(९०)

(भद्र) हे भले आदमी! जो कुछ पुण्य तुम ने जन्म से आज तक किया वह सब (शुनः गच्छेत्) कुत्ते के सामने जावे अर्थात् नष्ट हो जाय, यदि तुम झूठ बोलो।

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥८३॥
(९१)

(कल्याण) हे भले आदमी! (यत् त्वम्) जो तू (आत्मानम्) अपने को (मन्यसे) ऐसा मानता है कि (एकः अहम् अस्मि) मैं अकेला हूं तो यह ठीक नहीं क्योंकि (ते हृदि) तेरे हृदय में (नित्यम् स्थितः) सदा रहनेवाला (एषः) यह (पुण्यपापेक्षिता) पुण्य पाप को देखनेवाला (मुनिः) ईश्वर विद्यमान है।

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ८४ ॥
(११७)

---

९० पुण्यं भद्रं च यत्कृतम् (न); पुण्यं भद्रं त्वया कृतम् (रा); पुण्यं भद्र त्वया कृतम् (गो)।

९१ यस्त्वं (मे); सत्त्वं (न)।

११७ यस्मिन्यस्मिन्कृतेकार्ये (न)। कूटसाक्ष्यं (गो;न)। कृतं वा० (रा)

जिस जिस विवाद में 'कौटसाक्ष्य' अर्थात् झूठी साक्षी दी गई हो, उस समय मुक़द्दमे को फिर से करे। और किये हुये को वे किया हुआ समझे।

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥८५॥

(११८)

लोभ से, मोह से, भय से, मित्रता से, काम से, क्रोध से, अज्ञान से, बालकपन से दी हुई गवाही को रद्द समझना चाहिये।

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ८६ ॥

(११९)

इनमें से जिस जिस कारण से गवाही झूठी दी जाय, उसमें से किस के लिये कितना दण्ड होना चाहिये, यह क्रमपूर्वक आगे कहेंगे।

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।
भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥८७॥

(१२०)

लोभ से गवाही देने पर 'सहस्र पण' दण्ड हो, मोह से 'एक साहस', भय से 'दो मध्यम साहस', मित्रता से 'चार साहस'। (यह उस समय के सिक्के हैं।)

---

११९ तेषां दण्डविशेषांश्च (मे)।

१२० दण्डस्तु; दण्डस्स (न); दण्ड्यश्च (रा)

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद्द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ ८८॥
(१२१)

काम से 'दस साहस', क्रोध से 'तीन साहस', अज्ञान से 'दो सौ पण', बालकपन से ' सौ पण' ।

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥८६॥
(१२६)

(अनुबन्धं देश कालौ च तत्त्वतः परिज्ञाय) अपराध के प्रकार, देश, काल आदि को ठीक-ठीक समझ कर (सार + अपराधौ च आलोक्य) सामर्थ्य और अपराध को जान कर (दण्डयेषु दण्डम् पातयेत्) अपराधी को दण्ड दे ।

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ६० ॥
(१२७)

(अधर्मदण्डनम्) अधर्म से दण्ड देना (लोके) इस जीवन में(यशोघ्नम् कीर्त्तिनाशनम्) यश और कीर्ति नष्ट करने वाला होता है । (परत्र अपि) और परलोक में भी (अस्वर्ग्यम्) दुःखदायी है । (तस्मात्) इसलिये (तत्) इस को (परिवर्जयेत) न करे ।

---

१२६ अपराधं परिज्ञाय (न) । सारासारौ तथालोक्य (न) । विज्ञाय दण्डं ।

१२७ अदण्ड्यदण्डनं लोके (स) । अस्वर्ग्यं स्यात् (मे) ।

अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ ९१ ॥
(१२८)

जो राजा निरपराधी को दण्ड देता है और अपराधी को नहीं देता, वह बड़े अपयश को पाता है और नरकगामी होता है।

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद् धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥९२॥ (१२९)

पहले वाग्-दण्ड दे (बुरा भला कहे), फिर धिग्दण्ड दे अर्थात् धिक्कार करे, फिर जुर्माना करे, फिर शरीर-दण्ड (वध-दण्ड में सभी प्रकार के शरीर-दण्ड आ जाते हैं)।

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ ९३ ॥
(१३०)

यदि शरीर-दण्ड से अपराध का पूरा दण्ड न हो, तो चारों दण्डों को देना चाहिये।

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ९४ ॥
(१३१)

---

१२९ च (गो); तु।
१३० तदैव (गो) ; तदैषु।

लोक में व्यवहार के लिये तांबे, चांदी, सोने के सिक्कों की जो संज्ञा (भुवि प्रथिता) लोक में जारी हैं, उनको विस्तार से कहता हूँ।

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ ९५ ॥
(१३२)

(भानौ) सूर्य किरण के (जालान्तरगतौ) छिद्र में जाने पर (यत् रजः) जो कण (सूक्ष्मम्) बहुत सूक्ष्म (दृष्यते) दिखाई पड़ते हैं (त्रसरेणुं प्रचक्षते) उसको 'त्रसरेणु' कहते हैं (प्रथमम् तत् प्रमाणम्) यह पहली माप है।

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ ९६ ॥
(१३३)

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेव कृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ ९७ ॥
(१३४)

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ ९८ ॥
(१३५)

---

१३३ त्रसरेणवष्टकं ज्ञेयो (न)।

१३४ त्रियवं त्वेक कृष्णलम्; पंच कृष्णलिको (मे,गो); पंच कृष्णलको (रा); पंच कृष्णलो (न)।

१३५ रूप्यमाषकः; रौप्यमाषकः ।

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ ९९ ॥
(१३६)

आठ त्रसरेणुओं की एक लिक्षा, तीन लिक्षाओं का एक "राजसर्षप', तीन राजसर्षप' का एक 'गौर सर्षप', छः 'गौरसर्षप' का एक 'मध्यम यव'। तीन यवों का एक 'कृष्णल'। पांच कृष्णल का एक 'माष'। सोलह माष का एक 'सुवर्ण'। चार सुवर्ण का एक 'पल'। दस पल का एक 'धरण'। दो कृष्णलों का एक 'रौप्य माष' (चांदी का माष)। सोलह 'रौप्य माष' का एक 'धरण' या चांदी का 'पुराण'। तांबे के कर्ष भर के पण को "कार्षापण' (पैसा) कहते हैं।

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।
चतुः सौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥१००॥
(१३७)

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥१०१ ॥
(१३८)

दस धरण का चांदी का एक शतमान, चार सुवर्ण का एक निष्क। दो सौ पचास पणों का 'साहस'। पांच सौ पण का मध्यम साहस। एक हजार पण का 'उत्तम साहस'।

---

१३७ चतुःसुवर्णको (गो,न); चतुः सुवर्णिको (मे), चतुः सौबर्णिको (रा)।

१३८ त्वेकमुत्तमम् ।

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १०२ ॥
(१४२)

ऋण पर वर्णों के क्रम से दो, तीन, चार और पांच प्रति सैकड़ा मासिक व्याज़ ले सकता है।

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १०३
(१४३)

'आधि' अर्थात् धरोवर यदि उपकार वाली हो, तो उस पर (कौसीदीं वृद्धिम्) व्याज न ले। (कालसंरोधात्) बहुत काल व्यतीत होने पर भी (आधेः) धरोवर का (निसर्ग) छूटना नहीं है (न विक्रयः) और न बेचना। अर्थात् भूमि आदि ऐसी चीज़ें जिनसे नित्य लाभ पहुंचता है, गिरवी रक्खी ज़ायं तो उन पर व्याज नहीं लेना चाहिये। न वे हज़्म की जा सकती हैं, न बेची जा सकती हैं।

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥१०४॥
(१४४)

(बलाद्) ज़बरदस्ती (आधिः न भोक्तव्यः) गिरवी को काम में न लाना चाहिये। (भुञ्जानः वृद्धिम् उत्सृजेत्) यदि काम में

---

१४२ मतम्।

१४३ न चैवाधो।

१४४ तोषयेदेनम् (गो), नाशयेच्चैनम्।

लावे तो ब्याज न ले। (मूल्येन च एवं तोषयेत्) मूल्य देकर उसको सन्तुष्ट कर दे। (अन्यथा आधिस्तेनः भवेत्) अन्यथा गिरवी चोर समझा जावे।

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १०५॥
(१४५)

(आधिः) गिरवी (उपनिधिः च) और अमानत (उभौ) दोनों (कालात्ययम्) मियाद अर्थात् समय की सीमा के (न अर्हतः)योग्य नहीं है। (तौ) यह दोनों (दीर्घकालम् अवस्थितौ) बहुत दिनों रहने पर भी (अवहार्यौ भवेताम्) लौटा देनी चाहिये। अर्थात् यह नहीं कह सकते कि इतने दिनों के पश्चात् गिरवी या अमानत ज़ब्त करली जायगी।

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १०६ ॥
(१४६)

(धेनुः) गाय, (उष्ट्रः) ऊंट, (अश्वः) घोड़ा, (वहन् दम्यः) लादने का बैल ये जो प्रीतिपूर्वक कोई काम में लावे तो वे (कदाचन न नश्यन्ति) स्वामित्व से नष्ट नहीं होते अर्थात् अपने पूर्व स्वामी के ही रहते हैं। दूसरे के नहीं हो जाते।

यत्किंचिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १०७॥
(१४७)

(यत् किंचित्) जिस किसी चीज़ को (धनी) स्वामी (दश वर्षाणि) दश वर्ष तक (सन्निधौ) सामने (परैः भुज्यमानुम्) दूसरे से भोगी जाती (प्रेक्षते) देखता हो (तूष्णीम्) चुपचाप अर्थात् कुछ कहे न तो (न सतत् लब्धुम् अर्हति) वह फिर पाने के योग्य नहीं है। अर्थात् ऐसी दशा में उस का अधिकार जाता रहता है।

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति ॥१०८॥
(१४८)

(अजडः अपोगण्डः चेत्) यदि किसी माल का स्वामी होशवाला और बालिग़ हो और उसका माल (अस्य विषये भुज्यते) उसके देखते हुये कोई दूसरा भोगे और वह कुछ न कहे, तो (तद् व्यवहारेण भग्नम्) वह माल उसका नहीं रहा। (भोक्ता तद् द्रव्यम् अर्हति) भोगनेवाला ही उस माल का अधिकारी है।

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥१०९॥
(१४९)

गिरवी, सीमा, बालधन, उपनिधि या अमानत, स्त्री-धन,

---

१४८ तद्धनम्; तद्द्रव्यम्।

१४९ निक्षेपोपनिधि०; निक्षेपोपनिधी०; निक्षेपोपनिधिः। श्रोत्रियद्रव्यं; श्रोत्रियस्वं च; ब्राह्मणस्वं च। नोपभोगेन जीर्यते, न भोगेन प्रणश्यति।

राजधन, श्रोत्रिय-धन यह भोगने मात्र से अपने नहीं हो जाते, इन पर इनके स्वामी का ही अधिकार रहता है।

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम्॥११०॥
(१५१)

(सकृत् आहृता) एक बार लेने पर (कुसीदवृद्धिः) ब्याज (द्वैगुण्यम् न अत्येति) मूल के दूने से कभी अधिक नहीं होनी चाहिये। (धान्ये) अन्न, (सदे) वृत्तफल, (लवे) ऊन, (वाह्ये) बैल आदि (पंचतां न अतिक्रामति) पंच गुने से अधिक नहीं होते।

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति।
कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १११ ॥
(१५२)

(कृतानुसारान्) ठहरे हुये से (अधिक व्यतिरिक्ता) अधिक व्याज (न सिद्ध्यति) ठीक नहीं है। (कुसीदपथम् आहुःतम्) इसी को लेन देन कहते हैं। (पंचकम् शतम् अर्हति) यह पांच रूपये सैकड़े तक हो सकता है।

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत्।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या॥
(१५३)

यह छः प्रकार की व्याज न लेनी चाहिये :—

---

१५१ सदे; शदे
१५३ विनिर्हरेत्। न वा; च या।

(१) अति सांवत्सरी
(२) अदृष्टा
(३) चक्रवृद्धि
(४) कालवृद्धि
(५) कारिता
(६) कायिका

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥११३॥
(१५४)

जो ऋण चुकाने में असमर्थ है और 'क्रिया' अर्थात् ऋण को फिर जारी रखना चाहता है वह (निर्जितां वृद्धिम्) उस समय तक के ब्याज को देकर (करणम्) तमस्सुक बदला लेवे ।

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ।
यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ ११४॥
(१५५)

यदि सूद न दे सके तो मूल में जोड़ ले । जितनी ब्याज निकले उतना देना चाहिये ।

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः ।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् । ११५॥
(१५६)

---

१५४ कार्यं; कार्यं

चक्रवृद्धि को लेने वाला देश और काल की व्यवस्था कर के ले। यदि देश और काल का उल्लङ्घन करे तो उस को नहीं पा सकता।

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥११६
(१५७)

समुद्र यात्रा में कुशल और देश तथा काल के जानने वाले जिस व्याज की व्यवस्था कर दें वही ठीक समझना चाहिये।

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः।
अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ ११७ ॥
(१५८)

जो पुरुष किसी दूसरे पुरुष की उपस्थिति (हाजिरी) का 'प्रतिभू' हो अर्थात् जमानत ले और उस को उपस्थित न कर सके तो (तस्य स्वधनात् ऋणम् प्रयच्छेत्) उसी के धन में से ऋण ले लेना चाहिये।

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ ११८ ॥
(१५९)

निम्न अवस्थाओं में पिता का ऋण चुकाना पुत्र का कर्तव्य नहीं है:—

(१) प्रातिभाव्यम्—जमानत का

---

१५८ यतेत; प्रयच्छेत

१५९ ०वाशिष्टं च

(२) वृथा दानम्—अनुचितदान का
(३) आक्षिकम्—जुए का
(४) सौरिकं—सुरा अर्थात् शराब के लिये लिया हुआ
(५) दण्डशुल्कावशेषम्—जुर्माने का,

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ ११६ ॥
(१६०)

यहां जो कहा है कि ज़मानत का रुपया देना पुत्र का कर्तव्य नहीं है वह केवल 'दर्शनप्रातिभाव्य' के लिये कहा है 'दानप्रातिभाव्य' के लिये नहीं। 'दर्शनप्रातिभाव्य' वह है जिस में किसी ने केवल किसी के हाज़िर करने की ज़मानत ली हो। यदि हाज़िर न कर सके और इस लिये जुर्माना देना पड़े तो पुत्र उस को न दे। परन्तु 'दानप्रातिभाव्य' वह है जिस में रुपया दिलवाने की भी ज़मानत है। ऐसा रूपया तो पुत्र से लिया जा सकता है।

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा ।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥१२०॥
(१६३)

मत्त, उन्मत्त, दुखी, पराधीन, बालक, अति वृद्ध, द्वारा किया हुआ व्यवहार तथा वह व्यवहार जिस में पहले कुछ किया गया हो और फिर कुछ, प्रमाणित नहीं समझना चाहिये।

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥१२१
(१६४)

(यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता) चाहे लेख आदि के द्वारा प्रमाणित भी है तो भी (भाषा) वह इक़रार (सत्या न भवति) सच्चा नहीं ठहरता जो (नियतात् व्यावहारिकात् धर्मात्) नियत व्यावहारिक धर्म का (बहिः भाष्यते) उल्लंघन कर के किया जाता है। अर्थात् धर्म के विरुद्ध इक़रार चाहे ज़बानी हो चाहे तहरीरी दोनों अवस्थाओं में मान्य नहीं है।

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्।
यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत्॥ १२२॥

(१६५)

(योग + अधमन विक्रीतम्) योग का अर्थ है छल। छल से गिरवी रक्खा या बेचा हुआ, छल से दिया हुआ या लिया हुआ और छल की अमानत यह जहां पाई जाय (तत् सर्वं विनिवर्तयेत्) वह सब अनुचित समझी जावे।

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः॥१२३॥

(१६६)

परिवार के लिये खर्च करने के लिये यदि ऋण लेने वाला मर जाय तो उन के रिश्तेदार (विभक्तैः अपि) चाहे अलग-अलग भी हो गये हों तो भी अपने धन में से उस ऋण को चुकावें।

---

१६४ भाषा न सदृशा भवति (गो)

१६५ वाप्युपधिं; चाप्युपधिं।

१६६ कुटुम्बे च।

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१२४
(१६७)

परिवार के लिये यदि कोई अधीन अर्थात् पुत्र आदि स्वदेश या विदेश में कहीं कोई लेन देन का व्यवहार कर ले तो (ज्यायान् न विचालयेत्) उस परिवार का बड़ा पुरुष उस का उल्लंघन न करे ।

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः ॥ १२५ ॥
(१७९)

बुद्धिमान् को चाहिये कि यदि निक्षेप अर्थात् धरोहर रखनी हो तो कुलीन रोज़गारवाले धर्मात्मा, सत्यवादी, बड़े परिवारवाले, धनी के घर धरोहर रक्खे ।

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १२६ ॥
(१८०)

(यः मानवः) जो मनुष्य (यथा) जिस प्रकार (यम् अर्थम्) जिस धन को (यस्य हस्ते) जिस के हाथ में (निक्षिपेत्) धरोहर सौंपे (स तथा एव ग्रहीतव्यः) इस को उसी प्रकार वापिस लेले । (यथा दायः तथा ग्रहः) जैसा देना वैसा लेना ।

---

१६७ समाचरेत् । वा व्यवहारं समाचरन् ।
ज्यायान्तं विलम्बयेत् (गो) । विचारयेत् (न)
१८० यथा दानं

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किंचन ॥१२७॥
(१८६)

चोरी किया हुआ, जल में डूबा हुआ, अग्नि में जला हुआ धरोहर देना नहीं पड़ता यदि उस में से कुछ ले न लिया गया हो। (क्योंकि यह दैवी आपत्तियाँ हैं । इस में किसीका अपराध नहीं है) ।

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम्॥१२८
(१६१)

जो धरोहर नहीं देता और जो बिना रक्खे मांगता है। वह दोनों चोर के समान अपराधी हैं। या उन से उतना ही धन जुर्माना में लेना चाहिये ।

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १२६ ॥
(१६३)

(यः कश्चित् नरः) जो कोई आदमी (पर द्रव्यम्) दूसरे के धन को (उपधाभिः) झूठ-मूठ बहाने डरा कर लेता है वह अपने साथियों के साथ (प्रकाशम्) सब जनता के समक्ष भिन्न-भिन्न दण्डों के पाने के योग्य है ।

---

१६१ निक्षेपंयो (गो); तथानिक्षिप्य (मे);

१६३ उपधाभिस्तु; उपधाभिश्च । यत्किंचित् (गो) ।

उपधा, ऐसे बहाने को कहते हैं कि "राजा तुम से अप्रसन्न है, हम तुम को बचाएंगे" इत्यादि-इत्यादि ।

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसंनिधौ ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १३० ॥
(१६४)

जो धरोहर जिसने धरी हो और जितनी धरी हो (कुल संनिधौ) साक्षियों के सामने, उतनी ही समझनी चाहिये । (विब्रुवन्) जो इस के विपरीत बतावे वह दण्ड का भागी हो ।

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा ।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१३१॥
(१६५)

जिस ने एकान्त में दिया और एकान्त में लिया, उस को एकान्त में ही वापिस देना चाहिये । जैसा देना वैसा लेना ।

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च ।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् ॥१३२॥
(१६६)

धरोहर में रक्खे हुये धन और प्रीति से उपभोग के लिये रक्खे हुये धन का राजा ऐसा निर्णय करे अर्थात् उसके सम्बन्ध में ऐसे नियम बना दे, जिससे न्यासधारी अर्थात् धरोहर रखनेवाले को कष्ट न पहुँचे ।

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१३३॥
(१६७)

(यः अस्वामी) जो मालिक नहीं है, वह यदि स्वामी की सम्मति के बिना दूसरे की चीज़ को बेच दे, वह (स्तेनम्) चोर है और अपने को (अस्तेनमानिनम्) चोर नहीं मानता। इसलिये (तम् साक्ष्यम् न नयेत) उसकी गवाही कभी न माने।

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम्।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥१३४॥
(१६८)

यदि बेचनेवाला उसी वंश का हो, तो उस पर छः सौ पण जुर्माना करे। यदि उस वंश का न हो और (अनपसरः प्राप्तः) मुख्तार भी न हो, तो उस पर चोर का दोष लगे।

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥१३५॥
(१६६)

जो किसी चीज़ का वास्तविक स्वामी नहीं है, उसका दिया हुआ या बेचा हुआ नियम और व्यवहार के अनुसार दिया हुआ या बेचा हुआ न समझा जावे।

संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥१३६॥
(२००)

---

१६८ अवहार्यः सतुभवेत् (न) ; अवहार्यो अवहार्योभवेच्चैव।
१६६ क्रयो विक्रयएव (रा, न)। व्यवहार इति स्थितः (गो)
२०० यत्र दृश्येत् (मे, गो, न;) दृश्येत यत्र (रा)।

जहां उपभोग तो देखा जाता है, आगम नहीं देखा जाता, वहां आगम प्रमाण है, उपभोग नहीं। तात्पर्य यह है कि किसी चीज़ का भोगनेवाला उसका स्वामी नहीं है। जो यह सिद्ध कर दे कि मेरे पास यह वस्तु इस प्रकार आई, वही स्वामी है।

विक्रयाद्यो धनं किंचित्गृह्णीयात्कुलसंनिधौ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥१३७॥
(२०१)

जो साक्षियों के सामने किसी वस्तु को वेचकर धन पाता है, वह यह सिद्ध करने पर कि मैंने यह वस्तु अमुक स्थान से खरीदी थीं, न्याय के अनुकूल धन का अधिकारी हो जाता है।

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥१३८॥
(२०२)

(अनाहार्यम् मूलम्) न लेने योग्य वस्तु को (प्रकाश क्रय शोधितः) सब के सामने खुल्लमखुल्ला खरीदनेवाला (राज्ञा अदण्ड्यः मुच्यते) राजा से दण्डनीय नहीं होता। परन्तु (नाष्टिकः धनम् लभते) जिसकी वस्तु नष्ट हुई है, वह धन का अधिकारी है। तात्पर्य यह है कि यदि कोई आदमी किसी वस्तु को झूठमूठ अपनी बताकर बेच दे और कोई दूसरा सब के सामने खुल्लमखुल्ला मोल लेले, तो राजा उस खरीदनेवाले को दण्ड न दे। परन्तु वह धन चीज़ के असली मालिक को दिला दे।

---

२०१ गृहीत्वा कुलसंनिधौ (गो) क्रमेण से।

२०२ मूल्यम् (न) ०शोधितम् (ने णो;) ०शोधितः (रा) लभते च तत् (न)।

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥१३९॥
(२०३)

एक चीज़ को धोखा देकर उसी प्रकार के रूप की दूसरी चीज़ बताकर बेचना ठीक नहीं, न असार अर्थात् सड़ी गली चीज़ को, न कम तोलकर, न दूर से छिपाकर ।

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना ।
पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ १४०॥
(२०५)

पगली, कोढ़ी या क्षतयोनि कन्या के दोष बिना बताये विवाह देनेवाला दण्ड का भागी है ।

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ।
पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥१४१
(२१२)

(येन) जिस ने (कस्मै चित् याचिते) किसी मांगने वाले को (धर्मार्थम्) धर्म के लिये (धनम् दत्तम् स्यात्) धन दे दिया हो (पश्चात् तस्य तत् तथा न स्यात्) तो फिर वह उस को दुबारा दान नहीं कर सकता । (तस्य तत् अदेयम् भवेत्) वह उस के लिये देने योग्य नहीं है ।

---

२०३ संसृष्ट; संसृष्टं । सावद्यं चासारं ।

२०५ यासंसृष्टं मैथुना (गो),

२१२ कस्मैचिद्याचमानाय दत्तं धर्माय यद् भवेत् (मे) । तस्मै । देयं न तेन तत् (न)

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञादाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥१४२

(२१३)

यदि वह (दर्पात् लोभेन वा) क्रोध से या लोभ से उस को फिर ले तो राजा उस को सुवर्ण का दण्ड दे । (तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः) इस चोरी का यही प्रायश्चित्त है ।

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥१४३॥

(२१४)

इतना दिये हुये धन की 'अनपक्रिया' अर्थात् लौटाने आदि के विषय में धर्म बताया । अब वेतन अर्थात तनख्वाह सम्बन्धी (अनप क्रिया) गड़-बड़ के विषय में कहूँ गा ।

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥

(२१५)

(यः भृतः) जो नौकर (अनार्तः) बिना बीमारी के (दर्पात्) क्रोध से (यथोदितम् कर्म न कुर्यात्) कहे हुये काम को न करे । उस को वेतन न दिया जाय और उस पर आठ कृष्णल जुर्माना हो ।

---

२१३ लोभेन मानवः (न) । निष्कृतिः; निष्कृतिम् (गो),
२१४ दत्तस्यैवोदिता (जो· ।
२१५ कृष्णलानष्टौ च देयं चैव (गो)

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथाभाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥१४५॥
(२१६)

यदि बीमार नौकर चंगा होकर पहले से निश्चित कर्म को करदे तो उस को दीर्घ काल का वेतन मिले ।

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ १४६ ॥
(२१७)

जो बीमार या तन्दुरुस्त कहे हुये काम को न करा सके तो उस का वेतन न देना चहिये, चाहे वह काम थोड़ा ही शेष रह गया हो ।

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ १४७ ॥
(२१८)

इतना वेतन न देने के सम्बन्ध में कहा । अब (समय भेदिनाम्) प्रतिज्ञा-तोड़ने वालों के संबंध में कहता हूँ ।

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ १४८ ॥
(२१९)

---

२१६ सुस्थः । सुदीर्घस्यापि; स दीर्घस्यापि ।

२१७ सुस्थः । यः स्वकर्म । अल्पेनाप्यस्य ।

(यः नरः) जो कोई (ग्राम देश संघानाम्) गांवों, देशों, या संघोंका (सत्येन) सत्य के अनुसार (संविदं कृत्वा) ठेका लेकर (लोभाद्) लोभ से (विसम् वदेत्) छोड़ दे। (तम्) उस को (राष्ट्रात्) राज से (विप्रवासयेत्) निकाल देना चाहिये।

क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यस्येहानुशयो भवेत्।
सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥१४६॥

(२२२)

(क्रीत्वा) खरीद कर (वा विक्रीय) या बेच कर (किंचित्) किसी चीज़ को (यस्य इह अनु शयः भवेत्) यदि किसी को पसन्द न आवे (सः) वह (अन्तर्दशाहात्) दस दिन के भीतर (तत् द्रव्यम्) उस चीज़ को (दधात् आददीत वा) लौटा दे या लौटा ले।

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥१५०॥

(२२३)

दस दिन के पीछे न लौटा देवे, न लौटा लेवे। जो लौटा लेने या लौटा देने के लिये आग्रह करे उस पर राजा छः सौ पण जुर्माना करे।

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥१५१॥

(२२४)

---

२२२ च; का।

२२३ न दद्यान्नददीत च (न) दण्ड्यौ (मे)

जो दोषवती कन्या को विना बताये विवाह दे, उस पर राजा स्वयं छ्यानबे पण जुर्माना करे।

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयात् द्वेषेण मानवः।
स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥१५२॥
(२२५)

जो मनुष्य द्वेष से कन्या को अकन्या बतावे, उस पर सौ पण जुर्माना हो, यदि वह कन्या के दोष को सिद्ध न कर सके।

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ १५३ ॥
(२२७)

'पाणि-ग्रहण' अर्थात् विवाह सम्बन्धी मन्त्र विवाह के नियत चिह्न हैं। विद्वानों को चाहिये कि सप्तपदी होने पर उनको पूरा समझें।

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे।
विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ १५४ ॥
(२२९)

पशुओं के सम्बन्ध में मालिक और चरवाहे के झगड़े के नियम धर्मानुसार कहता हूँ।

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद् गृहे।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥१५५॥
(२३०)

---

२२५ अकन्येति तु; अकन्येति च।

दिन में चरवाहे का उत्तरदायित्व है, रात में अपने घर मालिक का। यदि पशु के योगक्षेम (स्वास्थ्य, चारा आदि) में कोई कसर हो, तो चरवाहे का।

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः॥

(२३१)

जिस चरवाहे को वेतन दूध के रूप में मिलता है, वह स्वामी की अनुमति से दस में एक गाय का दूध ले लेवे। दस गाय पालने की उसकी यही भृति अर्थात् मजदूरी है।

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु॥ १५७॥

(२३२)

जो पशु (नष्टम्) खो जाय, (विनष्टम् कृमिभिः) कीड़े पड़कर मर जाय, (श्वहतम्) कुत्ते खा जायं, (विषमे मृतम्) असावधानी से मर जाय, (हीनम् पुरुष कारेण) किसी काम के योग्य न रहे, चरवाहे को देना पड़े।

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति॥१५८॥

(२३३)

यदि बलात्कार चोर ले जायं और समय और स्थानानुसार सेवक मालिक को खबर कर दे, तो वह पशु चरवाहे से नहीं लिया जा सकता।

---

२३२ न पालस्तत्र किल्बिषी।

कर्णौ चर्म च वालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत् ॥१५६॥
(२३४)

यदि पशु अपनी मौत मर जाय, तो मालिक को लाश दिखा देनी चाहिये और पशु का कान, चमड़ा, वाल, बस्ति, स्नायु और रोचना मालिक के हवाले कर देने चाहियें ।

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥१६०॥
(२३५)

यदि (अजा + अविके) वकरी और भेड़ को भेड़िया घेर ले और चरवाहा बचाने न जाय, तो जिसको भेड़िया ज़बरदस्ती मार जाय, उसके मारने का दोष चरवाहे को लगे ।

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥१६१॥
(२३६)

परन्तु यदि वन में चरती हुई भेड़ वकरियों को यकायक आ कर भेड़िया मार डाले, तो चरवाहे का दोष नहीं है ।

---

२३४ चर्म वर्णौ सक्थिवालौ (न) । बस्नि स्नायूनि रोचनाम् (मे, न); बस्तिं स्नायुंच रोचनाम् । मृतेष्वंकाश्च, मृतेष्वं-गानि ।

२३५ त्वनापदि (गो) ।

२३६ चेदविरुद्धानां; चेदवरुद्धानां । यामुत्पत्य; यामुत्प्लुत्य ।

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः ।
शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥१६२॥
(२३७)

(ग्रामस्य समन्ततः) गांव के आस पास सौ धनु (चार सौ हाथ) या 'शम्यापात' अर्थात् तीन लाठी की लम्बाई में (परीहारः) भूमि छूटी रहनी चाहिये । नगर में तिगुनी ।

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ १६३ ॥
(२३८)

उस भूमि में (अपरिवृतम् धान्यम्) बिना घेरे के जो घास आदि हों उसको यदि पशु बिगाड़ दें तो राजा चरवाहों को दण्ड न दे ।

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ १६४ ॥
(२४५)

दो गांवों के बीच में सीमा के सम्बन्ध में यदि झगड़ा हो तो ज्येष्ठ मास में जब (सुप्रकाशेषु सेतुषु) सीमा के चिह्न ठीक-ठीक दिखाई देते हैं उस समय निर्णय करे ।

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥
॥ १६५ ॥ (२४६)

---

२३७ परीणाहो ग्रामस्य (न); परीकरो ग्रामस्य (न) ।

२४५ हेतुषु ।

२४६ सीमावृक्षांस्तु; सीमावृक्षांश्च । शाल्मलीन् ।

इन के सीमा के वृक्ष स्थापित करे :—(न्यग्रोध) वट, (अश्वत्थ) पीपल, (किंशुक) पलास, (शाल्मली) सेंमर, (शाल) साल, (ताल) ताड़ (क्षीरिणः पादपान्) और अन्य दूध के वृक्ष।

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च।
शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥१९६॥
(२४७)

गुल्म, (वेणून्) बांस, शमीवेल, शर और कुब्ज गुल्म। इस से सीमा नष्ट न होगी।

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च।
सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ १९७ ॥
॥ २४८ ॥

(तड़ाग) तालाव, (उदप) कुंयें, (वापी) बावड़ी, (प्रस्रवणानि) झरने (देवतायतनानि) यज्ञशालायें सीमा में वनानी चाहियें।

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥१९८॥
(२४९)

(सीमाज्ञाने) सीमा के विषय में (लोके) संसार में (नित्यम्) सदा (नृणाम् विपर्ययम्) मनुष्यों में मतभेद पाया जाता है, इस को (वीक्ष्य) देख कर (अन्यानि उपच्छन्नानि सीमालिंगानि कारयेत्) अन्य गुप्त चिह्नों को भी स्थापित करना चाहिये।

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्म कपालिकाः।
करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा वालुकास्तथा ॥ १९९ ॥
(२५०)

(अश्मनः) पत्थर, (अस्थीनि) हड्डियां, गोवाल, तुष, भस्म, कपाल , करीष (अरने उपले), ईंट, कोयले, शर्करा (कंकड़), बालू ।

यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।
तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥१७०॥
(२५१)

इन को और ऐसी ही अन्य वस्तुयों को जिन को समय पाकर भूमि खान जाय, ऐसी चोज़ों को सीमा पर बहुत गहरा गढ़वा देना चाहिये ।

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।
पूर्वभुक्तया च सततमुदकस्यागमेन च ॥ १७१ ॥
(२५२)

(एतैः लिंगैः) इन चिह्नों से राजा (विवदमानयोः सीमां नयेत्) सीमा के विषय में लड़ने वालों का न्याय करे। (पूर्व भुक्त्या च) और पहले कौन सी भूमि किस ने भोगी इस से भी। (सततम् उदकस्य आगमेन च) और निरन्तर बहने वाली नदी आदि की धाराओं से भो ।

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ १७२ ॥
(२५३)

यदि चिह्नों के देखने पर भी संशय रहे तो सीमा के झगड़ों के निवारण के लिये गवाही लेनी चाहिये ।

---

२५३ ०विनिर्णयः; वीवनिर्णये; ०विनिश्चयः ।

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥१७३॥

(२५४)

गांव के कुलीन पुरुषों के सामने तथा दोनों पार्टियों के समक्ष सीमा पर साथियों से सीमा के चिह्न पूछने चाहियें ।

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥१७४॥

(२५५)

पूछने पर वे लोग सीमा के विषय में जो निश्चय करें वैसी ही सीमा नियत कर दी जावे । और उन सब के नाम भी लिख लेवे ।

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।
सुकृतैः शापिताः स्वैस्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥१७५॥

(२५६)

(ते) वे साक्षी लोग (शिरोभिः उर्वीं गृहीत्वा) सिरों पर मिट्टी रखकर, (स्रग्विणः) माला लिये हुये (रक्त वाससः) और लाल कपड़ा पहने हुये (स्वैः स्वैः सुकृतैः शापिताः नयेयुः) शपथ खायं कि यदि हम झूठ बोलते हैं तो हमारे समस्त शुभ कर्म नष्ट हो जायँ ।

---

२५४ ग्रामयेक०; ग्रामीयक । तु समक्षं (गो, न); सीमसाक्षिणः, विधानतः (गो) ।

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसंनिधौ ॥१७६॥
(२५८)

साक्षी के अभाव में पड़ोस के चारों गांवों के ज़िमींदार राजा के सामने आकर सीमा का झगड़ा तै कर दें।

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥१७७॥
(२६२)

खेत, कुआ, तालाब, बाग, घर की सीमा के चिह्नों के विषय में सामन्त अर्थात् पड़ोसियों से पूछना चाहिये।

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ १७८ ॥
(२६५)

(सीमायाम् अविषह्यायाम) जिस सीमा के विषय में कुछ साक्षी मिले ही नहीं उसमें राजा स्वयं ही प्रमाण है, धर्मानुसार न्याय जानकर जितना उचित समझे उतना बटवारा कर दे।

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥१७९॥
(२६६)

---

२५८ ग्राम्याः सीमान्तवासिनः (गो); ग्रामसामान्तवासिनः; ग्रामसीमान्तवासिनः; ग्राम्या सामान्तवासिनः।

२६२ ०विनिर्णयः; ०विनिश्चयः।

इतना तो सीमा सम्बन्धी झगड़ों के निर्णय का विषय कहा। अब गाली के निर्णय को कहते हैं।

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ १८० ॥
(२६७)

ब्राह्मण को गाली देने पर क्षत्रिय सौ पण जुर्माना दे, वैश्य ढाई सौ या सौ। शूद्र पीटने के योग्य है।

पञ्चाशत्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥१८१॥
(२६८)

ब्राह्मण क्षत्रिय को गाली दे तो ५० पण दण्ड है, वैश्य को दे तो २५, शूद्र को दे तो १२।

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ १८२ ॥
(२६९)

द्विजों में जो अपने ही वर्ण को गाली दे उस पर बारह पण जुर्माना हो। अवचनीय (बहुत कठोर) गाली देने में दूना।

श्रुत देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद्द्विशतं दमम् ॥१८३॥
(२७३)

विद्या, देश, जाति, (शारीरम् कर्म) संस्कार इनके विषय में क्रोध से कोई अनर्थ बोले तो दो सौ पण जुर्माना दे। [अर्थात् +

---

२६७ ऽप्यर्धशतं; ऽप्यर्धशतं; सार्धशतं; वर्धशतं।

जो पुरुष किसी अन्य पुरुष की विद्या, देश, जाति या संस्कार के विषय में क्रोध में आकर झूठी खबरें (libel case) फैलाता है वह दो सौ पण जुर्माने के योग्य है।

काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम्।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥१८४॥
(२७४)

काने, लंगड़े या ऐसे ही किसी को कोई सचमुच भी इन नामों से पुकारे तो एक कार्षापण दण्ड का भागी हो।

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥१८५॥
(२७५)

माता, पिता, स्त्री, भाई, पुत्र, गुरु को गाली देने तथा गुरु के लिये मार्ग न छोड़ने पर सौ पण जुर्माना दे।

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥१८६॥
(२७८)

इतना तो गाली देने के विषय में विधान किया गया। अब मार-पीट का विषय लिया जाता है।

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः।
मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥१८७
(२८४)

---

२८४ मांसभेत्ता च; मांसभेदी तु; मांसभेत्ता तु।

जो मार-पीट में खाल छिल जाय तो पीटने वाले को सौ पण दण्ड मिले, रक्त निकल आवे तो भी सौ पण, मांस कट जाय तो छः निषक दण्ड मिले। हड्डी टूट जाय तो देश निकाला।

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति।
यथायथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथातथा ॥ १८८ ॥

(२८६)

मनुष्यों और पशुओं को कोई मारे तो जितना-जितना अधिक दुःख पहुँचे उसी के हिसाब से दण्ड देना चाहिये।

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥१८९॥

(२८७)

अंग, व्रण तथा रक्त की पीड़ा होने पर मारने वाला इलाज का खर्चा दे या पूरा जुर्माना!

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥१९०॥

(२९३)

(यत्र) जहाँ (प्राजकस्य वैगुण्यात्) चलाने वाले की अयोग्यता के कारण (युग्यम्) गाड़ी (अपवर्तते) इधर-उधर हो जाय (हिंसायाम्) और किसी की हिंसा हो जाय (तत्र) वहां स्वामी पर दो सौ पण जुर्माना हो।

---

२८६ यथा यथा भवेद्दुःखं (गो)।

२८७ अङ्गावपीडनानां; अङ्गावपीडनायां। प्राण०; व्रण।

२९३ युग्यं. [illegible]। द्विशतो दमः।

प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥
॥ १९१ ॥ (२९४)

यदि चलाने वाला चतुर हो और उससे हानि हो जाय तो उसी पर जुर्माना हो । यदि चलाने वाला अयोग्य हो और उस पर सवार बैठा हो तो दोनों पर सौ-सौ पण दण्ड हो ।

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।
प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ १९२ ॥
(२९५)

यदि मार्ग पशु या रथ से रुका हुआ हो और रथ वाला रथ चला दे और उस से जीव मर जाय तो बिना संकोच के उस को दण्ड दे ।

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ।१९३।
(२९९)

भार्या, पुत्र, दास, हलकारा छोटा भाई यदि अपराध करे तो उन को रस्सी या लकड़ी से मारे ।

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कथंचन ।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥
(३००)

---

२९५ विचारितः; ऽविचारितः; विचरितः; विचलितः ।
२९९ भार्या शिष्यश्च दासश्च पुत्रो (गो) ।

परन्तु पीठ में ही मारे, आगे के अंगों में न मारे। यदि कोई इस से विपरीत मारे तो चोर का दण्ड पावे।

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥१९५॥
(३०१)

यह सब मारपीट का निर्णय कहा। अब यह बताते हैं कि चोर को क्या दण्ड देना चाहिये।

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते॥ १९६।
(३०२)

(स्तेनानां निग्रहे) चोरी को रोकने के लिये (नृपः) राजा (परमम् यत्नम् आतिष्ठेत्) घोर प्रयत्न करे। (स्तेनानां निग्रहात् अस्य यशः राष्ट्रम् च वर्धते) चोरों को रोकने से राजाका यश और राज बढ़ता है।

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ १९७॥
(३०३)

जिस राजा के राज्य में किसी प्रकार का भय नहीं वह बहुत पूज्य है। उस का यह 'राज्य' रूपी (सत्र) यज्ञ अभयरूपी दक्षिणा से वृद्धि को प्राप्त होता है।

---

३०१ त्रिविधं दण्डनिर्णयम् (गो)।

३०२ निग्रहांचा० (गो)।

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥१९८॥

(३०४)

(रक्षतः राज्ञः) रक्षा करने वाले राजा को सब के धर्म का छठा भाग मिलता है और न रक्षा करने वाले राजा को सब के अधर्म का छठा भाग ।

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात्॥१९९

(३०५)

जो कोई कुछ पढ़ता है, जो यज्ञ करता है, जो दान देता है, जो पूजा करता है. उस सब का छठा भाग राजा का होता है क्योंकि राजा रक्षा करता है ।

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ २०० ॥

(३०६)

जो राजा धर्म पूर्वक प्राणियों की रक्षा करता है और अपराधियों को दण्ड देता है वह मानों प्रति दिन लाख दक्षिणा वाला यज्ञ करता है।

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभोगं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥२०१॥

(३०७)

---

३०५ रक्षणात्; पालनात् ।

३०७ प्रतिभागं; भूतिभोगं; सूतिभागं; प्रीतिभोगं; प्रतिभोगं ।

जो राजा बिना रक्षा किये भेंट, कर, शुल्क, प्रति भाग (चुंगी) या दण्ड के रूप में लेता है वह नरक को जाता है।

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ २०२ ॥
(३०८)

जो राजा रक्षा नहीं करता और छठा भाग लगान में लेता है उस को प्रजा के सब पापों का ढोने वाला कहा है।

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ २०३ ॥
(३०९)

मर्यादा रहित, नास्तिक, लोभी, अरक्षक, और कर का धन खाने वाले राजा को नीच समझना चाहिये।

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ २०४ ॥
(३१०)

(अधार्मिकम्) अपराधी को (त्रिभिः न्यायैः) तीन प्रकार से (प्रयत्नतः) कोशिश कर के (निगृह्णीयात्) दण्ड दे। (निरो-

---

३०८ अरक्षितारमत्तारं; अरक्षितारं राजानं । ०हारिणम् (गो)।

३०९ अनवेक्षित०; अनपेक्षित० । विप्रलोपकम् (न)। नृपं गच्छेद-धोमुखम् (गो), असत्यं च नृपं त्यजेत् (न), नृप विद्या-दधोगतिम् ।

३१० बन्धेन, दण्डेन । वा, तु ।

धनेन) उस की स्वतंत्रता छीन कर अर्थात् तुम अमुक स्थान से बाहर नहीं जा सकते। (externment or internment) (बन्धेन) कारागार में डाल कर, (विविधेन वधेन च) अनेक प्रकार के शारीरिक दण्ड द्वारा।

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः॥ २०५॥

(३११)

(नृपाः) राजा लोग (सततम्) सदा (पापानां निग्रहेण-साधूनां संग्रहेण च पूयन्ते) पापियों को दण्ड देने और भले आदमियों को बढ़ाने से पवित्र होते हैं (द्विजातयः इज्याभिः इव) जैसे द्विज लोग यज्ञों से।

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः॥ २०६॥

(३१२)

जो राजा अपना हित चाहता है उस को चाहिये कि मुक़द्दमे वाले तथा बालक, बुड्ढे, या बीमार कुछ आक्षेप करें तो इन को सुन ले और क्षमा करे।

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति॥ २०७॥

(३१३)

---

३१२ कुर्वतां, कुर्वता।

३१३ मयत्वि.ो यः क्षिप्तो। यश्चैश्वर्यान्न; यश्चैश्वर्यान्न।

जो दुखी जनों के आक्षेपों को क्षमा करता है वह स्वर्ग पाता है और जो अपने को शक्तिशाली समझ कर नहीं सहन करता वह नरक को जाता है।

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥२०८॥
(३१४)

चोर को चाहिये कि बाल खोल कर दौड़ता हुआ राजा के पास जाकर इक़रार करे—मैं ने अमुक चोरी की है मैं अपराधी हूँ, मुझ को दण्ड दीजिये। राजा ऐसे पुरुष को छोड़ दे, क्षमा करदे।

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥
॥२०९॥ (३१६)

चोर चोरी के पाप से दो प्रकार से छूटता है (शासनाद् वा विमोक्षाद् वा) या तो दण्ड पाकर या स्वीकार (Confession) करने की अवस्था में क्षमा पाकर। जो राजा चोर को चोरी का दण्ड नहीं देता, वह स्वयं चोरी का अपराधी है।

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी ।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥
॥ २१० ॥ (३१७)

गर्भहत्या का पाप उस को भी लगता है जो ऐसे पुरुष का अन्न खावे। व्यभिचारिणी स्त्री का पाप पति को भी लगता है।

---

३१४ धावता, धीरता।

शिष्य या यज्ञ करने वाला कुछ भूल करे तो उस का पाप गुरु को लगता है। चोर चोरी करे तो उस का पाप राजा को लगता है।

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥२११
(३१८)

जो मनुष्य पाप करते हैं और राजा से यथाविधि दण्ड पा लेते हैं वह निर्मल हो कर स्वर्ग को जाते हैं, जैसे पुण्यात्मा साधु।

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिद्याच्च यः प्रपाम्।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥२१२॥
(३१९)

जो कुएँ से रस्सी या घड़ा चुरावे और जो घड़े को तोड़े उस को 'माष' दण्ड मिले और इस के अतिरिक्त वह उस हानि का भी प्रतिकार करे।

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ २१३ ॥
(३२०)

दस कुंभों से अधिक अन्न चुराने वाले को भी शारीरिक दण्ड (बेत आदि) मिले और कम चुरावे उसे उस का ११ गुना।

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ २१४ ॥
(३२१)

---

३१८ राजभिर्धृत०; राजनिर्धृत०, राजनिर्धूत०, राजभिः कृत०।
३२० हरतोऽभ्यधिके (गो, न)। शेषेऽत्रे०; शेषे त्वे०
३२१ महार्घाणां च वाससाम्

वैसा ही शारीरिक दंड सौ से अधिक पल तराजू में तोले जाने वाले, सोने, चांदी, या उत्तम वस्त्र के चुराने पर समझना चाहिये [धरिम उस वस्तु को कहते हैं जो तौल कर बेची जाती है]

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत् । २१५ ॥

(३३२)

(अन्वयवत्) अपनो के समान (प्रसभम्) जबर दस्ती (यत् कर्म कृतम् स्यात) जो माल हरा जाय उस को "साहस" कहते हैं । जो परायों के समान लेवे वह चोरी है । 'साहस डाका है, डाकू माल को इस प्रकार लेता है मानों अपना ही है ।

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥२१६।

(३३५)

पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र, पुरोहित यदि यह धर्म में न रहें अर्थात् अपराध करें तो यह राजा के द्वारा अदण्ड्य नहीं है । अर्थात् इन को दण्ड अवश्य देना चाहिये ।

योऽदत्तादायिनो हस्तात्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥२१७॥

(३४०)

---

३३२ कृत्वापव्ययते च यत; हृत्वापह्नुयते च यत्; कृत्वापथचेथ यत् ।

३३५ राज्ञास्ति (न) । यो न स्वधर्मे (रा)

जो ब्राह्मण अनुचित धन कमाने वाले के हाथ से यज्ञ की दक्षिणा या पढ़ाने की दक्षिणा के रूप में भी धन लेने की इच्छा करता है वह भी उसी के समान चोर है।

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥२१८॥

(३४६)

जो राजा डाका डालने वाले को क्षमा करता है। उसका शीघ्र नाश हो जाता है और लोग उसके द्वेषी हो जाते हैं।

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।
समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ २१९ ॥

(३४७)

राजा को चाहिये कि सब प्राणियों को भय देने वाले डाकुओं को न छोड़े, चाहे वह मित्र हों और चाहे उनसे अधिक धन मिलता हो।

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ २२० ॥

(३४८)

सब द्विजातियों को शस्त्र ग्रहण कर लेना चाहिये यदि धर्म में बाधा पड़ती हो, या द्विजातियों के मध्य में बलवा होता हो।

---

३४८ विप्राणां विप्लवे धर्मे० (गो)

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति॥ २२१॥
(३४६)

या अपने प्राण बचाने की प्रश्न हो, या सम्पत्ति पर चोट हो, या स्त्री और ब्राह्मणों पर विपत्ति आवे। ऐसे समय में मार डालना पाप नहीं है।

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ २२२॥
(३५०)

आततायी को बिना संकोच के मार दे चाहे वह गुरु हो, या बालक, बूढ़ा, ब्राह्मण या वेदों को बहुत पढ़ा हुआ।

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥२२३॥
(३५१)

आततायी के मारने में मारने वाले को दोष लगता नहीं। चाहे सबके सामने मारना पड़े या एकान्त में, क्रोध-क्रोध को प्राप्त होता है।

---

३४९ स्त्री विप्राभ्यवपत्तौ (न); स्त्री विप्राद्युपपत्तो (रा); स्त्री विप्राऽभ्युपपत्तौ। धर्मेण घ्नन्।

३५० बालवृद्धं; बालवृद्धौ।

३५१ तं मन्युम्, तन्मन्युम्

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः ।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ २२४ ॥
(३५२)

(महीप्रतिः) राजा (परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान् नॄन्) ऐसे लोगों को जो परस्त्रीगमन में प्रवृत्त हैं (उद्वेजन करैः दण्डैः छिन्नयित्वा) नमूने की सजा (Exemplary punishment) देकर (प्रवासयेत्) देश से निकाल दे। अर्थात् काला पानी दे दे।

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ २२५ ॥
(३५३)

उससे लोक में वर्ण संकर उत्पन्न होते हैं। जो अधर्म जड़ को काटता है उससे सर्वनाश हो जाता है ।

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन्रहः ।
पूर्वमाचारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥२२६॥
(३५४)

पर स्त्री के साथ एकान्त में बात करने वाले पुरुष को (दोषैः पूर्वम् आचारितः) यदि पहले भी वह इस दोष में बदनाम हो चुका हो तो 'पूर्व साहस' दण्ड देना चाहिये ।

---

३५२ परदारोपसेवायां चेष्टमानान्नरान्नृपः । परिचिह्न्य, चिह्नयित्वा

३५३ हि जायते लोकानां (गो)

३५४ योजयन्सह, योजयेत्सह, योजयेन्रहः; योजयन्नहः

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात्किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥
॥२२७॥ (३५५)

यदि वह पहले इस दोष का दोषी नहीं है और किसी विशेष कारण से बात कर रहा है तो उसको दोषी न समझे क्योंकि वह कोई अधर्म नहीं कर रहा ।

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।
नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥२२८॥
(३५६)

जो पराई स्त्री को तीर्थ, जंगल, बन या नदी संगम पर छेड़े वह संग्रहण दोष का भागी हो ।

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सह खाट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥२२९॥
(३५७)

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया ।
परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ २३० ॥
(३५८)

संग्रहण दोष यह है :—(उपचार क्रिया) माला आदि पहना देना, (केलि) परिहास, (भूषण वाससां स्पर्शः) भूषण वस्त्र का

---

३५६ वनेऽपि वा; गृहेऽपि वा ।

३५७ उपकारक्रिया; उपचारक्रिया ।

३५८ परस्परस्यानुमतेः (गो)

छूना, (सह खट्वासनम्) एक चारपाई पर बैठना, (अदेशे स्त्रियं स्पृशेत्) स्त्री के गुप्त अंग को छूना, (तया स्पष्टः वा मर्षयेत्) स्त्री गुप्त अंग को छुये और वह कुछ न कहे। अर्थात्—परस्पर अनुमति से एक दूसरे को छूना।

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥२३१॥
(३८६)

वह राजा स्वर्ग लोक का भागी है जिसके नगर में न चोर है, न व्यभिचारी, न गाली देने वाला और न डाकू, न मारपीट करने वाला।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः॥ २३२॥
(३८७)

इन पांचों का अपने देश में दमन करने वाला राजा अन्य राजाओं में मान पाता है और लोक में उसका यश बढ़ता है।

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति।
त्यजन्नपतितानेतान्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥२३३॥
(३८९)

माता, पिता, स्त्री तथा पुत्र यदि पतित न हुये हों तो त्यागने के योग्य नहीं है। इनको जो कोई त्यागे वह छः सौ पण जुर्माना दे।

---

३८७ स्वराज्येषु (न)

अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥२३४॥
(३६४)

इन लोगों पर किसी प्रकार का कर नहीं लगना चाहिये, अन्धा, बहरा, पंगु, सत्तर वर्ष का बुड्ढा, और उपकार करने वाला श्रोत्रिय (वेद पाठी) ।

श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् ।
महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥ २३५ ॥
(३६५)

राजा को चाहिये कि इनका सदा मान करे :—श्रोत्रिय, बीमार, दुखी, बालक, बूढ़ा, अकिंचन अर्थात् दरिद्र, और महा कुलीन आर्य ।

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥२३६॥
(३६६)

(नेजकः) धोबी (शनैः) धीरे २ (श्लक्ष्णे) चिकने (शाल्मलीफलके) शाल्मली के पट्टे पर (नेनिज्यात्) कपड़े धोवे, (वासांसि वासोभिः न निर्हरेत्) एक के कपड़े दूसरे के कपड़ों से न मिलावे, (न वासयेत्) न किसी के कपड़े किसी को पहनने दे ।

---

३६४ नदाप्यः केनचिद्दमम् (न)

३६५ व्याधितार्त । बालवृद्धाद्यकिंचन

३६६ शाल्मले; शाल्मली । निज्याद्वासांसि नेजकः; नेनिन्यान्नेजकः शनैः ।

३४

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥२३७॥
(३९७)

(तन्तुवायः) जुलाहा दश पल सूत लेकर ग्यारह पल कपड़ा तोल दे (अर्थात मांडी आदि में एक पल बढ़ जाना चाहिये) । इस से विपरीत वर्ते तो बारह पण दण्ड दे ।

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।
कुर्युरर्घं यथापल्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ २३८ ॥
(३९८)

(शुल्कस्थानेषु कुशलाः) जो लोग चुंगी आदि के वसूल करने में चतुर हों (सर्व पण्य विचक्षणाः) और लेने देने में दक्ष हों, (कुर्युः अर्घं यथा पण्यम्) वे अपने व्यापार से जो लाभ उठावें (ततः विंशम् नृपः हरेत्) उस का बीसवां भाग राजा ले ।

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्॥२३९॥
(४००)

(शुल्कस्थानंपरिहरन्) चुंगी के स्थान को छोड़कर (अकाले क्रय विक्रयी) दूसरे स्थान में खरीदने या बेचने वाला (संस्थाने मिथ्या वादी च) और तोल आदि में झूठा व्यवहार करने वाला अठगुने जुर्माने के योग्य है ।

---

३९७ तन्तुवायः पलं दत्वा (गो); दशफलं दद्यादेकप.लादिकम् (मे)

३९८ हरेन्नृपः (रा)

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ २४० ॥

(४०१)

(आगमम्) आने वाली वस्तु (Import) (निर्गमम्) जाने वाली वस्तु-Export, (स्थान) स्थान, (वृद्धि) लाभ, (क्षय) हानि इन का विचार करके (पण्यानां क्रयविक्रयौ कारयेत्) चीजों का भाव नियत करे ।

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ २४१ ॥

(४०२)

राजा को चाहिये कि पांच-पांच दिन या एक एक पक्ष का भाव स्वयं निश्चित करा दिया करे ।

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ २४२ ॥

(४०३)

बाट और नाप (weights and measures) राजा की ओर से नियत होने चाहियें । और छः-छः मास में इन की जांच होनी चाहिये ।

---

४०२ तथा गते

४०३ तत्स्यात्सुलक्षितम्; च स्यात्सुलक्षितम्; तु स्यात्सुलक्षितम्; स्यात्सुपरीक्षितम्; सर्वं पार्थिवलक्षितम्; सर्वतः स्यात्सुलक्षितम् ।

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥२४३॥
(४०४)

(तरे) पुल पर गाड़ी का महसूल एक पण, मनुष्य का आधा पण, पशु और स्त्री का चौथाई पण, ख़ाली आदमी का ⅛ पण ।

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः॥२४४
(४०५)

(भाण्ड पूर्णानि यानानि) माल भरी गाड़ियों पर (सारतः) माल के अनुसार कर लगाना चाहिये । ख़ाली गाड़ी या दरिद्र से कुछ कर न लिया जाय ।

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥२४५॥
(४०६)

लम्बी उतराई का कर देश काल के अनुसार ले । यह नियम नदी का है, समुद्र का नहीं । अर्थात् समुद्र के नियम अलग होने चाहिये ।

एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥२४६॥
(४२०)

इस प्रकार इन सब व्यवहारों को करता हुआ राजा सब दोषों से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त होता है ।

---

४०४ पौरुपे; पौरुषो । नरः; तरं; तरे; हरे; भरः
४२० ब्रह्मलोके महीयते (न)

नवाँ अध्याय

—:o:—

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः ।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥१॥

(१)

(धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः) धर्म के मार्ग में चलने वाले (पुरुषस्य स्त्रियाः च एव) पुरुष और स्त्री के (संयोगे विप्रयोगे च) संयोग और वियोग सम्बन्धी (शाश्वतान् धर्मान्) नित्य धर्मों को (वक्ष्यामि) कहूँगा ।

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥२॥

(२)

(स्त्रियः स्वैः पुरुषैः दिवानिशम् अस्वतंत्राः कार्याः) पुरुषों को चाहिये कि रात दिन अपनी स्त्रियों को अपने संरक्षण में रक्खें । (विषयेषु च सज्जन्त्यःआत्मनः वशे संस्थाप्याः) और यदि वे विषयों में फंस जांय तो अपने वश में रक्खे ।

---

१ धर्म्ये धर्मे वक्ष्यामि शाश्वतम् (मे)

२ विषये सज्जमानाश्च (न) । संस्थाप्या ह्यात्मनो (मे, रा); संस्थाप्याः स्वात्मनो (न); संस्थाप्या आत्मनो (गो)

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥
(३)

बचपन में स्त्री की रक्षा पिता करता है। यौवन अवस्था में पति, वृद्धावस्था में पुत्र। स्त्री कभी अपनी रक्षा आप नहीं कर सकती।

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥
(४)

यदि विवाह काल आने पर पिता अपनी कन्या के विवाह का प्रबन्ध न करे, यदि पति के मरने पर पुत्र माता का पालन न करे तो यह सब निन्दा के पात्र हैं।

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥ (५)

सूक्ष्म कुसंगों से भी स्त्रियों की विशेष रक्षा करनी चाहिये। यदि उन की रक्षा न की जायगी तो वे दोनों कुलों के शोक का कारण हो जायेंगी।

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम्।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥
(६)

---

३ पुत्रास्तु स्थविरे भावे (रा, न)

४ याप्यो याप्यश्चानुपयन्……याप्यो (मे; स, न)

सब वर्णों के इस उत्तम धर्म को जानने वाले दुर्बल पति भी अपनी स्त्री की रक्षा करने का यत्न किया करते हैं।

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ॥ ७ ॥
(७)

(प्रयत्नेन जायां रक्षन्) जो प्रयत्न से अपनी स्त्री की रक्षा करता है वह अपनी सन्तान, अपने चरित्र, अपने कुल, स्वयं अपनी तथा अपने धर्म की रक्षा करता है।

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥८॥
(८)

पति भार्या में गर्भ के रूप में प्रविष्ट हो कर लोक में जन्म लेता है इसी लिये भार्या का नाम 'जाया' है क्यों कि इसी में वह फिर जन्म लेता है।

तात्पर्य यह है कि जो गर्भ पुरुष के वीर्य के रूप में स्त्री की योनि में प्रविष्ट होता है वह उस पुरुष का प्रत्येक अंग से निचोड़ा हुआ सत है। इस लिये उस को 'सुत' अर्थात् निचोड़ा हुआ कहते हैं।

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥
(९)

---

७. धर्मं प्रजा चैव (न)

८ भार्यां प्रविश्य स्वां (गो)

९. स्त्रियो रक्षेत् (न)

(यादृशम् भजते स्त्री) स्त्री जैसे पुरुष का सेवन करेगी (तथा विधम् सुतम् सूते) वैसे ही सुत को जनेगी । (तस्मात्) इस लिये (प्रजाविशुद्ध्यर्थम्) सन्तान की शुद्धि के लिये (स्त्रियम् प्रयत्नतः रक्षेत्) स्त्री की प्रयत्न कर के रक्षा करनी चाहिये ।

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥
(१०)

कोई भी (योषितः प्रसह्य परि रक्षितुम् शक्तः न) स्त्रियों की ज़बरदस्ती रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता । परन्तु इन-इन उपायों से उनकी रक्षा हो सकती है ।

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥११॥
(११)

इन-इन चीज़ों की देख भाल का काम स्त्रियों के सुपिर्द करे:—
(अर्थस्य संग्रहे) धन के रखने (२) (व्यये) खर्च करने (३) (शौचे) सफ़ाई, (४) (धर्मे) यज्ञ आदि (५) (अन्न-पक्ति) भोजन की तैय्यारी (६) (पारिणाह्यस्य वेक्षणे) घर के सामान की देख भाल ।

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥
(१२)

---

११ वा विनियोजयेत् (मे) । पारिणाह्यस्य; पारीणाह्यस्य; परिणाह्यस्य; परीणाह्यस्य; पारीणह्यस्य, पारिणाय्यस्य । वेक्षणे ।

चतुर पुरुषों से घर में बन्द की हुई स्त्रियां भी सुरक्षित नहीं हैं। परन्तु जो स्त्रियां अपने आप अपनी रक्षा करती हैं वे सुरक्षित हैं।

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥ १३॥
(१३)

यह छः दोष हैं जिनसे स्त्रियों को बचना चाहिये (१) पान—शराब आदि नशे का पीना। (२) दुर्जन संसर्ग—दुष्टों का संग (३) पत्या च विरह—पति से अलग रहना, (४) अटन—इधर-उधर फिरना। (५) स्वप्न—विना नियम के सोना, (६) अन्य गेहवास—दूसरों के घर में वास करना।

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ १४ ॥
२५)

(एषा) यह (स्त्री पुंसयोः) स्त्री पुरुषों का (नित्यम्) नित्य (शुभा लोक यात्रा उदिता) शुभ लोक चलन कहा गया। अब (प्रेत्य इह च) परलोक और इस लोक के (सुखोदर्कान् प्रजा धर्मान् निबोधत) सुख देने वाले सन्तान-सम्बन्धी धर्मों को सुनो।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥१५॥
(२६)

---

१३ नारीणां दूषणानि (गो)
२६ श्रियः स्त्रियः (रा)

(प्रजनार्थम्) यह स्त्रियां सन्तानोत्पत्ति का कारण हैं, (महाभागाः) बड़ी भाग्यशील हैं, (पूजार्हा) पूजनीय हैं, (गृहदीप्तयः) घर की ज्योति हैं। (गेहेषु स्त्रियः श्रियः च) घरों में स्त्रियां ही लक्ष्मी हैं। (न विशेषः अस्ति कदाचन) इनमें और लक्ष्मी में कुछ भेद नहीं है।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥१६॥

(२७)

संतान का उत्पन्न करना, उत्पन्न हुई संतान का पालन और प्रतिदिन की लोक यात्रा का प्रत्यक्ष साधन स्त्री ही है। अर्थात् विना स्त्री के यह कुछ नहीं हो सकता।

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥१७॥

(२८)

सन्तानोत्पत्ति, धर्मकार्य, शुश्रूषा, आनन्द देने वाली रति (भोग), माता-पिता का तथा अपना सुख यह सब स्त्री के ही आधीन है।

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥

(३३)

---

२७ परिरक्षणं (न)। प्रत्यर्थं; प्रीत्यर्थं; प्रत्यहं; प्रत्यर्धं।
२८ ०नः सदा (गो)

नारी को स्मृतियों में क्षेत्र बताया है और पुरुष को बीज, क्षेत्र और बीज के योग से सब प्राणियों की उत्पत्ति है।

विशिष्टं कुत्रचित्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ १९ ॥

(३४)

कहीं बीज की विशेषता है, कहीं भूमि की। वही सन्तान अच्छी होती है, जहां बीज और क्षेत्र दोनों उत्तम हों।

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ २० ॥

(३५)

बीज और योनि में बीज को प्रधान बताया है। सब सन्तान के वही लक्षण होते हैं जो बीज के।

यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ २१॥

(३६)

(यादृशम् बीजम् कालोपपादिते क्षेत्रे उप्यते) जैसा बीज उचित समय पर खेत में बोया जाता है (तत् बीजम्) वह बीज (तादृक् एव) वैसा ही (स्वैः गुणैः व्यञ्जितम्) अपने गुणों से युक्त हो कर (तस्मिन् रोहति) उस खेत में उगता है।

---

३६ यादृशमुप्यते; यादृशं वाप्यते। तत्तिम्रं बीजं स्वैर्व्यंज्चितैर्गुणैः (गो)।

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।
न च योनिगुणान्कांश्चित्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥२२॥
(३७)

यह पृथ्वी भूतों की नित्य योनि कही जाती है। परन्तु बीज पुष्ट होकर भूमि के किसी गुण को पुष्ट नहीं करता।

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः ।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥२३॥
(३८)

एक ही भूमि में किसान समय पर जो बीज बोते हैं वे बीज ही अपने-अपने स्वाभाव के अनुकूल भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं।

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ २४ ॥
(३९)

साठी, धान, मूँग, तिल, उर्द, जौ, लहसन, गन्ना यह सब अपने बीज के अनुकूल ही उगते हैं।

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ २५ ॥
(४०)

जो-जो बीज बोया जाता है वही उगता है। बोया कुछ और

---

३९ शालयो वापि (न)। प्ररोहन्ते (गो)

तथा उगा कुछ और, ऐसा कभी नहीं होता। यह बीज की प्रधानता बताई गई। इस का प्रयोजन आगे के श्लोक में है :—

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ २६ ॥
(४१)

प्राज्ञ, विनीत, ज्ञान-विज्ञानवेत्ता और आयुष्काम (आयु को चाहने वाले) पुरुष को चाहिये कि पराई स्त्री में अपना बीज न बोवे। अर्थात् कभी व्यभिचार न करे।

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥२७॥
(४५)

(एतावान् एव पुरुषः) पूरा पुरुष इतना होता है (यत् जाया, आत्मा प्रजा इति ह) पत्नी, स्वयं और सन्तान। अर्थात् यह तीनों मिल कर पुरुष कहलाते हैं। ऐसा विद्वानों ने कहा है। जो पति है वही पत्नी है। अर्थात् दोनों में कोई विरोध नहीं है। इस लिये व्यभिचार नहीं करना चाहिये।

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥२८॥
(४६)

(निष्क्रय विसर्गाभ्याम्) बेचने या त्यागने से (भर्तुः भार्या न

---

४५ प्रजेह च (न)
४६ विजानीत (गो); विजानीध्वं।

विमुच्यते) पति से स्त्री छूट नहीं जाती। ईश्वर का रचा हुआ यही पूर्व धर्म हम जानते हैं।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥२६॥
(४७)

(सकृत् अंशः निपतति) जायदाद का बांट एक बार होता है। अर्थात् एक बार बांट होगया तो फिर झगड़ा क्यों करे ? (सकृत् कन्या प्रदीयते) अर्थात् पिता कन्यादान एक बार करता है। जिससे विवाह कर दिया उससे कर दिया। यह नहीं कि आज कन्या व्याह दी। कल उससे वापिस ले ली। (ददानि इति सकृत् आह) वचन एक बार दिया जाता है। जब कह दिया कि अमुक वस्तु दूँगा, तो बस। उससे मुकरना क्यों ? भद्र पुरुष इन तीनों बातों को एक बार ही करते हैं, अर्थात् मुकरते नहीं।

नोट—कुछ लोग 'सकृत कन्या प्रदीयते' को पुनर्विवाह के विरोध में लगाते हैं, यह प्रसङ्ग से विरुद्ध है। पिछले श्लोक के पढ़ने से स्पष्ट है कि इसका केवल इतना तात्पर्य है कि विवाह कर कन्या लौटाई नहीं जा सकती।

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ३० ॥
॥ ५६ ॥

बीज और योनि की प्रधानता के विषय में इतना कहा, आगे (योषिताम् आपदि धर्मम्) स्त्रियों का आपत्काल का धर्म कहूँगा।

---

४७ ददानीति; ददामीति। सकृत्सकृत्; सतां सकृत्

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥३१॥

(५७)

(या ज्येष्ठस्य भ्रातुः भार्या सा अनुजस्य गुरुपत्नी) जो बड़े भाई की स्त्री है, वह छोटे भाई की गुरु-पत्नी के समान है। (यवीयसः भार्या ज्येष्ठस्य स्नुषा) छोटे भाई की स्त्री बड़े भाई की पुत्री के समान है।

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ३२ ॥

(५८)

(ज्येष्ठः) बड़ा भाई (यवीयसः भार्याम्) छोटे भाई की स्त्री के पास (वा) या (यवीयान्) छोटा भाई (अग्रजस्त्रियम्) बड़े भाई की स्त्री के पास (अनापदि) विना आपत्काल के (नियुक्तौ अपि गत्वा) नियोगविधि से भी जाकर (पतितौ भवतः) पतित हो जाते हैं।

अर्थात् आपत्काल को छोड़कर अन्य अवस्था में भावज के साथ नियोग का निषेध है।

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ॥ ३३ ॥

(५९)

(सन्तानस्य परिक्षये) सन्तान न होने पर अर्थात् जब खानदान का सिलसिला टूटने का भय हो, उस समय (देवरात्

---

५७ या भार्या

विमुच्यते) पति से स्त्री छूट नहीं जाती। ईश्वर का रचा हुआ यही पूर्व धर्म हम जानते हैं।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददामीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥२६॥
(४७)

(सकृत् अंशः निपतति) जायदाद का बांट एक बार होता है। अर्थात् एक बार बांट होगया तो फिर झगड़ा क्यों करे। (सकृत् कन्या प्रदीयते) अर्थात् पिता कन्यादान एक बार करता है। जिससे विवाह कर दिया उससे कर दिया। यह नहीं कि आज कन्या व्याह दी। कल उससे वापिस ले ली। (ददानि इति सकृत् आह) वचन एक बार दिया जाता है। जब कह दिया कि अमुक वस्तु दूँगा, तो बस। उससे मुकरना क्यों ? भद्र पुरुष इन तीनों बातों को एक बार ही करते हैं, अर्थात् मुकरते नहीं।

नोट—कुछ लोग 'सकृत कन्या प्रदीयते' को पुनर्विवाह के विरोध में लगाते हैं. यह प्रसङ्ग से विरुद्ध है। पिछले श्लोक के पढ़ने से स्पष्ट है कि इसका केवल इतना तात्पर्य है कि विवाह कर कन्या लौटाई नहीं जा सकती।

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ३० ॥
॥ ५६ ॥

बीज और योनि की प्रधानता के विषय में इतना कहा, आगे (योषिताम् आपदि धर्मम्) स्त्रियों का आपत्काल का धर्म कहूँगा।

---

४७ ददानीति; ददामीति। सकृत्सकृत्; सतां सकृत्

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥३१॥

(५७)

(या ज्येष्ठस्य भ्रातुः भार्या सा अनुजस्य गुरुपत्नी) जो बड़े भाई की स्त्री है, वह छोटे भाई की गुरु-पत्नी के समान है। (यवीयसः भार्या ज्येष्ठस्य स्नुषा) छोटे भाई की स्त्री बड़े भाई की पुत्री के समान है।

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ३२ ॥

(५८)

(ज्येष्ठः) बड़ा भाई (यवीयसः भार्याम्) छोटे भाई की स्त्री के पास (वा) या (यवीयान्) छोटा भाई (अग्रजस्त्रियम्) बड़े भाई की स्त्री के पास (अनापदि) विना आपत्काल के (नियुक्तौ अपि गत्वा) नियोगविधि से भी जाकर (पतितौ भवतः) पतित हो जाते हैं।

अर्थात् आपत्काल को छोड़कर अन्य अवस्था में भावज के साथ नियोग का निषेध है।

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ॥ ३३ ॥

(५९)

(सन्तानस्य परिक्षये) सन्तान न होने पर अर्थात् जब खानदान का सिलसिला टूटने का भय हो, उस समय (देवरात्

---

५७ या भार्या

सपिण्डात् वा) देवर या पति के वंशवाले के साथ (सम्यक्-नियुक्तया स्त्रिया) विधिपूर्वक नियोग करनेवाली स्त्री (प्रजा-ईप्सिता) सन्तान की इच्छा को (अधिगन्तव्या) पूरी कर ले।

अर्थात् वंश-छेद होने का भय हो, तो स्त्री देवर या उसी वंश के किसी पुरुष से नियोग कर सकती है।

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥ २४ ॥
(६०)

(विधवायां नियुक्तः तु) जो विधवा के साथ नियोग करे, वह (निशि) रात में (घृताक्तः) शरीर में घी लगाकर (वाग्-यतः) मौन होकर (एकम् पुत्रम् उत्पादयेत्) एक पुत्र उत्पन्न करे। (न द्वितीयं कथंचन) कभी दूसरा नहीं।

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः।
अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ३५ ॥
(६१)

(धर्मतः) धर्मानुकूल (तयोः) उन दोनों स्त्री-पुरुषों के (नियोगार्थम्) नियोग के प्रयोजन को (अनिर्वृतम्) न पूरा हुआ (पश्यन्तः) जाननेवाले (एके तद्विदः) इस विद्या के जाननेवाले कुछ आचार्य (स्त्रीषु द्वितीयम् प्रजनम् मन्यन्ते) स्त्रियों में दूसरी संतान उत्पन्न करना भी उचित मानते हैं। अर्थात् नियोग दोनों के प्रयोजन से हो सकता है या तो पुरुष अपने लिये सन्तान चाहे, या स्त्री अपने लिये या दोनों अपने लिये

---

६१ अनिर्वृत्तं, अनिर्वृत्तं, अनिर्वृतं

इस लिये केवल एक पुत्र उत्पन्न करने से काम नहीं चले तो अधिक भी उत्पन्न करले।

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ३६ ॥

(६२)

(यथा विधि) धर्मानुकूल (विधवायाम्) विधवा में (नियोगार्थे निर्वृत्ते तु) नियोग का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर (परस्परम्) आपस में (गुरुवत् स्नुषावत् च वर्तेयाताम्) गुरु और पुत्री के समान बर्ताव करें। अर्थात् फिर भोग न करें।

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥३७॥

(६३)

(यौ नियुक्तौ) जिन स्त्री-पुरुष ने नियोग किया है वे दोनों (विधिम् हित्वा) शास्त्र के नियम का उल्लङ्घन कर के (कामतः वर्तेयाताम्) यदि काम-इच्छा पूरी करें (तु) तो (तौ उभौ) वे दोनों (पतितौ स्याताम्) पतित हो जावें (स्नुषाग, गुरुतल्पगौ) जैसे पुत्री के साथ गमन करने वाला या गुरुपत्नी के साथ गमन करने वाला पतित हो जाता है।

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥३८

(६४)

---

६२ निवृत्ते, निर्वृते; निर्वृत्ते

(विधवा नारी द्विजातिभिः अन्यस्मिन् न नियोक्तव्या) जो विधवा स्त्री द्विज हो वह दूसरों के साथ नियोग न करे। (अन्यस्मिन् नियुंजाना हि सनातनम् धर्मम् हन्युः) द्विजों से बाहर दूसरों के साथ नियोग करने से सनातन धर्म भ्रष्ट होता है।

न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन्हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥३६॥

(७१)

(विचक्षणः) बुद्धिमान पुरुष (कस्यचित्) किसी के साथ (कन्यां दत्वा) कन्या ब्याह कर (पुनः न दद्यात्) दूसरे को न ब्याह दे। (दत्वा) एक बार ब्याह कर पुनः (प्रयच्छन्) फिर दूसरे को ब्याह देने वाला (पुरुषानृतम्) झूठ का दोषी (प्राप्नोति) होता है।

विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम्।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥४०॥

(७२)

(विधिवत् प्रतिगृह्य अपि) शास्त्र की विधि के अनुसार किये हुये विवाह के उपरान्त भी (विगर्हिताम्) बदचलन, (व्याधिताम्) ऐसे रोगों से पीड़ित जिन से परिवार को संक्रामक (Contagous diseases) रोग लगने की आशंका हो, (विप्रदुष्टाम्) अत्यन्त दुष्ट या व्यभिचारिणी (वा) या (छद्मना उपपादिताम) छल से ब्याह में दी हुई (कन्याम्) कन्या को (त्यजेत्) त्यागने का अधिकार है।

---

७१ पुरुषोऽनृतम्

७२ कन्यां पतिव्रताम् (गो)

अर्थात्—इन अवस्थाओं में पति पत्नी का त्याग कर सकता है।

नोट—इस श्लोक के अनुसार त्याग हो सकता है। परन्तु इनका निश्चय या तो समाज की ओर से या राजा की ओर से होना चाहिये। इस निश्चय के पीछे पति को त्यागने की आज्ञा मिले। पति स्वयं ही न छोड़ बैठे। (अनुवादक)।

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत्।
तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ४१ ॥

(७३)

(यः तु) लेकिन जो (दोषवतीं कन्याम्) दोष वाली कन्या को (अनाख्याय) विना वताये (उपपादयेत्) विवाह दे, (तस्य दुरात्मनः कन्यादातुः) उस दुष्ट कन्यादान करने वाले का (तत्) वह काम (वितथम् कुर्यात्) न किया हुआ समझा जावे। अर्थात् ऐसा समझना चाहिये कि विवाह हुआ ही नहीं।

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥४२॥

(७४)

(कार्यवान् नरः) कुछ काम पड़ने पर जो कोई (प्रवसेत्) परदेश जावे वह (भार्यायाः वृत्तिं विधाय) स्त्री की जीविका का प्रवन्ध करके जाय। (स्थिति मति अपि अवृत्तिकर्षिता स्त्री)

---

७३ कन्यामनाख्याय प्रयच्छति (गो, रा), कन्यामनाख्यायोपपादयेत्। तस्यापि वितथं कुर्यात्कन्यादानं (न), तस्यापि वितथं कार्यं कन्यादातुर्; तस्य तद्वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्।

७४ द्विजः; नरः।

शीलवती स्त्री भी जीविका शून्य होने पर (हि प्रदुष्येत्) बदचलन हो सकती है।

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ४३ ॥
(७५)

(वृत्तिं विधाय प्रोषिते) जीविका का प्रबन्ध करने के पश्चात् यदि पति परदेश जावे तो (नियमम् आस्थिता जीवेत्) स्त्री को चाहिये कि पतिव्रत धर्म को पालन करती हुई रहे। (अविधाय एव प्रोषिते) यदि पति बिना प्रबन्ध किये जावे तो (अगर्हितैः शिल्पैः जीवेत्) तो अनिन्दनीय काम करके निर्वाह करे (जैसे सीना, काढ़ना, अध्यापन आदि आदि)।

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥४४॥
(७६)

यदि पति धर्म-कार्य के लिये परदेश गया हो तो पत्नी आठ वर्ष तक उसकी प्रतीक्षा करे। यदि विद्या पढ़ने गया हो तो छः वर्ष तक। यदि काम के वश गया हो तो तीन वर्ष तक।

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः ।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥४५॥
(७७)

---

७६ धर्महेतोस्तु ।

७७ संवत्सरमुदीक्षेत; संवत्सरं प्रतीक्षेत । द्विषाणां; द्विषन्तीं ।

यदि स्त्री पति से द्वेष करती हो तो पति एक वर्ष तक उसकी प्रतीक्षा करे। यदि वर्ष भर में भी उसका सुधार न हो तो दी हुई चीज़ों को लेकर उसके साथ रहना छोड़ दे।

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ४६ ॥

(८८)

यदि वर वहुत अच्छा, रूपवान और समान गुणवाला मिल जाय तो (अप्राप्ताम् अपि) कन्या के कुछ कम आयु होने पर भी उसका यथाविधि विवाह कर दे।

नोट—यहां 'अपि' शब्द से तात्पर्य यह है कि विशेष अवस्थाओं में कुछ कम आयु पर भी विवाह हो सकता है। इसको वाल-विवाह के पक्ष में नहीं लिया जा सकता।

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ४७ ॥

(८९)

चाहे कन्या रजस्वला हो कर आयुपर्यन्त घर में बैठी रहे, परन्तु उसका गुणहीन से कभी विवाह न करे।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ४८ ॥

(९०)

---

८९ प्रयच्छेत (मे, गो); प्रयच्छेत्तु

९० वर्षाण्युपासीत, वर्षाण्युदीक्षेत

(कुमारी) क्वारी लड़की (ऋतुमती सती) रजस्वला होने के बाद (त्रीणि वर्षाणि) तीन वर्षों तक (उदीक्षेत) तो अवश्य ठहरे। (ऊर्ध्वम् तु अस्मात् कालात्) इस काल के बीतने पर (विन्देत सदृशम् पतिम्) अपने योग्य वर को व्याह सकती है।

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम्।
नैनः किंचिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥४६॥

(६१)

(अदीयमाना यदि स्वयं भर्तारम् अधिगच्छेत्) यदि मां बाप विवाह न करे और लड़की स्वयं विवाह कर लेवे तो (न किंचित् एनः अवाप्नोति) तो वह कोई पाप नहीं करती। (न च यम् सा अधिगच्छति) न वह कोई पाप करता है जिस से यह विवाह करती है।

अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥५०॥

(६२)

(स्वयम् वरा कन्या) जिस कन्या ने स्वयम् विवाह किया हो वह (पित्र्यम् मातृकम् वा अलंकारम् न आददीत) पिता-माता के आभूषण उठा न ले जाय (भ्रातृदत्तम् वा) या भाई के दिये हुओं को। (यदि तम् हरेत् स्तेना स्यात्) यदि वह ले जाय तो चोर समझी जाय।

---

६२ स्तेना; स्तेयं, स्तेनः

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः ।
तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥५१॥
(९५)

(पतिः देवदत्ताम् भार्याम् विन्दते) वेद मंत्रों से व्याह कर के पति पत्नी को प्राप्त करता है। (न च आत्मनः इच्छया) स्वच्छन्द होकर नहीं। (देवानाम् प्रियम् आचरन्) इस लिये धर्मानुकूल आचरण करता हुआ (ताम् साध्वीम्) उस नेकचलन स्त्री का (नित्यम् बिभृयात्) सदा पालन करे। तात्पर्य यह कि विवाह शास्त्र विधि के अनुसार होता है इसलिये शास्त्र के नियमों को पालना चाहिये। विवाह मनमानी बात नहीं और न पति को मनमाना बर्ताव करने का अधिकार है।

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥५२॥
(९६)

जनने के लिये स्त्रियां बनाई गईं, और संतान के लिये पुरुष। इस लिये वेद में स्त्री पुरुष दोनों का समान धर्म कहा। अर्थात् स्त्री और पुरुष का पद बराबर है। "असमानता" नहीं होनी चाहिये।

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् ।
शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ५३ ॥
(९८)

लड़की को व्याहने वाला शूद्र भी दामाद से कुछ न ले। यदि ले तो उस को लड़की के बेचने का पाप लगता है।

---

९९ विन्देतानिच्छयात्मनः; विन्दते नेच्छयात्मनः

अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ ५४ ॥
(१०१)

स्त्री और पुरुष का धर्म वर्णन करने का सब से संक्षिप्त रूप यह है कि मरण पर्यन्त वे दोनों कभी व्यभिचार न करें।

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ ५५
(१०२)

(कृतक्रियौ स्त्री पुंसौ) सफल स्त्री पुरुषों को (तथा नित्यम् यतेताम्) ऐसा नित्य यत्न करना चाहिये (यथा) कि वे (तौ) वे दोनों (इतरेतम् वियुक्तौ न अभिचरेताम्) एक दूसरे से अलग न हों।

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥५६॥ (१०३)

इतना स्त्री पुरुष का परस्पर प्रीति युक्त धर्म तथा आपत्काल में संतानोत्पत्ति का धर्म कहा। अब दाय भाग का नियम सुनो।

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ ५७॥
(१०४)

---

१०१ अन्योन्यस्याव्यभिचारो, अन्योन्यस्याव्यभी०

१०२ नातिचरेतां तौ; नाभिचरेतां तौ; नाभिचरेयातां । नियुक्ता वि०

१०३ दायधर्मं; दायभागं

१०४ सह; समम् ।

पिता माता के मरने पर भाई लोग पैतृक जायदाद को बराबर-बराबर बांट लें। जीवन में उनको कोई अधिकार नहीं है। (तात्पर्य यह है कि पिता के मरने पर पिता की जायदाद और माता के मरने पर माता की जायदाद बांटी जाय)

यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥ ५८ ॥
(१०७)

(यस्मिन् ऋणम् सन्नयति) जिस पुत्र होने से पितृऋण चुक जाता है (येन च आनन्त्यम् अश्नुते) और जिसके होने से परम पद मिलता है (स एव धर्मज्ञः पुत्रः) वही धर्म-पुत्र है (इतरान् कामजान् विदुः) जो ऐसे न हों उनको 'कामज' अर्थात् अनुचित सन्तान (illegitimate) समझना चाहिये।

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन्यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ ५६ ॥
(१०८)

बड़ा भाई छोटे भाइयों का इस प्रकार पालन करे जैसे पिता पुत्र का। और छोटे भाई भी बड़े भाई से इस प्रकार व्यवहार करें जैसे पुत्र पिता से।

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥ ६० ॥
(१०६)

---

१०७ स एषः; स एव

वड़ा भाई कुल को बढ़ाता है। वड़ा कुल को नष्ट करता है। बड़ा लोगों में सब से अधिक माननीय होता है। ज्येष्ठ को लोग निन्दनीय नहीं समझते।

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात् स सपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥६१॥
(११०)

जो बड़ा भाई छोटों का पालन करे वह माता पिता के समान है। जो पालन न करे, उसकी भी भाई के समान तो पूजा करनी ही चाहिये।

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया ॥ ६२ ॥
(१११)

इस प्रकार सब भाई साझे रहें या धर्म की इच्छा से अलग-अलग रहें। अलग-अलग रहना भी धर्मानुकूल ही है। क्योंकि इससे धर्म बढ़ता है।

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ६३ ॥
(११२)

उद्धार—वह विशेष धन है जो बांटने के अतिरिक्त निकाला जाता है। उस के नियम यह हैं :—

---

११० अज्येष्ठ एव यस्तु स्यात् (गो)
११२ ज्येष्ठः समुद्धरेदंशं सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्।.........तृतीयं तु यवीयसः (गो)

वड़े लड़के को बीसवां भाग और सब चीज़ों में जो सब से अच्छी हो वह। बीच के लड़के को आधा अर्थात् चालीसवां भाग। छोटे को उस से भी आधा अर्थात् अस्सीवां भाग।

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम्।
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम्॥
(११३)

सब से वड़ा और सब से छोटा इस प्रकार भाग लें। जो इन के सिवाय और हों उन का मध्यम भाग हो।

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः।
यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम्॥ ६५॥
(११४)

सब धनों में जो श्रेष्ठ धन हो उस को तथा जो एक वस्तु दस दस वस्तुओं में अधिक हो उस को ज्येष्ठ भाई ले।

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु।
यत्किंचिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम्॥ ६६॥
(११५)

यह दस में से एक उद्धार लेने का नियम उन के लिये नहीं जो अपने कामों में संपन्न हैं। जो कुछ वे बड़े को दें वह मान के बढ़ाने के लिये है।

---

११३ मिथो यदि (न)

११४ धनजातीनाम्। आददीताग्रम्, आददीताऽग्र्यम्

११५ स्वधर्मतः (गो)

एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत् ।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ६७ ॥
(११६)

इस प्रकार उद्धार को निकालने के पीछे बराबर-बराबर बांट लेना चाहिये । यदि उद्धार न निकाले तो उन का विभाग इस प्रकार करे ।

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ६८ ॥
(११७)

सब से बड़ा भाई दो भाग ले । उस से छोटा डेढ़ भाग और छोटे एक-एक भाग । यह धर्म की व्यवस्था है ।

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ६९ ॥
(११८)

अपने-अपने भाग में से भाई कन्याओं को अलग-अलग दें । अपने-अपने भाग का चौथाई । न दें तो पतित हों ।

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ७० ॥
(११९)

---

११६ तेषाम्; त्वेषाम् ।
११८ स्वाभ्यः स्वाभ्यस्तु
११९ चैकशफं; सैकशफं ।

बकरी भेड़ जो एक खुर वाले जानवर हैं वह यदि बांट में पूरे पूरे न पड़ते हों तो जो विषम हो उसे न बांटे। इस को बड़े भाई को लेना चाहिये।

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि।
समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥७१॥
(१२०)

यदि छोटा भाई बड़ी भावज में (नियोग द्वारा) पुत्र उत्पन्न करे, तो उस का भी बराबर भाग होना चाहिये। यह धर्म की व्यवस्था है।

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्॥ ७२
(१२७)

जिस के पुत्र न हो वह अपनी पुत्री को इस प्रकार 'पुत्रिका' बनाले कि इस के जो पुत्र होगा वह मेरे वंश का चलाने वाला हो।

नोट—पुत्रिका उस पुत्री को कहते हैं जिस की सन्तान को पिता अपना उत्तराधिकारी बनाता है। यह शर्त विवाह के समय हो जाती है।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥७३॥
(१३०)

जैसा स्वयं है वैसा पुत्र। जैसा पुत्र वैसी पुत्री। जब पुत्री है तो धन दूसरे के पास क्यों जावे।

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ ७४ ॥
(१३१)

माता का यौतक (कोड़चा अर्थात् अपना निज का धन) लड़की का ही भाग है । परन्तु जिस के पुत्र नहीं है उसकी सम्पत्ति उस के धेवते (पुत्रीके पुत्र) को मिले ।

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥
(१३४)

पुत्रिका करने पर यदि पुत्र उत्पन्न हो जाय तो दोनों के भाग बराबर हो जायं । स्त्री की ज्येष्ठता नहीं है । अर्थात् बहन को ज्येष्ठ होने के कारण उद्धार न मिले ।

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन ।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ ७६ ॥
(१३५)

यदि पुत्रिका मर जाय और उस के कोई सन्तान न हो तो इस धन का निःशंक अधिकारी पुत्रिका का पति है ।

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ ७७ ॥
(१३७)

---

१३१ यौतुकं, यौतकं । वसु ।

१३७ अथ पुत्रस्य पौत्रेण; पौत्रस्येह तु पुत्रेण

पुत्र से लोक में विजय होती है। पौत्र से अनन्त सुख मिलता है। और पौत्र के पुत्र से तो मानों आदित्य लोक मिल जाता है।

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ ७८ ॥
(१३८)

लड़का "पुन्" नाम नरक से पिता को "त्रायते" अर्थात् बचाता है। इस लिये लड़के को ब्रह्मा ने पुत्र कहा है।

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥ ७९ ॥
(१३९)

लोक में पुत्र के लड़के और पुत्री के लड़के में कोई भेद नहीं है। जैसे पोता इस को उस लोक में तारता है वैसे ही नवासा।

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः।
स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ ८० ॥
(१४१)

यदि किसी ने कोई गुणी पुरुष अपना दत्त्रिम पुत्र (गोद का बेटा) बना लिया हो तो वही उस की जायदाद का मालिक हो, चाहे वह अन्य ही वंश का क्यों न हो।

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्।
उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ ॥ ८१ ॥
(१४३)

---

१३९ पूर्वजान् (पौत्रवत् के स्थान में)—गो

१४१ संप्राप्तोऽस्य न पुत्रकः।

१४३ अनियुक्तः

जो लड़का विना नियोग की हुई स्त्री से उत्पन्न हो जाय वह भाग न पावे क्योंकि अनुचित संतान है। और यदि ऐसी स्त्री स उत्पन्न हो जिस के पहले पुत्र मौजूद हो तो इस को भी भाग न मिले। यह भी वैसा ही है।

नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः।
नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥८२॥

(१४४)

जिस स्त्री के साथ नियोग हुआ हो उस से उत्पन्न हुआ पुत्र भी यदि वह नियमानुसार नहीं है तो पिता की जायदाद का अधिकारी नहीं है क्योंकि वह नाजायज़ है।

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः।
क्षेत्रिकस्य तु तत्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥८३॥

(१४५)

नियोग वाली स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र औरस पुत्र के समान ही जायदाद का अधिकारी हो। क्योंकि वह क्षेत्रिक का वीज है, और धर्मानुसार उत्पन्न हुआ है।

धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥८४॥

(१४६)

यदि कोई अपने मरे हुये भाई के धन को ले और उसकी स्त्री में नियोग से सन्तान भी उत्पन्न करे तो वह उस भाई की सन्तान

---

१४५ क्षेत्रिकस्य हि (गो), क्षेत्रिकस्यैव (रा)

है। उस के उत्पन्न होने पर वह धन उसी सन्तान को मिलना चाहिये।

या नियुक्तान्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात्।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ ८५ ॥

(१४७)

जो स्त्री बिना नियोग के देवर से या अन्य से पुत्र उत्पन्न करे वह सन्तान नाजायज़ समझी जावे। और उस को जायदाद का अधिकार नहीं है।

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट्॥८६॥

(१५९)

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ़ोत्पन्न, अपविद्ध ये छः बान्धव जायदाद के अधिकारी हैं।

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ ८७ ॥

(१६०)

कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त, शौद्र यह छः बान्धव तो हैं परन्तु जायदाद के अधिकारी नहीं।

---

१४७ मिथ्योत्पन्नं, वृथोत्पन्नं ।

१६० शूद्रश्च; शौद्रश्च ।

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् ।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ ८८ ॥
(१६६)

विवाह आदि संस्कार कर के अपने क्षेत्र में जो स्वयं सन्तान उत्पन्न करे उसे पहला कहा हुआ औरस पुत्र कहते हैं।

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ ८९ ॥
(१६७)

यदि कोई मर जाय, नपुंसक हो जाय या रोगी हो जाय और उस की स्त्री के साथ नियोग करके कोई सन्तान उत्पन्न करे तो उस पुत्र को क्षेत्रज कहते हैं।

माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः ॥९०॥
(१६८)

यदि माता-पिता विधि के अनुसार संकल्प करके आपत्ति के कारण अपने पुत्र को किसी अन्य को प्रीति पूर्वक देदेवें तो उस को 'दत्रिम' पुत्र कहते हैं।

---

१६६ स्वे क्षेत्रे । पुत्रमुत्पादयेद्द्विजम्; स्वयमुत्पादितश्च यः । प्राथमकल्पिकम्; प्रथम कल्पितम् ।

१६८ पिता च; पिता वा ।

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम्।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः॥ ९१॥

(१६९)

यदि कोई गुणदोष का जानने वाला और पुत्र के गुणों से युक्त पुरुष मिल जाय और कोई उस को अपना पुत्र बना लेवे तो उस को 'कृत्रिम' पुत्र कहते हैं। 'दत्रिम' और 'कृत्रिम' में यह भेद है कि दत्रिम को उस के माता-पिता देते हैं। 'कृत्रिम' स्वयं बनाया जाता है।

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः॥ ९२॥

(१७०)

यदि किसी की स्त्री ऐसा पुत्र जने जिस के लिये यह ज्ञात न हो सके कि यह किस का है तो जिस की स्त्री ने जना है उसी का पुत्र कहलावे और इस का नाम 'गूढोत्पन्न' है।

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा।
तं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते॥ ९३॥

(१७१)

माता-पिता दोनों ने या एक ने जिस को छोड़ दिया हो और कोई उस को ग्रहण करले तो उस को 'अपविद्ध' पुत्र कहेंगे।

---

१६९ विज्ञेयस्तु; विज्ञेयश्च।
१७० यस्तु; यस्य। न विज्ञायेत; न च ज्ञायेत। कस्यचित्। स्वगृहे (गे)
१७१ यं पुत्रं।

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ ९४ ॥
(१७२)

जो बिना विवाही हुई कन्या अपने माता-पिता के घर में गुप्त रीति से पुत्र जने वह उस के पति का 'कानीन' पुत्र है।

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ ९५ ॥
(१७३)

जो जाने या वेजाने गर्भिणी से व्याह कर लिया जाय और उस से पुत्र उत्पन्न हो तो वह उसी पति का 'सहोढ' पुत्र कहलाता है।

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥९६॥
(१७४)

सन्तान चलाने के लिये जिस को माता-पिता से मोल लेलिया जाय वह चाहे सदृश हो या असदृश, 'क्रीतक' पुत्र कहलाता है।

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ ९७ ॥
(१७५)

जो स्त्री पति से त्यागी गई है या विधवा है वह यदि अपनी इच्छा से दूसरे की भार्या होकर पुत्र उत्पन्न करे वह पौनर्भव है।

१७५ वा यथेच्छया; स्वेच्छयापि वा (रा); स्वयेच्छया; स्वेच्छयात्मनः (न)।

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ ९८ ॥
(१७६)

यदि वह स्त्री अक्षतयोनि है चाहे पति के घर गई हो या न, तो वह दूसरे के साथ पुनर्विवाह कर सकती है।

मातापितृविहीना यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात्।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥ ९९ ॥
(१७७)

यदि कोई माता-पिता से विहीन या अकारण ही त्यागा हुआ अपने को किसी दूसरे के हवाले करदे तो वह 'स्वयंदत्त' पुत्र कहलाता है।

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम्।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १०० ॥
(१७८)

यदि कोई ब्राह्मण कामासक्त होकर शूद्रा में पुत्र उत्पन्न करे तो उस को 'पारशव' पुत्र कहते हैं क्योंकि वह जीता हुआ भी शव के तुल्य है।

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत्।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१०१॥
(१७९)

---

१७८ ब्राह्मणो यस्तु शूद्रायां (गो)।

यदि कोई शूद्र दासी में या दास की स्त्री में पुत्र उत्पन्न करे तो वह पिता की आज्ञा से सम्पत्ति का अधिकारी हो सकता है।

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥ १०२ ॥
(१८०)

'औरस' को छोड़कर शेष 'क्षेत्रज' आदि जो ग्यारह प्रकार के पुत्र गिनाये गये उन को बुद्धिमानों ने पुत्र का प्रतिनिधि (पुत्र के तुल्य) इस लिये माना है कि क्रिया का लोप न हो। अर्थात् यह सब पिता की सेवा कर सकते हैं।

श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान्रिक्थमर्हति ।
बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥१०३॥
(१८४)

यह जो बारह पुत्र बताये गये हैं उन में यदि क्रम से पहला न हो तो उस से अगले को जायदाद मिले। यदि उस प्रकार के कई हों तो बराबर-बराबर सब को।

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।
पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १०४ ॥
(१८५)

पुत्र ही पिता की जायदाद का वारिस है। उस के भाई या पिता आदि नहीं। जो बिना पुत्र के मर जाय उस का वारिस पिता या भाई हो सकते हैं।

---

१८० यथोदितम् ।
१८४ श्रेयसोऽलाभे, श्रेयसोऽभावे ।
१८५ वा, च । भ्रातर अत्र च ।

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।
अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा॥१०५॥
(१८७)

रिश्तेदारों में जो निकट के हों वे जायदाद के अधिकारी हों। उन के अभाव में उस कुल का आचार्य या शिष्य।

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः।
त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥१०६॥
(१८८)

सब के अभाव में वेदज्ञ, पवित्र तथा दमन-शील ब्राह्मण उस जायदाद के अधिकारी हों। इस से धर्म की हानि नहीं होती।

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १०७ ॥
(१८९)

नियम यह है कि ब्राह्मण का द्रव्य राजा कभी न ले। परन्तु दूसरे वर्णों का धन राजा लेले यदि उन का कोई न रहे तो।

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् ।
तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥१०८॥
(१९०)

यदि किसी ब्राह्मण के संतान न हो राजा को चाहिये कि उस के गोत्र में से एक पुत्र दिलादे और वह जायदाद उसी के सुपुर्द कर दे।

---

१८९ सकुल्याः स्युर् (न)
१९० तन्तुमाहरेत् (गो, न)। स्यात्तत्तस्य।

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥१०९॥
(१९१)

यदि किसी स्त्री के पेट से दो पुरुषों द्वारा दो पुत्र उत्पन्न हुये हों और वे किसी जायदाद का झगड़ा करें तो जो जायदाद जिस के पिता की हो वह उस को ले । दूसरा नहीं ।

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥११०॥
(१९२)

यदि माता मर जाय और जायदाद छोड़ जाय तो सब सहोदर भाई बहिन उस को बराबर बांट लें ।

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥१११॥
(१९३)

यदि उन लड़कियों की लड़कियाँ हों, तो उनको भी प्रीतिपूर्वक नानी की जायदाद से कुछ न कुछ मिलना चाहिये ।

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥११२॥
(१९४)

---

१९१ द्वौ चैव (गो)

१९४ मातृभ्रातृ० (न)

'स्त्री-धन' छः प्रकार का है :—

(१) अध्यग्नि—अर्थात् विवाह-संस्कार के समय दिया जाय, (२) अध्यावाहनिकम्—अर्थात् निमन्त्रण के समय दिया जाय, (३) प्रीति-कर्मणि दत्तम्—किसी त्यौहार या शुभ अवसर पर दिया जाय, (४) भाई, मां या पिता से मिले।

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत्। ११३॥
(१६५)

(५) अन्वाधेयम्—जो पति के कुल में विवाह के पश्चात् भेंट-रूप मिले. (६) पत्य प्रीतेन दत्तं—जो पति से प्रीतिपूर्वक दिया हुआ हो। यह स्त्री धन स्त्री के मरने पर उसकी संतान का होता है, चाहे पति जीता भी क्यों न हो।

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते॥ ११४॥
(१९६)

ब्राह्म, दैव, आर्ष, गांधर्व, प्राजापत्य—इन विवाहों की स्त्री मर जाय और सन्तान न छोड़ जाय, तो वह धन पति का हो।

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते॥ ११५॥
(१९७)

---

१९५ वृत्तायां (न)

१९६ यद्वसु, यद्धनं।

१९७ यत्तु तस्या (गो); यत्तस्यै स्याद् (न)। अतीतायाम-प्रजसि; अतीतायामप्रजायां (गो)

परन्तु असुर आदि तीन विवाहों की स्त्री यदि बिना सन्तान के मरे, तो उसका धन उसके माता-पिता को मिले।

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत्।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥११६॥
(२००)

पति के जीते हुये स्त्रियों ने जो अलङ्कार बनवाये हों, उनको उसके वारिस लोग न लें। यदि लें, तो पतित होवें।

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ ११७॥
(२०१)

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ ११८ ॥
(२०२)

नपुंसक, पतित, जन्म-अन्ध, बधिर, उन्मत्त, जड़, मूक और निरिन्द्रिय जायदाद के वारिस नहीं होने चाहिये। परन्तु इन सब को भोजन, वस्त्र आवश्यकतानुसार बुद्धिमान वारिस की ओर से मिलना चाहिये। यदि न दे, तो पतित होवे।

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ ११९ ॥
(२०३)

---

२०२ च न्याय्यं। ग्रासाच्छादनमत्यन्तं; ग्रासाच्छादनमश्यङ्गं; ग्रासाच्छादनमात्रं तु।

२०३ दातुमर्हति

यदि किसी प्रकार इन नपुन्सक आदि को विवाह की इच्छा हो, तो उनकी सन्तान इस जायदाद की वारिस समझी जाय।

यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥१२०॥
(२०४)

पिता के मरने पर जो कुछ धन ज्येष्ठ भाई पाता है, उसमें से छोटों का भी भाग है, यदि उन्होंने विद्याभ्यास किया हो।

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥१२१॥
(२०५)

यदि इन सब (अविद्यानाम्) बे पढ़े भाइयों का अपना कमाया हुआ धन हो, तो इन का बराबर बाँट होना चाहिये, क्योंकि यह पितृ-धन तो है नहीं।

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत् ।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ १२२ ॥
(२०६)

परन्तु जो धन जिस भाई ने अपनी विद्या से, अपने मित्र से, अपने विवाह में, मधुपर्क में पाया हो, वह उसी का है। इसका बाँट नहीं होना चाहिये।

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा ।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥१२३
(२०७)

---

२०४ यदि विद्यानुपालिनाम्; विद्यानुपालिनः

२०६ मैत्रमौ०

जो भाई अपनी शक्ति से धन कमा सकता है और भाइयों का धन नहीं चाहता, उस को थोड़ी सी उपजीविका देकर अलग कर देना चाहिये। (जो संयुक्त परिवार में रहना न चाहे, वह अलग हो जाय, क्योंकि सब के श्रम से उत्पन्न की हुई सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं होना चाहिये।)

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ १२४ ॥
(२०८)

पिता के धन अर्थात् पैत्रिक सम्पत्ति का उपयोग बिना किये अपने श्रम से जो धन उपार्जित करता है वह धन उसी का है। यदि वह नहीं चाहता तो वह धन किसी को न दे।

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् ।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ १२५ ॥
(२०९)

यदि पिता अपने पहले न पाये हुये पैतृक द्रव्य को फिर अपनी कोशिश से पाजाय तो यह उस का स्वयं कमाया धन है। यदि न चाहे वह अपने पुत्रों को न बांटे। (नोट—वह धन जो पैतृक सम्पत्ति तो है परन्तु किसी कारण से हाथ से निकल गया, अब वह किसी विशेष प्रयत्न से मिला, तो उसे स्वयं कमाये धन के समान समझना चाहिये। और उस में दूसरों का भाग उसी की इच्छा से हो सकता है।)

---

२०८ पितुर्द्रव्यम्; पितृद्रव्यं । यदुपार्जितम्
२०९ पिता; यदा । ०मनुपघ्नन्यदाप्नुयात् (मे)

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते।
(२१०)

साझे रहते हुये भाई यदि पीछे से अलग हों तो उन को भाग बराबर बराबर होने चाहियें। उस में ज्येष्ठ भाई का उद्धार का अधिकार नहीं है।

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः।
म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥१२७॥
(२११)

उन में से यदि कोई बड़ा या छोटा भाई मरने या अन्य किसी कारण से (जैसे पतित या सन्यासी हो जाय) अपना हिस्सा लेने से छूट जाय तो उस का भाग लुप्त न हो।

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम्।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥१२८॥
(२१२)

किन्तु उसके सगे भाई बहन उस भाग को आपस में बराबर-बराबर बांट लेंगे।

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभात्भ्रातॄन्यवीयसः।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः।
(२१३)

---

२१० ज्येष्ठस्तत्र; ह्यत्र न (न)।

जो बड़ा भाई लोभ के वश अपने छोटे भाइयों को हिस्से से बंचित रक्खे वह ज्येष्ठ न रहे, उसको उसका भाग भी न मिलें। और राजा उसे दण्ड दे।

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥
(२१४)

जो भाई विकर्मस्थ हैं (अर्थात् जो कुल की मर्यादा पर नहीं चलते) जो जुआरी आदि हैं और जिनके द्वारा कुल की सम्पत्ति के नष्ट होने का भय है, वह धन के अधिकारी नहीं हैं। बड़े भाई को चाहिये कि वह छोटे भाइयों से बचाकर अपने लिये कोई धन गुप्तरूप से न रक्खे।

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन ॥ १३१ ॥
(२१५)

साझे में रहते हुये भाई यदि साथ साथ धन को कमावें तो पिता को चाहिये कि बांट करते समय किसी भाई को कम या अधिक न दे।

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥१३२॥
(२१६)

---

२१४ यौतुकम्
२१६ यैस्तु; ये स्युर्

यदि बांट करने के पश्चात् पिता के कोई दूसरा पुत्र उत्पन्न हो तो वह उसी धन को ले जो इस समय पिता के पास है। या जो उसी के साथ रहते हों उन के साथ बराबर बराबर बांट ले।

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ १३३ ॥
(२१७)

सन्तान रहित पुत्र का दायभाग माता को मिले। यदि माता न हो तो बाप की मां (दादी) को।

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि।
पश्चाद्दृश्येत यत्किंचित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ १३४ ॥
(२१८)

ऋण और धन सब के बराबर बराबर बांटने के पीछे यदि किसी और ऋण या धन का पता लगे तो उसको भी बराबर बराबर बांटना चाहिये।

अयमुक्तो विभागो वा पुत्राणां च क्रियाविधिः।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ १३५ ॥
(२२०)

इतना तुम से क्षेत्रज आदि पुत्रों के विभाग के विषय में कहा गया। अब जुये के सम्बन्ध में सुनो।

---

२१८ दृश्येत; दृश्यते।
२२० हि भागो; विभागो। वा; वः

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ।
राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥१३६॥

(२२१)

द्यूत (जुआ) और समाह्वय को राजा अपने राज से निकाल दे । यह दोनों दोष राजाओं के राज को नाश करने वाले हैं ।

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ १३७ ॥

(२२२)

यह जो द्यूत और समाह्वय है यह स्पष्ट रूप से तस्करता (चोरी) है । इन के रोकने के लिये राजा को अवश्य ही बहुत बड़ा प्रबन्ध करना चाहिये ।

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥१३८

(२२३)

लोक में (द्यूत) उस को कहते हैं जिस में जड़ वस्तुओं की बाज़ी लगा कर खेलते हैं, और जिस में प्राणियों को दाव पर रक्खा जाता है वह "समाह्वय" है ।

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ।

(२२४)

---

२२१ राजान्त करणावेतौ

२२४ यच्च कारयेत् (न)

द्यूत और समाह्वय करने या कराने वालों को राजा पिटवा दे और जो शूद्र द्विजों के चिह्न धारण करके लोगों को धोखा दें उनको भी।

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाषण्डस्थांश्च मानवान्।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात्॥
(२२५)

ज्वारी, धूर्त, क्रूर, पाखण्डी, विकर्मी, शराबी इन को तो देश से शीघ्र ही निकाल देना चाहिए।

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः॥१४१॥
(२२६)

क्योंकि राजा के राज्य में रहते हुये छिपे चोर हैं। और अच्छी प्रजा को भी अपनी दुष्टता सिखा कर भ्रष्ट करते हैं।

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन्।
आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः॥१४२॥
(२२९)

यदि क्षत्रिय,वैश्य और शूद्र पर राजा की ओर से जो जुर्माना हुआ है वह उनके पास न हो तो वह उस के बदले काम करके अपने ऋण को चुकावें। ब्राह्मण इस जुर्माने को थोड़ा-थोड़ा कर के चुकावे।

---

२२५ कितवाञ्छीलवान्कैलान् (न); क्रूरान् (गो); केलान्; केरान्; चोरान्।

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् ।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥१४३॥

(२३१)

जो लोग राजा की ओर से (कार्येषु in Cases) मुक़द्दमों में नियुक्त हैं वे धन की गर्मी से अभिमानी होकर यदि मुक़द्दमे वालों के मुक़द्दमों को बिगाड़ें तो उनका सब कुछ हर लेवे ।

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान् ।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्द्विट्सेविनस्तथा ॥१४४॥

(२३२)

जो लोग कूट नीति से शासन करें, जो प्रकृतियों को दूषित करें, जो स्त्री, बालक या ब्राह्मणों को कष्ट देते हों, जो शत्रु से मिले हों उन को राजा दण्ड दे ।

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् ।
कृतं तत्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥१४५॥

(२३३)

यदि किसी मुक़द्दमे का कहीं धर्म के अनुकूल अन्तिम निर्णय और दण्ड आदि ठीक-ठीक होगया हो तो उस को फिर से लौटाना नहीं चाहिये किन्तु स्वीकार कर लेना चाहिये ।

---

२३१ येऽनियुक्तास्तु । कारयेद्बुधः ।
२३३ निर्णीतं (न) । तीरितं । निवर्तते ॥

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥१४६॥
(२३४)

मंत्री या प्राडविवाक यदि किसी मुक़द्दमें में अन्याय करे तो उस को राजा स्वयं तै करे और उन को 'सहस्र' दण्ड दे।

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ।
एते सर्वे पृथग्ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥ १४७ ॥
(२३५)

ब्राह्मण का घातक, शराब पीने वाला, गुरु की स्त्री से भोग करने वाला, यह सब अलग-अलग महापातकी समझे जाने चाहिये ।

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् ।
शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ १४८॥
(२३६)

यह चारों यदि प्रायश्चित न करें तो जुर्माना और शारीरिक दण्ड दोनों के भागी हों।

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् ।
आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ १४९ ॥
(२४३)

---

२३४ अमात्यः; अमात्याः । प्राडविवाका । यः कुर्यात्; यत्कुर्यात; यत्कुर्युः । तं सहस्रं च; सहस्रं चैव; तान्सहस्रं च; सहस्रं तांश्च ।

२३५ तस्करो; स्तेयी च । पृथग्वेद्या ।

२४३ महापातकिनां (न, रा) । पापेन, दोषेण ।

अच्छे राजा को महापातकी का धन नहीं लेना चाहिये। यदि लोभ में आकर वह इस धन को लेगा तो उसी दोष का भागी होगा।

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत्।
श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ १५० ॥
(२४४)

इन महापातकियों से जो दण्ड मिले उसे जल में प्रवेश करके वरुण यज्ञ के लिये दे देवे या वेद-सम्पन्न ब्राह्मण को दान करदे।

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ १५१ ॥
(२४६)

राजा को जितना दोष निर्दोष के दण्ड देने में लगता है उतना ही दोषी के छोड़ने में लगता है। धर्म यही है कि अपराध की रोक-थाम की जाय।

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ १५२ ॥
(२५०)

यह मुक़द्दमे वालों के विवाद को १८ प्रकार से निर्णय करने का विस्तार से विधान कहा।

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः।
देशानलब्धाँल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ १५३
(२५१)

---

२४४ श्रुतवृत्तोपसंपन्ने।

२५१ कार्याणि धर्म्याणि।

इस प्रकार धर्म के कामों को भली-भांति करनेवाला राजा उन देशों को लेने की इच्छा करे जो उसके पास नहीं हैं और उन को पालने की इच्छा करे जो उस के पास हैं।

सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ १५४ ॥
(२५२)

अच्छे प्रकार बसे देश में शास्त्र के अनुसार क़िला बना कर नित्य कांटों के दूर करने का यत्न किया करे।

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ १५५॥
(२५३)

आर्यों के अचार रखने वालों की रक्षा और कांटों का निवारण, तथा प्रजा पालन में तत्पर राजा "त्रिदिवं" अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ १५६ ॥
(२५४)

चोर आदि को विना दण्ड दिये जो राजा कर वसूल करता है (तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रम्) उस से प्रजा विद्रोह कर बैठती है और वह सद्-गति को भी प्राप्त नहीं होता।

---

२५२ ०निविष्टदेशेषु; कृतदुर्गस्तु।
२५४ यस्य प्रक्षुभ्यते। स्वर्गात्स।

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ १५७ ॥
(२५५)

जिस राजा के बाहुबल के आश्रय से प्रजा निर्भय रहती है उस का राज्य सदा बढ़ता है । जैसे सींचा हुआ वृक्ष ।

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ १५८ ॥
(२५६)

(चार-चक्षुः महीपतिः) गुप्तचर रूपी आंखें रखने वाला राजा दो प्रकार के चोरों को देखता रहे, एक वह जो प्रकाशरूप से प्रजा के धन को हरते हैं और दूसरे वह जो गुप्तरूप से ।

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ १५९ ॥
(२५७)

इन में भिन्न-भिन्न प्रकार की दुकानदारी से रहने वाले खुले ठग भी होते हैं, और गुप्त ठग भी होते हैं जैसे चोर अथवा जंगल के लुटेरे ।

---

२५५ निर्भयं हि । तस्याभिवर्धते । सेव्यमान; सिच्यमान ।

२५६ ०हारिणः ।

२५७ त्वेषां; तेषां । त्वेवं स्तेनाटव्यादयो जनाः; त्वेते स्तेनाटव्यादयो जनाः; त्वेते ये स्तेनाटविकादयः; ०काश्चैव स्तेना अटविका जनाः; त्वेषां स्ये तेनाटविकोदयः ।

उत्कोचकाश्चौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चैक्षणिकैः सह ॥ १६० ॥
(२५८)

उत्कोचक—रिश्वत लेने वाले; उपधिक—डराकर वसूल करने वाले; कितव—जुआरी; मंगलादेश वृत्त—झूठी मूठी भलाई की बात कह कर धन हरने वाले (जैसे, आप के अब अच्छे नक्षत्र उदय हुये हैं इत्यादि); भद्र—देखने में भले मानस प्रतीत हों। ईक्षणिक—हाथ देखने वाले यह सब वंचक (ठग) हैं।

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥१६१॥
(२५६)

महामात्र (बड़े आदमी), वैद्य, शिल्पजीवी, निपुण वेश्यायें इन में भी बहुत से बुराई करने वाले होते हैं।

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशाँल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ १६२ ॥
(२६०)

ऐसे खुले कंटकों और गुप्त ठगों को जो आर्यों के भेश में अनार्य्यों का काम करते हैं राजा सदा जानता रहे।

---

२५८ उत्कोच कांश्चौपधिकान्वञ्चकान्कितवांस्तथा। भद्र प्रेक्षणिकैः सह; भद्राश्चेक्षणिकैः सह; भद्राश्चेक्षणिकास्तथा।

२५९ शिल्पोपकार०।

२६० एवमाद्यान्; एवमादीन्। विजातीयान्; विजानीयात्। विगूढ।

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥१६३॥

(२६१)

जब इन का पता लग जावे तो राजा दो प्रकार से उन को वश में करे—एक तो सुचरित्र लोग जो भीतर-भीतर तो बहुत भले हैं अपने को वैसे-वैसे दुश्चरित्र में फंसा हुआ प्रकट करें। (जैसे चोर को पकड़ने के लिये कोई चोर बन गया, यह जुआरियों को पकड़ने के लिये जुआ खेलने लगा)। दूसरी रीति यह है कि अनेक स्थानों के चोरों से मिल कर।

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥१६४॥

(२६२)

इन ठगों के दोषों की घोषणा करके उनके निज कर्मों को ठीक-ठीक जांच कर अपराध के अनुसार राजा ठीक-ठीक दण्ड दे।

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥१६५॥

(२६३)

जो लोग चोर और पाप बुद्धि हैं। जो लोक में भोले भाले बन कर लोगों को ठगा करते हैं उनके पापों को दूर करने का दण्ड के सिवाय और कोई उपाय ही नहीं है।

---

२६१ प्रोत्साद्य; प्रोच्छाद्य; प्रोत्सार्य प्रोत्साद्य ।
२६३ निगूढं चरतां ।

सभाप्रपापूपशाला वेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥१६६॥
(२६४)

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥१६७॥
(२६५)

इतने स्थानों पर राजा को विशेष दृष्टि रखनी चाहिये (अर्थात् अधिक ठग इन्हीं स्थानों पर मिलेंगे):—

(१) सभा, (२) प्रपा—प्याऊ, (३) पूपशाला—हलवाई की दूकान, (४) वेश—रण्डी का स्थान, (५) मद्य-विक्रय – शराब बेचने वाले की दूकान, (६) अन्न-विक्रय – अन्न बेचने वाले की दूकान, (७) चतुष्पथ – चौराहा, (८) वृक्ष—विशेष वृक्ष (जैसे पीपल, बरगद आदि), (९) समाज—जनसमूह स्थान, (१०) जीर्ण उद्यान—पुराने बाग़, (११) अरण्य—जंगल (१२) कारुकवेश —बढ़ई लुहार आदि की दूकान, (१३) शून्य-आगार —सूने स्थान, (१४) वन, (१५) उपवन

एवं विधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ १६८ ॥
(२६६)

---

२६७ तत्सहायैः स्वानुगतैर्नानाकर्मप्रवादिभिः । उत्साहयेच्चैव; उत्सादयेच्चैव ।

२६८ भक्ष्यभोज्यापदेशैश्च; भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च; भक्ष्यभोज्यप्रदेशैश्च ।

राजा को चाहिये कि ऐसे देशों में चर और अचर पहरे की चौकियां बनाकर दूतों को नियत करे जिस से डाकू लोगों का निवारण हो सके।

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ १६९ ॥
(२६७)

ऐसे लोगों द्वारा जो (पूर्व तस्करैः) पहले चोर थे, अब नहीं हैं और इस काम में निपुण हैं। (नाना कर्म प्रवेदिभिः) तथा जो चोरों के गुप्त कामों का पता लगा सकते हैं तथा जो उस के सहायक या अनुयायी हैं, चोरों का पता लगाना चाहिये और उन को निर्मूल करना चाहिये।

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ १७० ॥
(२६८)

ये लोग उन चोरों को खाने-पीने के बहाने या ब्राह्मणों के दर्शन के बहाने या वीरता का जोश दिलाकर पकड़वा दें।

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥१७१॥
(२६९)

जो वहाँ न जावें या जो चातुर्य से बचते रहें, उनको राजा उनके साथियों सहित जबरदस्ती पकड़वाकर दण्ड दे।

---

२६८ भक्ष्यभोज्या०

२६९ सुपुत्र ज्ञाति बान्धवान्।

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः ।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ १७२ ॥
(२७०)

धार्मिक राजा किसी चोर को उस समय तक दण्ड न दे, जब तक उसकी चोरी का प्रमाण न मिल जाय। यदि माल और चुराने के औज़ार मिल जायँ तो विना संकोच के दण्ड दे देवे ।

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः ।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥१७३॥
(२७१)

गांवों में भी जो कोई चोरों से मिले हुये हैं, जो उनको बरतन, स्थान आदि से सहायता करते हैं, उन सब को दण्ड देना चाहिये ।

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् १७४
(२७२)

राज्य में जो रक्षा के काम में नियुक्त हैं या जो सामन्त हैं और जो चोरों के मध्यस्थ (बिचौलिये) हैं, उनको भी शीघ्र ही चोरों के समान दण्ड देना चाहिये ।

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ।
दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥१७५॥
(२७३)

---

२७२ राष्ट्रे पुरे वाधिकृतान् (न) । द्रुतान् ।

जो कोई हाकिम हो और धर्म के मार्ग से गिर गया हो, उस ऐसे धर्म से च्युत पुरुष को भी दण्ड देना चाहिये।

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः॥१७६
(२७४)

ऐसे लोगों को भी माल-सहित देश से निकाल देना चाहिये, जो गांव के लूटने, पुल आदि के टूटने पर या चोरों की खोज में या स्त्री के ऊपर आक्रमण करने से बचाने के लिये राजा की सहायता नहीं करते।

राज्ञः कोषापहर्तृंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥ १७७ ॥
(२७५)

राजा के कोष को चुरानेवालों, आज्ञा भंग करनेवालों, शत्रुओं को भेद देनेवालों को अनेक प्रकार के दण्ड देने चाहियें।

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥१७८
(२७६)

---

२७४ इडाभङ्गे; हिताभङ्गे; हिडाभङ्गे; तडागभङ्गे; सेतुभङ्गे।

२७५ प्रतिकूल्येष्वस्थितान्; प्रतिकूल्येष्ववस्थितान्; प्रतिकूलेषु वा स्थितान्; प्रतिकूलेष्वस्थितान्; प्रतिकूलेषु च स्थितान्। अरीणामुपधावतो घातयेद्विविधैर्वधैः।

२७६ संधिं कृत्वा (रा)। तीक्ष्णशूले।

जो रात को सेंध लगाकर चोरी करते हैं, राजा उनके हाथ कटवाकर उनको सूली दिला दे।

अंगुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ १७९ ॥
(२७७)

जो गँठ-कटे हैं, उनके पहले दोष में उँगली कटवा दे, दूसरे में हाथ-पैर, तीसरे में उनको मरवा दे।

अग्निदानभक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्।
संनिधातश्च मोषस्य हन्याच्चोरनिवेश्वरः ॥१८०॥
(२७८)

राजा को चाहिये कि उन लोगों को भी दण्ड दे, जो चोरों को अग्नि, खाना, शस्त्र या स्थान देते हैं या उनसे मिले हुये हैं।

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।
यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ १८१ ॥
(२७९)

जो तालाब को नष्ट करे, उसे जल में डुबाकर या सीधा प्राण-दण्ड दे या यदि वह उसे फिर से बनवा दे, तो उसको 'उत्तम साहस' दण्ड देकर छोड़ दे।

---

२७८ मोचस्य। शिष्या च; हन्याच्। चौरम्।

२७९ तडाकभेदकान्; तडाकभेदकं (रा)। च। तथापि; तद्वापि। द्राप्यश्चोत्तमसाहसम्; दद्याच्चोत्तमसाहसम्; दाप्यस्तूत्तम-साहसम्।

काष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ १८२ ॥
(२८०)

राजा के कोठार, हथियारखाना, यज्ञशाला आदि को तोड़नेवाले, हाथी, घोड़े या रथ के चुरानेवालों को निःसंकोच प्राण-दण्ड देना चाहिये ।

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥१८३॥
(२८२)

जो आपत्काल को छोड़कर राजमार्ग में मैला आदि छोड़े, वह 'दो कार्षापण' जुर्माना दे और मैले को वहां से उठवा दे ।

आपत्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ १८४॥
(२८३)

रोगी, बूढ़ा, बालक, गर्भिणी, ऐसे लोगों से केवल सड़क साफ़ करा दे और उनको समझा दे । (जुर्माना न करे) ।

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ ३१८५ ॥
(२८४)

---

२८२ दद्यादमेध्यं च प्रशोधयेत्; दद्यादमेध्यानां च शोधनम् ।

२८३ आपद्गतो वा वृद्धो वा; आपद्गतोऽथ वृद्धो वा ।

जो चिकित्सक नहीं हैं और चिकित्सक बनते हैं, वे यदि पशु आदि की ऐसी चिकित्सा करें, तो 'प्रथम साहस' जुर्माना दें और यदि मनुष्य की चिकित्सा करें, तो 'मध्यम साहस' जुर्माना दें।

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ १८६ ॥
(२८५)

संक्रम (नाले पार करने के लिये तख्ते आदि), ध्वजा की लकड़ी, प्रतिमा (यादगार के लिये मूर्तियां) इनके तोड़नेवाले इनको बनवावें और पांच सौ जुर्माना दें।

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ १८७ ॥
(२८६)

अदूषित द्रव्यों के बिगाड़ने या तोड़ने और मणियों को बुरी तरह बेधने के लिये 'प्रथम साहस' जुर्माना होना चाहिये।

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ १८८ ॥
(२८७)

जो चीज़ों के बदले में या मोल में कम दे, उस पर 'पूर्वसाहस' या 'मध्यम साहस' जुर्माना हो।

---

२८६ मणीनामपि वेधे च।

२८७ स प्राप्नुयाद्दमं। मध्यम एव वा।

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ।
दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥१८९॥
(२८८)

राजा मार्गों में ऐसे बन्धन अर्थात् घर बनवा दे, जहां दुखियों तथा अपराध में अङ्ग-हीन किये हुये मनुष्यों की देख-भाल हो सके।

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥१९०॥
(२८९)

जो नगर के कोट को तोड़ डालें, खाइयों को पाट दें, दरवाज़ों को तोड़ डालें, उनको शीघ्र ही निकाल दे।

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ १९१ ॥
(२९४)

(१) स्वामी—राजा, (२) अमात्य—मन्त्री, (३) पुर—राजधानी, (४) राष्ट्र—राज्य, (५) कोष—खज़ाना, (६) दण्ड—सज़ा देने का विभाग, (७) सुहृत्—मित्र ये सात प्रकृतियां राज के सप्ताङ्ग कहलाते हैं।

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम्
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ १९२ ॥
(२९५)

---

२८८ च कष्टानि; च सर्वाणि । राजमार्गे; राजा मार्गे । दुष्कृता; दुःखिता ।

२९४ समस्तं; समग्रं; स.ाङ्गं ।

राज्य की इन सात प्रकृतियों में से क्रमपूर्वक पहले-पहले का उत्तरदातृत्व अधिक है। यदि यह व्यसन में फँस जायँ, तो अधिक हानि होती है। अर्थात् व्यसनी राजा से व्यसनी मन्त्री की अपेक्षा अधिक हानि होती है।

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ॥ १९३ ॥
(२९६)

जैसे तीन डंडे मिलाकर तिपाई आदि बना लेते हैं, तो वे तीनों पात्रे एक दूसरे के सहारे ठहरे रहते हैं, इसी प्रकार राज के सात अङ्ग भी एक दूसरे के सहारे ठहरे हुये हैं। इनमें से अपने-अपने विशेष गुणों के कारण कोई किसी से कम बढ़ नहीं है।

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिञ्श्रेष्ठमुच्यते ॥१९४॥
(२९७)

उन उन कामों में वही अंग बड़ा है, जिस-जिससे जो काम सिद्ध होता है, उसी में उसकी श्रेष्ठता है।

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम्।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥१९५॥
(२९८)

---

२९६ सप्ताङ्गस्यास्य। विश्रब्धस्य।
२९७ तेषु हि; तेषु तु। शिष्टमुच्यते।
२९८ केवलम्। परात्मनः; परात्मनोः; महीपतिः।

राजा को चाहिये कि 'चार' अर्थात् गुप्तचरों द्वारा, उत्साहयोग द्वारा तथा भिन्न-भिन्न कर्मों की क्रिया से अपनी और पराई शक्ति का नित्य पता लगाता रहे (कि कौन राजा बलवान है या किसमें कितना बल है)।

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ १९६॥
(२९९)

भिन्न-भिन्न प्रकार की पीड़ायें, भिन्न भिन्न व्यसन और कार्यों के गुरुलाघव (अर्थात् कौन काम कितने अंश में गौण है और कितने में मुख्य) को सोचकर कार्य आरम्भ करे ।

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ १९७ ॥
(३००)

विश्राम ले लेकर फिर-फिर कार्यों का आरम्भ करना चाहिये । जो कार्य का आरम्भ करता है, उसी को श्री प्राप्त होती है ।

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥१९८॥
(३०१)

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ १९९ ॥
(३०२)

---

२९९ गुरुलाघवतो ज्ञात्वा ततः कर्म समाचरेत् ।

३०२ कर्मस्थो (धर्मस्थो)ऽभ्युदित स्त्रेता विकृतं सुकृतं युगम् (मे); कर्मस्थोऽभ्युत्थितस्त्रेता ।

सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग यह सब राजा की ही वृत्तियां हैं। राजा को ही युग कहते हैं। राजा सो जाय तो कलियुग है, जागता रहे तो द्वापर है। कर्मानुष्ठान में लगा रहे तो त्रेता, विचार से काम करे तो सतयुग है।

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥२००॥

(३०३)

इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथिवी के तेज को राजा को धारण करना चाहिये।

वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ २०१॥

(३०४)

वर्षा-ऋतु के चार मास में जैसे इन्द्र बरसाता है, वैसे ही राजा इन्द्र के समान आचरण करता हुआ अपने राज में शुभ वस्तुओं की वर्षा करे।

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ २०२ ॥

(३०५)

आठ मास जैसे सूर्य अपनी किरणों से जल लेता है, इसी प्रकार राजा कर वसूल करे। यही राजा का नित्य-कर्म है।

---

३०३ वायोश्च; वातश्च।

३०४ चरेत्।

३०५ राष्ट्रात्; राज्यात्। नित्यम् के स्थान में सम्यक्।

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ २०३ ॥
(३०६)

जैसे वायु सब प्राणियों में प्रविष्ट रहकर चलता है, उसी प्रकार राजा गुप्तचरों द्वारा सब में प्रवेश करे। यही राजा का मारुत-व्रत है।

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥२०४
(३०७)

जैसें यम अर्थात् मृत्यु समय आने पर प्रिय और अप्रिय सभी का निग्रह करता है वैसे ही राजा अपनी प्रजा का निग्रह करे। यही राजा का यम व्रत है।

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ २०५॥
(३०८)

जैसे वरुण के पाश से सब प्राणी देखे जाते हैं, वैसे ही पापियों की रोक थाम करे। यही राजा का वारुण व्रत है।

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥२०६॥
(३०९)

---

३०७ प्रजास् के स्थान में सर्वे ।

३०८ वरुणेनापि पाशैश्च बध्यते वरुणैर्नरः (न) । एव हि दृश्यते (मे)

जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर सब मनुष्य प्रसन्न हो जाते हैं, वैसे ही राजा को देखकर सब प्रसन्न हो जायँ। ऐसी उसकी प्रकृति होनी चाहिये। ऐसा ही राजा चान्द्र-व्रतवाला है।

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ २०७ ॥
(३१०)

प्रतापी, तेजस्वी और पाप-कर्मों में वीरता दिखानेवालों के लिये पीड़ा देनेवाला हो। यही राजा का आग्नेय-व्रत है।

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥२०८॥
(३११)

जैसे सब प्राणियों को पृथिवी समानरूप से धारण करती है, ऐसे ही राजा सब प्रजा को धारण करे। यही राजा का पार्थिव व्रत है।

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः।
स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ २०९ ॥
(३१२)

इन या अन्य उपायों से आलस्य-रहित होकर राजा चोरों की रोक थाम करे, चाहे वह अपने राज्य में हों या पराये राज्य में (भाग गये हों)।

---

३११ भूतानि सर्वाणि (मे)
३१२ युक्तो; युतो (मे) वा (रा)

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ २१० ॥
(३२२)

ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है । न विना क्षत्रिय के ब्राह्मण को वृद्धि होती है । ब्रह्म-शक्ति और क्षात्र-शक्ति मिलकर ही इस लोक और परलोक के सुख को बढ़ा सकती है ।

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ २११ ॥
(३२५)

यह राजा की सनातन कर्म-विधि बताई । अब क्रमशः वैश्य और शूद्र की कर्म-विधि बताते हैं ।

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥२१२॥
(३२६)

उपनयन आदि संस्कार किया हुआ वैश्य विवाह करके व्यापार तथा पशु-पालन में सदा युक्त रहे ।

नच वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥२१३॥
(३२८)

---

३२२ क्षत्रं तु (मे) । इहामुत्र च (रा)
३२८ का:मः; कामं । रक्षितव्याः प्रयत्नतः

'मैं पशुओं की रक्षा नहीं करूँगा' ऐसा वैश्य का विचार न होना चाहिये। वैश्य जबतक पशु-रक्षा करते रहें, अन्य लोग इस काम में अपना ध्यान न लगावें।

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥२१४॥
(३२६)

मणि, मुक्ता, मूँगा, लोहा, कपड़ा, सुगन्ध, रस इन सब के भावों की घटी-बढ़ी का ज्ञान रक्खें।

बीजानामुप्तविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥२१५॥
(३३०)

सब बीजों के बोने की विधि, खेत के गुण-दोष, सब प्रकार की माप-तोल का भी वैश्य को ज्ञान होना चाहिये।

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान्।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥२१६॥
(३३१)

(देशानां भांडानाम्) भिन्न-भिन्न देशों के माल की सारता, असारता गुण, अवगुण, व्यापार के माल पर लाभ-हानि तथा पशुओं की वृद्धि (इन सब का भी वैश्य को ज्ञान रखना चाहिये)।

---

३३० मानयोगांश्च; जनयोगांश्च; मानयोगं च।
३३१ गुणागुणम्; गुणागुणान्। च विवर्धनम्; परिवर्धनम्।

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ २१७॥
(३३२)

नौकरों की नौकरी, भिन्न-भिन्न लोगों की भाषा, (द्रव्याणाम् स्थान योग) माल को कैसे सँभालकर रखना चाहिये, और उनको कैसे खरीदना और बेचना चाहिये (यह बातें भी वैश्य को जानना आवश्यक हैं) ।

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ २१८ ॥
(३३३)

धर्म से धन को बढ़ाने में पूरा यत्न करे । सब प्राणियों को यत्न से अन्न पहुंचावे ।

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ २१९ ॥
(३३४)

शूद्र का परम कल्याणकारक धर्म यह है कि वेदज्ञ ब्राह्मणों और यशस्वी गृहस्थियों की सेवा किया करे ।

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥२२०॥
(३३५)

---

३३४ तपस्विनाम् ।

३३५ ब्राह्मणापाश्रयोऽस्थम्; ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यम्; ब्राह्मणानां श्रयं (श्रेयं) नित्यं; ब्राह्मणोपश्रयो नित्यम् ।

शुद्ध रहनेवाला, परिश्रमी, सेवा करने में चतुर, मीठा बोलने वाला तथा अहंकार रहित, ब्राह्मण आदि द्विजों की नित्य सेवा करनेवाला शूद्र ऊँची गति का पाता है।

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः।
आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ २२१ ॥
(३३६)

आपत्काल को छोड़कर शेष साधारण अवस्था में वर्णों के कर्मों की जो शुभ विधि है, वह अबतक वर्णन की गई। अब क्रमशः आपत्काल के कर्मों की विधि सुनो।

—: :—

दसवाँ अध्याय

—:o:—

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥१॥ (१)

(त्रयः वर्णाः द्विजातयः) तीन वर्ण के द्विज (स्वकर्मस्थाः) अपना-अपना कर्म करते हुये (अधीयीरन्) पढ़ें । (ब्राह्मणः तु एषाम्) ब्राह्मण इनको (प्रब्रूयात्) पढ़ावे (न इतरौ) न कि क्षत्रिय और वैश्य । (इति निश्चयः) यह निश्चित बात है ।

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान्यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥२॥ (२)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (सर्वेषां वृत्ति-उपायान्) सब वर्णों की जीविका के उपायों का यथाविधि (विद्यात्) ठीक ठीक ज्ञान रक्खे, (इतरेभ्यः च प्रब्रूयात्) दूसरों को बतावे भी (स्वयं च एव तथा भवेत्) और स्वयं भी वैसा ही हो । अर्थात् ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य है कि वह दूसरे वर्णों को उनकी जीविका का ठीक ठीक उपाय बताता रहे ।

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥३॥ (३)

विशेष गुण, स्वाभाविक श्रेष्ठता नियम-पालन और संस्कारों की विशेष शुद्धि के कारण ब्राह्मण सब वर्णों में श्रेष्ठ है ।

नोट—जन्म के कारण नहीं ।

---

२ वर्णानां; सर्वेषां ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥४॥ (४)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन द्विज कहलाते हैं। चौथी एक जाति शूद्र है। पंचम जाति कोई नहीं है।

नोट—पंचम जाति अलग नहीं मानना चाहिये।

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥
(५)

सब वर्णवालों की अपने समान वर्ण की अक्षतयोनि पत्नियों में जो सन्तान होती है, वह भी उसी जाति की समझी जाती है। (अर्थात् उसी हिसाब से संस्कार होने चाहियें)।

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ ६ ॥
(२४)

सवर्ण को छोड़कर भिन्न वर्ण की स्त्री से या अपने ही वर्ण की ऐसी स्त्री से जिसका विवाह शास्त्र-विरुद्ध है, या अपने कर्म के त्याग से वर्ण-संकर उत्पन्न होते हैं।

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ७ ॥
(४२)

---

२४ जायते वर्णसंकरः; जायन्ते वर्णसंकराः।
४२ ०प्रभावैश्च (मे); प्रभवैः (गो, न); प्रभावैस्तु (रा)।

(तपोबीज प्रभावैः तु) लेकिन तपस्या अर्थात् श्रेष्ठ कर्म और बीज अर्थात् माता-पिता के संस्कारों के प्रभाव से (ते) यह लोग (युगे युगे) प्रत्येक युग में (इह) इस लोक में ही (मनुष्येषु जन्मत उत्कर्षम् अपकर्षं च गच्छन्ति) मनुष्यों में जाति सम्बन्धी ऊँचता और नीचता को प्राप्त होते हैं। अर्थात कर्म और स्वभाव के कारण जातियां बदल जाती हैं।

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥८॥
(४३)

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ६ ॥
(४४)

(इमाः क्षत्रिय जातयः) ये क्षत्रिय जातियां (शनकैः) धीरे-धीरे (क्रिया लोपात्) शास्त्रानुकूल कर्मों के लोप होने (ब्राह्मण आदर्शनेन च) और सदुपदेष्टा ब्राह्मणों से संसर्ग न रहने के कारण (वृषलत्वं गताः लोके) लोक में वर्ण-संकर होगई— पौण्ड्रक, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश।

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ १० ॥
(५८)

---

४३ ब्राह्मणातिक्रमेण; ब्राह्मणादर्शनेन ।

४४ पुण्ड्र०; पौण्ड्र०; पौण्ढ्र०; चान्द्र; ०चान्ध्र०; ०चोड, ०सोन्न; चोण्ड; चाड्र०; चौल; चोल । दरदास्तथा; दरदाः खशाः ।

असभ्यता, निष्ठुरता, क्रूरता और काम न करना। ऐसे लक्षण जिसमें पाये जायँ, उसको लोग नीच योनि समझते हैं।

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ११ ॥
(५९)

ऐसा पुरुष अपने बुरे शील को या तो पिता से पाता है या माता से या दोनों से। यह दुर्योनि अपनी प्रकृति को छिपा नहीं सकता।

तात्पर्य यह है कि व्यभिचार वह स्त्री पुरुष करते हैं, जिनमें कुछ दुर्गुण होते हैं। और यह दुर्गुण उनकी संतान में भी उतर आते हैं।

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ १२ ॥
(६०)

बड़े कुल में जन्म लेकर भी यदि वह वर्णसंकर है, तो उसमें थोड़ा बहुत वैसा शील आ ही जाता है।

तात्पर्य यह है कि बहुधा बड़े कुलों का व्यभिचार छिप जाता है। परन्तु व्यभिचार से उत्पन्न हुई सन्तान में उसका कुछ न कुछ दोष अवश्य रहता है।

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १३ ॥
(६१)

जिस राज्य में यह वर्ण-संकर बहुत उत्पन्न हो जाते हैं, वह राज्य निवासियों सहित शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ १४ ॥

(६२)

ब्राह्मण के लिये, गौ के लिये विना किसी बुरे भाव के, स्त्री और बालक के लिये कष्ट पड़ने पर 'देहत्याग' अर्थात् कष्ट उठाना जाति-बहिष्कृत लोगों की सफलता या उन्नति का कारण है। अर्थात् यदि वर्णसंकर लोग अपने जीवन को धर्म और अहिंसा में व्यतीत करें, तो दसवें श्लोक में बताये हुये क्रूरता आदि लक्षण दूर हो सकते हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ १५ ॥

(६३)

मनु ने चारों वर्णों का संक्षिप्तरूप से यह धर्म बताया है :— अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (शुद्धता) इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियों को वश में रखना)।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १६ ॥

(६५)

शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त हो जाता है। ब्राह्मण शूद्रता को क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न हुओं को भी ऐसा ही जानना चाहिये।

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥१७॥

(६६)

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ १८ ॥

(६७)

अनार्या स्त्री में स्वेच्छाचारी ब्राह्मण से उत्पन्न और ब्राह्मणी में अनार्य से उत्पन्न इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? यदि ऐसा प्रश्न उठे तो ऐसा समझना चाहिये कि अनार्या स्त्री में आर्य से उत्पन्न सन्तान आर्य गुण-सम्पन्न होगी और आर्य्या स्त्री में अनार्य्य से उत्पन्न सन्तान अनार्य्य होगी । ऐसा निश्चय समझना चाहिये ।

सुबीजं चैव सुक्षेत्रं जातं संपद्यते यथा ।
तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ १९ ॥

(६९)

परन्तु जैसा अच्छा बीज अच्छे खेत में अच्छी उपज उत्पन्न करता है । इसी प्रकार आर्या स्त्री में आर्य की सन्तान सब संस्कारों के योग्य होती है ।

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ।
बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ २० ।

(७०)

---

७० क्षेत्रनेके मनीषिणः (मे; न)

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति ।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ २१ ॥
(७१)

कुछ विद्वान् बीज की प्रशंसा करते हैं, कुछ खेत की। कुछ बीज और खेत दोनों की। इसकी यह व्यवस्था है कि ऊसर में बोया हुआ बीज भीतर ही नष्ट हो जाता है और विना बीज के केवल खेत कुछ काम नहीं देता।

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः ।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम् ॥ २२ ॥
(७४)

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ २३ ॥
(७५)

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ २४ ॥
(७६)

जो ब्रह्म-निष्ठ ब्राह्मण हैं और अपने कर्म में स्थित हैं, उनकी क्रमानुसार इन छः कर्मों द्वारा उपजीविका होनी चाहिये। अध्यापन (पढ़ाना), अध्ययन (पढ़ना), यजन (यज्ञ करना), याजन (यज्ञ कराना), दान देना, प्रतिग्रह (दान लेना)।

---

७४ स्वकर्म व्यवस्थिताः; स्वकर्मण्यवस्थिताः

७५ याजनं यजनं

ब्राह्मणों के यह छः कर्म हुये। इन छः कर्मों में तीन कर्म जीविका के लिये हैं, याजन (यज्ञ कराना), अध्यापन (पढ़ाना), विशुद्धात् प्रतिग्रह (सुकर्म करने वालों का दान)।

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ २५ ॥
(७७)

क्षत्रिय के लिये ब्राह्मणों के यही तीन धर्म छूट जाते हैं अर्थात् पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान।

अर्थात् पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना, यह क्षत्रियों के धर्म हैं।

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः।
न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥२६॥
(७८)

वैश्य के लिये भी यही तीन धर्म (पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना) छूट जाते हैं ऐसा नियम है। मनु प्रजापति ने इन दोनों वर्णों के लिये इन धर्मों का उपदेश नहीं किया।

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ २७ ॥
(७९)

---

७७ निवर्तेरन् (रा)। ब्राह्मणः क्षत्रियं प्रति (स); ब्रह्मावै क्षत्रियं प्रति (न)।

७८ प्रति तथैतानि (मे)।

७९ पशुकृषी विशः; पशुकृषि विशः; पशुकृषिर्विंवशः।

क्षत्रिय के लिये शस्त्र-अस्त्र धारण करना, वैश्य के लिए व्यापार, पशुपालन और खेती। यह जीविका के लिये बताये। दान, पढ़ना और यज्ञ तो इनके धर्म हैं ही।

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु॥ २८॥

(८०)

ब्राह्मण के लिये वेदाभ्यास, क्षत्रिय के लिये रक्षा, वैश्य के लिये व्यापार यह अपने-अपने विशेष कर्म हैं।

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥ २९॥

(८१)

यदि ब्राह्मण को अपने पूर्वोक्त कर्म से जीविका न मिले (अर्थात् कोई यज्ञ न करावे, न पढ़वावे, न दान दे) तो उसको चाहिये क्षत्रियों की उपजीविका का सहारा ले क्योंकि वह वर्ण उसके निकट का है।

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम्॥३०॥

(८२)

यदि जीविका के यह दोनों उपाय न संभव हों तो क्या करना चाहिये? खेती, और गोपालन करके वैश्य की जीविका को ग्रहण करले। यह आपत्काल का धर्म है।

---

८० तु रक्षणम्

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥ ३१ ॥

(९८)

यदि वैश्य को अपने धर्म के अनुकूल जीविका न प्राप्त हो तो शूद्र वृत्ति अर्थात् सेवा भी कर ले। परन्तु अनुचित और निन्दनीय कार्य न करे। यदि शक्ति हो तो सेवा से भी अलग रहे।

सेवा का अर्थ यहां क्षुद्र सेवा (Menial service) है, 'देश सेवा' आदि में जो 'सेवा' शब्द उच्च अर्थ में प्रयुक्त हुआ है उसको यहां नहीं लेना चाहिये।

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ३२ ॥

(९९)

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥३३॥

(१००)

यदि शूद्र का द्विजों की शुश्रूषा से निर्वाह न होता हो और बाल बच्चे भूखों मरते हों तो कारुक कर्म करे। कारुक कर्म उनको कहते हैं जिनके प्रचार से द्विज जातियों की शुश्रूषा होती है। विविध प्रकार के शिल्प भी कारुक कहलाते हैं।

नोट—इन दोनों श्लोकों में शुश्रूषा शब्द आया है। पहले में शुश्रूषा के अभाव में कारुक का उपदेश किया। दूसरे श्लोक में

---

९९ पुत्र दारात्यये प्राप्ते (मे)

१०० सुचरितैः (रा)

कारुक में शुश्रूषा को भी शामिल कर लिया। इससे तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि कुछ शुश्रूषा तो द्विजों के घरों में की जाती है जैसे रोटी पकाना। और कुछ बाहर जैसे रोटी की दुकान रख लेना। यह जो बाहर काम है यह कारुक हैं। इसी प्रकार शिल्प में भी "त्रिविध शिल्प" (Miscellaneous) क्षुद्र शिल्पों से अभिप्राय है, जो गौण रूप से शिल्प कहलाते हैं। मुख्य शिल्पों से नहीं। उदाहरण के लिये गृह निर्माण है। इसको इञ्जिनियर भी करता है और कुली भी। कुलीगीरी कारुक है।

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ ३४ ॥
(१०९)

दान लेना, यज्ञ कराना और अध्यापन। इनमें सबसे बुरा दान लेना है। इससे ब्राह्मण का (कुसंस्कार पड़ने के कारण) भविष्य बिगड़ जाता है।

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम्।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ ३५ ॥
(११?)

यदि यज्ञ कराने तथा पढ़ाने में कोई पाप हो जाय, तो जप और होम करने से उसका पाप दूर हो जाता है। परन्तु दान लेने में जो पाप हो जाय, वह विशेष त्याग और तप से ही दूर हो जाता है (क्योंकि दान लेने में भिक्षा मांगने के कुसंस्कार पड़ जाते हैं)।

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥३६॥
(११२)

इसलिये यदि ब्राह्मण का निर्वाह न होता हो, तो शिल और उंछ से निर्वाह करे। दान लेने से शिल अच्छा और शिल से उंछ अच्छा।

नोट—खेत कटने पर जो दाने रह जाते हैं, उनको बीनना शिल है। शिल के पश्चात् भी जो थोड़ा बहुत शेष रह जाय, उसका बीनना उंछ है।

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः ।
याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥३७॥
(११३)

(स्नातकैः विप्रैः) स्नातक ब्राह्मण (सीदद्भिः) यदि वे धनाभाव से पीड़ित हों (वा कुप्यंधनम् इच्छद्भिः) और उनके पास कुप्यधन अर्थात् रोज के गुजारे के लिये कुछ न हो (पृथिवी-पतिः याच्यः) तो वे राजा से मांगें। (अदित्सन् त्यागं अर्हति) यदि वह देना न चाहे तो उसको त्याग दें।

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च ।
हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ३८ ॥
(११४)

वे बोया खेत, बोया हुआ खेत, गौ. बकरी, भेड़, सोना, धान्य, अन्न इनमें पहला-पहला पिछले-पिछले से अच्छा है।

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ३९ ॥
(११५)

धन मिलने के सात साधन धर्म-युक्त हैं :—पैतृक दायभाग, लाभ, बेचकर मिला धन, विजय द्वारा प्राप्त, लेन-देन से प्राप्त, श्रम करके प्राप्त और किसी सत्पुरुष का दिया दान।

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ४० ॥
(११६)

जीवन के हेतु दस हैं :—विद्या, शिल्प, नौकरी, सेवा, पशु-पालन, दुकानदारी, खेती, सत्य, संकल्प और व्याज।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् ।
कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम्॥४१॥
(११७)

ब्राह्मण और क्षत्रिय को कभी व्याज पर रुपया नहीं उठाना चाहिये। यदि धर्म के लिये बहुत आवश्यकता पड़े, तो किसी छोटे आदमी को थोड़े व्याज पर रुपया दे देवे। तात्पर्य यह है कि साहूकारी का पेशा न करे।

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि ।
प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्विषात्प्रतिमुच्यते ॥४२॥
(११८)

---

११७ ऽल्पिकाम्; ऽल्पिकम्

११८ भागमर्हति

विपत्ति के समय राजा चौथाई कर भी ले सकता है। यदि प्रजा की रक्षा उद्देश्य है, तो धर्म की इस शक्ति के द्वारा वह अधिक कर लेने के दोष से बच जायगा।

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः।
शस्त्रेण वैश्यान्रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥४३॥

(११९)

विजय राजा का निजधर्म है। इस लिये लड़ाई में मुंह न फेरे। शस्त्र से वैश्यों की रक्षा करके उचित कर लेवे।

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम्।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ ४४ ॥

(१२०)

वैश्यों से धान्य के लाभ का आठवां भाग और सोने चांदी के लाभ का वीसवां भाग कर ले। शूद्र कारीगर और शिल्पियों से काम करावे। (नोट—यह तीनों श्लोक विपत्ति के समय के लिये हैं।)

शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥४५॥

(१२१)

शूद्र यदि जीविका चाहे तो क्षत्रिय की नौकरी करे या धनी वैश्य की।

---

११९ न भये; नाहवे; न भवे,

१२० विंशःकार्षापणावरम् (स); विंशत्कार्षापणापरम् (न);
त्रिंशत्कार्षापणावरम्

१२१ वृत्तिमाकाङ्क्षेत्। इति, यदि, अपि। जिजीविषुः, जिजीविषेत्

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः ।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ ४६ ॥
(१२२)

स्वर्ग की इच्छा से या स्वर्ग और यह लोक दोनों की इच्छा से शूद्र को चाहिये कि विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा करे। 'ब्राह्मण का सेवक' कहलाना ही उस की सफलता की कुंजी है। (क्योंकि विद्वानों की सेवा से उस के संस्कार शुद्ध होते हैं)।

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ ४७ ॥
(१२३]

शूद्र का विशेष कर्म विप्र-सेवा है। यदि दूसरा कोई काम है तो उस का उतना अच्छा फल नहीं होता।

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः ।
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥४८॥
(१२४)

(तस्य वृत्तिः) उस शूद्र की जीविका का प्रबन्ध (तैः प्रकल्प्या) उन द्विजों को कर देना चाहिये। (स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः) अपने परिवार की हैसियत के अनुसार (शक्तिं च अवेक्ष्य) शक्ति को देखकर (दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम्) नौकर की योग्यता और उसके घर के खर्च को देख कर। तात्पर्य यह है कि यदि शूद्र का धर्म सेवा करना है तो द्विजों का धर्म उसकी जीविका का उचित प्रबन्ध करना है।

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥४६॥
(१२५)

वे घर का वचा हुआ अन्न दें, पुराने कपड़े दें, अनाज की फटकन दें, पुराने वर्तन आदि दें।

न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥५०॥
(१२६)

शूद्र के लिये कोई पातक नहीं है, न वह संस्कार के योग्य है। उसका धर्म में कोई अधिकार नहीं और न धर्म से प्रतिषेध (निषेध) है।

तात्पर्य यह है कि शूद्र के अज्ञानी होने के कारण उसके कर्तव्य इतने कठिन नहीं हैं कि छोटी छोटी बातों से उसको पातक लगता हो और उसे प्रायश्चित्त की आवश्यकता हो। वह तो धर्म के विषय में उत्तरदाता नहीं है।

यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथातथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ ५१ ॥
(१२८)

जैसे-जैसे वह शुभ विचार धारण करके सत् कर्मों को करता है त्यों त्यों अनिन्दित होकर इस लोक और परलोक दोनों को बना लेता है।

---

१२५ जीर्णानि वसनानि च

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।
यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥५२॥
(१३०)

यह चारों वर्णों के आपद्धर्म कहे गये जिनको ठीक-ठीक करने से परमगति प्राप्त होती है ।

---

१३० एते, एवं

ग्यारहवाँ अध्याय

—:o:—

सांतानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् ।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥१॥ (१)
नवैतान्स्नातकान्विद्याद्ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान् ।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥
(२)

(एतान्) इन (नव स्नातकान्) नौ स्नातक (ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों को (धर्म-भिक्षुकान् विद्यात्) धर्म भिक्षु जानना चाहिये और (विद्या-विशेषतः) विद्या की विशेषता के कारण (एतेभ्यः निःस्वेभ्यः) इन निर्धनों को (दानम् देयम्) दान देना चाहिये । (१) सान्तानिकम्—सन्तान की इच्छा से विवाह की इच्छा वाला (२) यक्ष्यमाणम्—यज्ञ का इच्छुक (३) अध्वगम्—मार्ग चलने वाला यात्री, (४) सर्ववेदसम्—जो अपना सब कुछ दान कर चुका हो (५) गुर्वर्थम्— गुरु के लिये (६, ७) पितृ-मात्रार्थम्—माता और पिता के लिये (८) स्वाध्यायार्थी—पढ़ने का इच्छुक हो । (९) (उपतापी) रोगी हो ।

एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥ (३)

---

१ सार्ववेदसम्, सर्ववेदसम्, स्वाध्यायाद्युपतापिनः

३ एतेभ्योऽपि (न) । द्विजाग्रेभ्यो, द्विजाग्र्येभ्यो

इन ब्राह्मणों को दक्षिणा के साथ अन्न देना चाहिये। औरों को वेदी के बाहर पका भोजन देना चाहिये।

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत्।
ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

(४)

राजा को उचित है कि वेद के विद्वान् ब्राह्मणों को यज्ञ के लिये सब प्रकार के रत्न और दक्षिणा आवश्यकतानुसार दे।

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत्।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ५ ॥

(६)

वेद के विद्वान विवेकशील ब्राह्मणों को यथा-शक्ति धन देना चाहिये। ऐसा करने से मरने के पश्चात् स्वर्ग मिलता है।

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ६ ॥

(७)

सोमयज्ञ का वही अधिकारी है जिस के पास अपने तथा अपने परिवार के खर्च के लिये तीन वर्ष के लिये या इस से अधिक समय के लिये भी धन है।

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥७॥

(८)

---

४ ब्राह्मणे वेदविदुषे, ब्राह्मणेभ्यश्च विद्वद्भ्यो। दक्षिणा; दक्षिणाः
७ अतोऽधिकं वा विद्येत

इस से कम धन रखकर जो द्विज सोम यज्ञ की इच्छा करता है वह सोम यज्ञ करता हुआ भी उस के फल को प्राप्त नहीं होता। अर्थात् निर्धन को सोम यज्ञ करना व्यर्थ है।

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।
मध्वापातो विषास्वादः सधर्मप्रतिरूपकः ॥ ८ ॥

(९)

जिस के अपने घर वाले भूखों मर रहे हैं और दूसरों को दान देता फिरता है वह मधु का त्याग और विष का पान करता है और धर्म का विरोधी है।

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ ९ ॥

(१०)

भृत्य अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि परिवार को कष्ट देकर जो परलोक के लिये दान करता है वह न इस जीवन में सुख का देने वाला होता है न परलोक में।

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ १० ॥

(२८)

जो ब्राह्मण आपत्काल के धर्म को उस समय करता है जब कोई आपत्ति न हो तो वह परलोक में इस के फल को नहीं पाता अर्थात् उस का यह काम करना निष्फल होता है। यह विचारी हुई बात है।

---

९ दुःख पीडित। धर्मः, धर्मं।

१० यः, यत्। त्यौर्ध्वंदैहिकम्। जीवितोऽस्य; जीवितश्च

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ ११ ॥

(२९)

सब विद्वानों, साध्यों, ब्राह्मणों और ऋषियों ने जिन को परलोक का डर था (अर्थात् सोच समझ कर और अपने कर्तव्य पर ध्यान रखकर) साधारण समय को विधि का प्रतिनिधि आपद्धर्म बताया है। (अर्थात् साधारण अवस्था के धर्म का नाम तो "विधि" है और आपद्धर्म उसका प्रतिनिधि है) ।

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ १२ ॥

(३०)

जो विधि-धर्म का पालन करने में समर्थ है वह यदि आपद्धर्म भी करता है तो उस दुर्बुद्धि को परलोक का सुख नहीं मिलता ।

न ब्राह्मणोऽवेदयेत किंचिद्राजनि धर्मवित् ।
स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ १३ ॥

(३१)

जो धर्मात्मा ब्राह्मण है उस को चाहिये कि यदि कोई उस की थोड़ी सी हानि करदे तो उस की शिकायत राजा से न करे किन्तु स्वयं ही अपनी शक्ति से उस हानि पहुँचाने वाले को शिक्षा देदेवे ।

---

२९ वैश्वदेवैः स्वसाध्यैश्च

३१ वेदयीत

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।
तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्विजः ॥ १४ ॥
(३२)

ब्राह्मण के लिये अपना सामर्थ्य राजा के सामर्थ्य से अधिक है। इसलिये उसको चाहिये कि शत्रुओं को अपनी ही सामर्थ्य (उपदेश के द्वारा) से ठीक करे।

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।
धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ १५ ॥
(३४)

क्षत्रिय अपनी आपत्ति को अपने बाहुबल से दूर करे, वैश्य और शूद्र धन से, ब्राह्मण जप और होम से।

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ १६ ॥
(३५)

ब्राह्मण को मित्र इस लिये कहते हैं कि वह विधाता अर्थात् धर्मानुष्ठान कराने वाला, शासिता अर्थात् शिक्षक, वक्ता अर्थात् उपदेष्टा है। इस लिये उस से कोई बुरी या कड़ी बात न कहे।

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥१७॥
(३६)

---

३४ द्विजोत्तमाः, द्विजोत्तमैः, द्विजोत्तमः

३५ मैत्रो; मैत्रो । कुर्यान्न; ब्रूयान्न । शुष्कां; शुक्तां; शुक्लां; शुक्तं

३६ नैव, न वै

कन्या, युवति. थोड़ा पढ़ा, मूर्ख, रोगी तथा संस्कार रहित को अग्निहोत्र का होता नियत न करे।

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत्।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः॥ १८॥

(३७)

ये लोग जिस के घर में यज्ञ के होता होते हैं वह मनुष्य भी और वे लोग भी नरक को जाते हैं इस लिये "वैतान कुशल" (यज्ञ के कृत्यों में दक्ष) और वेदज्ञ को ही होता बनावे।

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्।
अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति॥ १९॥

(३८)

यदि कोई धन सम्पन्न होते हुये भी प्राजापत्य यज्ञ की अश्व-दक्षिणा तथा अग्नि + आधान की दक्षिणा को न देवे तो ब्राह्मण "अनाहिताग्नि" हो जाता है। अर्थात् यज्ञ फल नहीं मिलता।

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते ह कथंचन॥ २०॥

(३९)

श्रद्धा वाला और जितेंद्रिय अन्य पुण्य कर्म को कर ले, परन्तु थोड़ी दक्षिणा का यज्ञ न करे।

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून्।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत्॥२१॥

(४०)

इन्द्रियवल. यश, स्वर्ग, आयु. कीर्ति, प्रजा, पशु इन सब का थोड़ी दक्षिणा के यज्ञ से नाश हो जाता है इस लिये थोड़े धन वाला यज्ञ न करे।

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥२२॥
(४१)

अग्निहोत्री ब्राह्मण जान-बूझ कर यदि सायं प्रातः होम न करे तो एक मास तक चांद्रायण व्रत रक्खे। क्योंकि यह 'वीर हत्या' के समान पाप है।

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ २३ ॥
(४४)

विहितकर्म के न करने और निन्दित कर्म के करने से और इन्द्रियों में आसक्त होने से मनुष्य "प्रायश्चित्त" के योग्य हो जाता है।

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ २४ ॥
(४५)

बिना इच्छा के किये हुये पापों के लिये बुद्धिमानों ने प्रायश्चित्त बताया है। कुछ वेदज्ञ लोग कहते हैं कि इच्छा से किये हुये पापों का भी प्रायश्चित्त होना चाहिये।

नोट—मेरे विचार से कुछ उलटा हो गया है। पहले पाद में 'कामकार कृत' और तीसरे में 'अकामतः कृत' होना चाहिये।

---

४१ कामचारतः

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥२५॥

(४६)

बिना इच्छा के किया हुआ पाप वेदाभ्यास से छूट जाता है। परन्तु जो मोह वश जान-बूझ कर किया जाय उस के लिये अलग अलग प्रायश्चित्त बताये हैं।

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ २६ ॥

(४७)

यदि अकस्मात् या किसी पहले किये हुये पाप के कारण द्विज को प्रायश्चित्त लग जाय तो जब तक वह उस का प्रायश्चित्त न करले उस समय तक सत्पुरुषों के साथ संसर्ग न करे।

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा ।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ २७ ॥

(४८)

कोई दुष्टात्मा इस जन्म के पाप से और कोई पूर्व जन्म के पाप से कुरूप को प्राप्त होते हैं।

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् ।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ २८ ॥

(४९)

---

४७ दैवाद्, मोहाद् । कृते सति

८४ प्राप्नुवन्ति दुराचारा

४९ श्यावदन्यकः

सोना चुराने वाला कुनखी होता है। शराब पीने वाले के काले दांत होते हैं। ब्रह्महत्या करने वाले को क्षयी रोग होता है और गुरु की पत्नी से व्यभिचार करने वाले को चमड़े का रोग (कुष्ट आदि) होता है।

पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ २९ ॥

(५०)

चुग़ली करने वाला दुर्गन्ध नासिका के रोग में पीड़ित होता है, झूठी निन्दा करने वाले दुर्गन्ध मुख से, धन का चोर अंग हीनता से, और धान्य में कुछ मिलाने वाला अधिक अंगता को।

अन्नहर्तामयावित्वं मौक्यं वागपहारकः ।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यंपङ्गुतामश्वहारकः ॥ ३० ॥

(५१)

अन्न के चोर को मन्दाग्नि, वाणी के चोर को गूंगापन, कपड़े के चोर को श्वेत कोढ़, घोड़े के चोर को पंगपन की बीमारी होती हैं।

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ३१ ॥

(५२)

इस प्रकार विशेष दुष्कर्मों के कारण जड़, गूंगे अन्धे, बहिरे और कुरूप उत्पन्न होते हैं जो सत्पुरुषों में नीच समझे जाते हैं।

---

५० पूतिनासत्वं, पूतिनासिक्यं; पौतिनासिक्यं, पूतिनासिक्यम्

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥३२॥
(५३)

शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिये । जिन्होंने अपने पापों का प्रायश्चित नहीं किया वे निन्दित लक्षणों वाले गूंगे. बहिरे आदि) उत्पन्न होते हैं ।

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥३३॥
(५४)

ब्रह्महत्या, शराब पीना, चोरी और गुरु की स्त्री के साथ व्यभिचार महापातक हैं और ऐसों के साथ रहना भी महापातक है ।

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया॥३४॥ (५५)

अपनी बड़ाई के लिये झूठ बोलना, राजा के सामने चुग़ली, गुरु से झूठी बातें बनाना ब्रह्महत्या के समान हैं ।

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ३५ ॥
(५६)

---

५३ कर्मविशपेण, कर्मविशेषेण,

५३ निन्दितैर्लक्षणैर

५४ संयोगं चैव, संयोगश्चैव, संसर्गं चैव, संसर्गश्चापि

५६ अनृतं स्वयमुत्कर्षे

वेद विमुख होना, वेद की निन्दा करना, झूठी गवाही देना, मित्र को मार डालना, अभक्ष्य खाना और सुरापान यह सब बराबर के पाप हैं।

(नोट—सुरापान मिलाकर छः होते हैं।)

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ३६ ॥
(५७)

धरोहर, मनुष्य, घोड़ा, चांदी भूमि, हीरा मणियों का चुराना 'स्वर्ण-चोरी' के समान है।

रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥३७॥
(५८)

अपनी बहन, कुमारी, चाण्डाली, मित्र या पुत्र की स्त्री से व्यभिचार करना गुरु-पत्नी के साथ व्यभिचार के तुल्य है।

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च॥३८॥
(५९)

गोहत्या, दुष्टों से यज्ञ कराना, पर स्त्रीगमन, आत्मा का बेचना, गुरु, माता, पिता, स्वाध्याय, होम, पुत्र इनका त्याग यह सब पाप हैं।

---

५७ गर्हितान्नाद्ययोर

५८ स्वयोन्यासु, स्त्रयोनिषु, स्वयोनीषु

कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् ।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ३९ ॥
(६१)

कन्या को दोष लगाना, व्याज लेकर जीविका करना, ब्रह्मचर्य-व्रत का उल्लङ्घन, तालाब, बाग़ स्त्री, पुत्र का बेचना पाप है।

व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।
भृत्या चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥४०॥
(६२)

व्रात्यता अर्थात् उपनयन न कराना, बन्धुओं का त्याग, लेकर पढ़ाना, देकर पढ़ना, अयोग्य वस्तु का बेचना भी पाप है।

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥४१॥
(६३)

सब खानों में ठेका, बड़ी कलों का चलाना, औषधियों को नष्ट करना, स्त्री से जीविका कमवाना, मारण वशी करण आदि उपचार करके अपने शत्रु को मारने आदि का यत्न करना पाप है।

---

६१ परिवित्तितानुजेनोढ़े, परिवित्तितानुजेन, परिविरिताचानुजेन

६२ वार्धुषित्वं व्रतच्युतिः (रा, न) वार्धुष्यं व्रतलोपनम्

६३ भृतकाध्यापनं तथा भृताध्यापनमेव च। भृताच्च०, भृताद्ध०, भृत्याच्च०

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥४२॥
(६४)

ईंधन के लिये हरे वृक्ष का काटना, स्वार्थवश कोई काम करना, निन्दित अन्न को खाना पाप है।

अनाहिताग्निना स्तेयमृणानामनपक्रिया ।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥४३॥
(६५)

अग्निहोत्र न करना, चोरी, ऋण का न चुकाना, असत् शास्त्रों का पढ़ना, गाने बजाने का पेशा करना पाप है।

धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥४४॥
(६६)

धान्य, कुप्य, पशु की चोरी, शराब पीने वाला। स्त्री से व्यभिचार, स्त्री, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय का मारना, नास्तिकता यह उपपातक है।

ब्राह्मणस्य रुजःकृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥४५॥
(६७)

---

६४ स्त्र्युपाजीवो (न)

६६ स्तैन्यम् (रा, न)। ०मृणानां चानपक्रिया, ० मृणानामनपक्रिया। कौशीलव्यस्य च क्रिया।
कौशीलकमनक्रियाः। कौशल्यं व्यसनक्रियाः।

६७ धान्यरूप्यपशुस्तेयम्।

ब्राह्मण को मारने का यत्न, दुर्गन्ध सूंघना शराब सूंघना, कुटिलता करना, पुरुष के साथ मैथुन करना यह जाति भ्रंशक पाप हैं।

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ४६ ॥
(६८)

गधा, घोड़ा, ऊंट, मृग, हाथी, बकरी भेड़, मछली, सांप, भैंसा का मारना और 'संकरीकरण' (दो नसलों को मिलाकर तसरी उत्पन्न करना पाप है।)

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ४७ ॥
(६९)

निन्दित पुरुषों का दान लेना, वाणिज्य, शूद्र की नौकरी, असत्य बोलना (यह ब्राह्मण के लिये) 'अपात्री करण' पाप हैं।

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ४८ ॥
(७०)

कीड़े, मकोड़े, पक्षी की हत्या, शराब के साथ भोजन, फल, ईंधन और फूल चुराना और अधैर्य यह सब 'मलावह' पाप हैं (मन को मैला करने वाले)।

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।
यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ४९ ॥
(७१)

---

६८ कृत्यं, कृत्या । जैह्मं पुन्सि च मैथुन्यम् ।

यह सब पाप पृथक्-पृथक् जैसे कहे गये उनका प्रायश्चित किस-किस व्रत से होता है यह अब भली-भांति सुनो।

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसे
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥५०॥
(७२)

जिसने ब्राह्मण की हत्या की है वह बारह वर्ष तक कुटी बना कर वन में रहे। लाश का चिन्ह सिर पर बांधे और भिक्षा मांग कर खाय तो इस पाप से छूट जाय।

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजन्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥५१॥
(७९)

ब्राह्मण या गौ के लिये तुरन्त प्राण दे देने से भी गौ और ब्राह्मण का रक्षक ब्रह्महत्या के पाप से छूट जाता है।

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा।
विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥५२॥
(८०)

विप्र या उसके सर्वस्व पर यदि कोई आघात करता हो और ब्रह्महत्या वाला तीन बार उसको रोकने का भरसक प्रयत्न करे या इस प्रयत्न में अपने प्राण दे दे तो ब्रह्महत्या के पाप से छूट जाता है।

---

७९ कृतवा०ो वा; कृतपवनो। ०हितेन वा।

८० सद्यः; सम्यक्।

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।
राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥५३॥
(८७)

बिना जाने गर्भपात करना या यज्ञ करते हुये क्षत्रिय, या वैश्य को मार डालना या गर्भवती स्त्री को मारना। इन पापों का प्रायश्चित भी वही है जो ब्रह्महत्या का है।

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥५४॥
(९०)

द्विज यदि मोहवश शराब पीले तो अग्नि-वर्ण सुरा पिये। उस से शरीर के जलने पर इस पाप से छूट जाता है।

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।
सुरापानापनुत्यर्थं बालवासा जटी ध्वजी ॥ ५५ ॥
(९२)

या एक वर्ष तक रात में एक बार चावल की खुद्दी या कुटे तिल खावे। कम्बल का वस्त्र पहने, बाल न बनवावे। सुरा-पात्र के चिह्न की ध्वजा रक्खे।

सुरां वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥५६
(९३)

---

९० विशुद्धिरुद्दिष्टा

शराब अन्न का मल है। मल का प्रयोग पाप है। इस लिये ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य शराब न पीवें।

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥ ५७॥
(९४)

गुड़ की, पिट्ठी की, और महुये की तीन प्रकार की शराब होती है। जैसी एक वैसी सब। द्विजों को न पीनी चाहिये।

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः॥ ५८॥
(९५)

मद्य, मांस, सुरा, आसव यह यक्ष, राक्षस, पिशाचों के भोजन हैं। ब्राह्मण लोग जो देवयज्ञ में हवि शेष के अधिकारी हैं ऐसे पदार्थों का ग्रहण न करें।

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत्।
अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः॥ ५९॥
(९६)

जो ब्राह्मण शराब के नशे में चूर होता है वह अपवित्र स्थान में गिरता है या वेद की निन्दा करता है या कोई और बुरा काम करता है।

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत्।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति॥६०॥
(९७)

---

९६ पिशाचानाम्।

जिस ब्राह्मण के देह में रहने वाला वेदज्ञान एक बार भी शराब के नशे में डूब जाता है उस की ब्राह्मणता नष्ट हो जाती है और वह शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ६१ ॥
(९८)

यह शराब पीने का विचित्र प्रायश्चित्त कहा। अब इस के पश्चात् स्वर्ण-चोरी का प्रायश्चित्त बताता हूँ।

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु ।
स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ।६२॥
(९९)

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् ।
वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ ६३ ॥
(१००)

स्वर्ण की चोरी करने वाला ब्राह्मण राजा के सामने जाकर अपने दोष की घोषणा करदे और कहे कि आप मुझे दण्ड दीजिये। राजा मूसल लेकर एक बार स्वयं उस को मारे। ब्राह्मण चोर मार-पीट से शुद्ध होता है या तपस्या से भी।

---

९९ विचित्रा विहिता।
१०० तु; च।

तपसापनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् ।
चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥६४॥
(१०१)

जो द्विज चाहता है कि सोने की चोरी के पाप से छूट जाय उसे चाहिये कि जंगल में जाकर चिथड़े पहन कर ब्राह्मणहत्या के प्रायश्चित्त को करे ।

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।
गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ ६५ ॥
(१०२)

द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे। गुरु की स्त्री के साथ व्यभिचार के पातक को नीचे लिखे व्रतों से दूर करे ।

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये ।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥
(१०३)

गुरुभार्यागमन पाप को घोषित करके लोहे की तप्त शय्या पर सोवे और लोहे की बनी हुई स्त्री को लाल करके उस के साथ आलिंगन करे । इस प्रकार मरकर इस पाप से छूट जाता है ।

---

१०१ वा; तु
१०२ ब्रह्महोणा; ब्रह्महति० ।
१०३ गुरुस्त्रीगमनं चैव ।

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥ ६७ ॥
(१०४)

या स्वयं अपने लिंग और अंडकोशों को काट कर हथेली पर रखकर नैऋत्य दिशा में सीधा चले जब तक कि भूमि पर न गिर जाये ।

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने ।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ ६८ ॥
(१०५)

अथवा खाट का चिह्न ध्वजा पर लगाकर बिना बाल बनवाये निर्जन वन में एक वर्ष रहकर प्राजापत्य व्रत करे ।

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ ६९ ॥
(१०६)

अथवा तीन मास तक जितेन्द्रिय रह कर हविशेष तथा यवागू खाकर चान्द्रायण व्रत करे। तब गुरु-स्त्री-गमन के पाप से छूटता है ।

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ।
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ ७० ॥
(१०७)

---

१०४ गुरुतल्पो; गुरुतल्प्यः । सुप्याद्; स्वप्याद् । मालिङ्ग्य; स्मालिङ्ग्य । ०माश्लिष्य; चाश्लिष्येन्; वाश्लिष्येन् स्वाश्लिश्येन् । मृत्युर्भवति शुद्धये (गो) ।

१०७ मासानभ्यसेन्; मासानभ्यस्येन् ।

इन व्रतों से महापातकों के दोष को दूर करना चाहिये। उपपातकों के प्रायश्चित्तों लिये कई प्रकार के व्रत हैं। जो आगे बताये जाते हैं।

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत्।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ ७१ ॥
(१०८)

गौ के वध का उपपातकी महीने भर जौ पीकर रहे। सिर मुंडा डाले और गाय का चमड़ा पहने गौशाला में वास करे।

आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ७२ ॥
(११२)

या रोगी और चोर, व्याघ्र आदि के भय से डरी हुई, गिरी हुई और कीचड़ में लिपटी हुई गाय को सब उपाय करके छुड़ावे।

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम्।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ७३ ॥
(११३)

उष्णकाल, शीत, वर्षा, अधिक वायु के चलने में यथा-शक्ति गौ का बचाव करके अपना बचाव न करे।

---

१०८ विविधैर्नियमैरिमैः

११२ तथासीनो; तथासीत

११३ ०भिषिक्तां; ०भिपक्तां; भिशस्तां। पंकमग्नां। सर्वप्राणैः; सर्वोपायैर। स्वशक्तितः।

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ७४ ॥
(११५)

इस विधि से यदि गोहत्यारा, गौ की सेवा करे तो वह हत्या के पाप से तीन मास में छूट जाता है ।

एतदेव व्रत कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।
अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥
(११७)

'अवकीर्णी' को छोड़ कर अन्य पापों की शुद्धि के लिये पाप करने वाले द्विज इसी व्रत को करें या चान्द्रायण व्रत करें ।

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः ।
अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ ७६ ॥
(१२०)

यदि ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाला द्विज काम के वश में होकर वीर्य का पात करदे तो ब्रह्मवादी धर्मज्ञ इस पाप को 'व्रत-अतिक्रम' या "अवकीर्णः" कहते हैं ।

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ ७७ ॥
(१२२)

---

११९ पिबन्ती

१२० हुत्वा; कृत्वा । होमान्; होमम् । समित्यृचा । मरुतस्य च ।

१२२ मरुत:; मारुतम् ।

इस पाप का दोषी गधे की खाल पहन कर अपने दोष को कहता हुआ सात घरों से भीख मांगे।

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ ७८ ॥

(१२४)

यदि जान-बूझ कर भ्रंशकर, पाप किया हो तो "सान्तपन" व्रत करे और यदि विना जाने किया हो तो प्राजापत्य व्रत करे।

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम्।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ ७६४ ॥

(१२५)

संकरीकरण और अपात्रीकरण पापों का करने वाला शुद्धि के लिये एक मास तक चान्द्रायण व्रत करे और मलिनीकरण पापों के लिये तीन दिन तक यवागू पिये।

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः।
वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥ ८० ॥

(१२७)

ब्राह्मण विना इच्छा के (भूल से) यदि क्षत्रिय की हिंसा कर बैठे तो अच्छे चलन से रहता हुआ एक बैल और एक हज़ार गायों का दान करें।

---

१२४ कृत्वान्यतरम्

१२७ विनिहत्य । दद्याच्छुद्ध्यर्थमात्मनः, दद्यात्सचरितव्रतः

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ।
वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः ॥ ८१ ॥
(१२८)

अथवा जटा धारण कर तीन वर्ष तक वृक्ष के नीचे ग्राम से बाहर रहकर ब्रह्महत्या का प्रायश्चित करे।

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ ८२ ॥
(१२९)

यदि रोजी कमाने वाले वैश्य की हत्या का पातकी ब्राह्मण हो तो इसी प्रायश्चित्त को एक वर्ष तक करे या एक सौ गायें दान दे।

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासम् शूद्रहा चरेत् ।
वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्रायगाः सिताः ॥ ८३ ॥
(१३०)

शूद्र का मारने वाला इसी व्रत को पूरा-पूरा छः मास तक करे अथवा एक बैल और ग्यारह श्वेत गायें दान करे।

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् ।
ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ ८४ ॥
(१४५)

---

१२८ द्व्यब्दं, त्र्यब्दं । ब्रह्महतिव्रतम् । वसेद् ।
१२९ दद्याद्वैकशतं, दद्यात्त्वेकशतं, दद्याच्चैकशतम् ।

इन व्रतों के द्वारा हिंसा से किये हुये पापों का निवारण करना चाहिये। अब अभक्ष्य खाने से जो जाने या बेजाने पाप हो जाते हैं उन का प्रायश्चित्त सुनिये।

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा।
पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः॥ ८५॥

(१४७)

शराब की बोतल में रक्खा पानी या शराब के घड़े का पानी पीने वाले को शंखपुष्पी पानी में औटा कर पांच दिन पीनी चाहिये।

स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च।
शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत्त्र्यहम्॥८६॥

(१४८)

शराब को छूने, देने या ग्रहण करने तथा शूद्र का झूठा पानी पीने वाले को तीन दिन तक कुशों का काढ़ा पीना उचित है।

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति॥८७॥

(१४९)

सोम-यज्ञ करने वाला ब्राह्मण शराब पीने वाले को सूंघले तो तीन वार प्राणायाम करके घी पिये। शुद्ध हो जायगा।

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च।
पुनःसंस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः॥ ८८॥

(१५०)

---

१४७ पिबेदुष्णं

१४९ ब्राह्मणस्य, ब्राह्मणस्तु

बिना जाने विष्ठा, मूत्र, शराब से छुये हुये खाने को खाने से तीनों प्रकार के द्विज केवल दुबारा उपनयन संस्कार करने से शुद्ध हो जाते हैं।

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ ८९ ॥

(१५१)

द्विजातियों के दुबारा उपनयन संस्कार करने में मुण्डन मेखला, दण्ड धारण, भिक्षा आदि व्रतों का नियम नहीं है।

विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वाश्वनकुलस्य च।
केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ ९० ॥

(१५९)

बिल्ली, कौआ, चूहा, कुत्ता, न्यौला इनका झूठा या बाल या कीड़े पड़ा भोजन खालेने पर 'ब्रह्मसुवर्चला' बूटी पीनी चाहिये।

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता।
अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥९१॥

(१६०)

जो पुरुष आत्मा की शुद्धि चाहता है वह अभक्ष्य कभी न खावे। यदि बेजाने खा जावे तो वमन करके निकाल दे। या शोधन-द्रव्यों द्वारा शोधन करले।

---

१५९ ब्रह्मसुवर्चलम्, ब्राह्मीसुवर्चलाम्।

१६० अज्ञानभुक्तशुद्ध्यर्थं, अज्ञानभुक्तमुत्तार्यं, ०भुक्ततूत्तार्यं, ०भुक्तं तूद्गार्यं; ०भुक्तनु-च्चार्यं, ०भुक्तमुद्धर्यं, ०भुक्तं यद्वाम्यम्।

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः ।
स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ ६२ ॥
(१६१)

अभक्ष्य भक्षण के यह विविध प्रकार के व्रत कहे । अब चोरी के पातक को दूर करने के व्रतों की विधि को सुनिये !

धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्द्विजोत्तमः ।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति ॥ ६३ ॥
(१६२)

ब्राह्मण अपनी जाति वालों से धान्य, अन्न, धन चोरी करले तो एक वर्ष कृच्छ्रव्रत करने से शुद्ध होता है ।

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च ।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥६४॥
(१६३)

पुरुष, स्त्री, खेत, घर, कुंआ, वावड़ी और पानी के हरण करने का पाप चान्द्रायणव्रत करने से दूर होता है ।

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वान्यवेश्मतः ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ ६५ ॥
(१६४)

यदि किसी के घर से कोई छोटी चीजें चुरा लावे तो अपनी

---

१६२ सजातीय०

१६३ मनुष्याणां च, मनुष्याणांतु । शुद्धौ चान्द्रायणं (गो) ।

१६४ वेश्मनः । कृच्छ्रनं तत्पापस्य विशुद्धये ।

शुद्धि के लिये 'सान्तपन कृच्छ् व्रत' करे और उन चीज़ों को लौटा दे।

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ ६६ ॥
(१६५)

खाने के पदार्थ, सवारी, शय्या, आसन, फूल, मूल, फल की चोरी का प्रायश्चित्त पंचगव्य पान है।

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ ६७ ॥
(१६६)

द्विज इन व्रतों से चोरी के पाप को दूर करे। अगम्य गमन के पाप को "निम्नलिखित" व्रतों के द्वारा दूर करे।

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥६८॥
(१७०)

बहन, मित्र, या पुत्र की स्त्री, कुमारी या चाण्डाली से प्रसंग करने वाला वही प्रायश्चित्त करे जो गुरु स्त्री गमन के लिये नियत है।

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च।
मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥६९॥
(१७१)

---

१६९ द्विजः; नरः। अगम्यागमनं चैव।

१७१ भ्रातुराप्तस्य, भ्रातुराप्तश्च, भ्रातुराप्तांच, भ्रातुस्तनयां।

पिता की बहन की लड़की, माता की बहन की लड़की, माता के भाई की लड़की से गमन करने वाला चान्द्रायण व्रत करे।

एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान्।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥ १०० ॥
(१७२)

इन तीनों के साथ बुद्धिमानों को विवाह भी नहीं करना चाहिये। यह अपने परिवार की ही समझी जाती हैं। यदि विवाह करे तो पतित समझा जाय।

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ॥१०१॥
(१७३)

अमानुषी योनियों (पशु आदि), या रजस्वला के साथ समागम करने या जल में वीर्य नष्ट करने वाला "कृच्छ्र सान्तपन" व्रत करे।

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥१०२
(१७५)

चाण्डाल या नीच की स्त्री के साथ प्रसंग करने, खाना खाने और दक्षिणा लेने से बिना जाने भी पतित हो जाता है। जान कर करने से तो उनमें मिल ही जाता है।

---

१७२ नोपयच्छेत, नोपयच्छेत्तु
१७३ कुले चैव। जले खे च।
१७५ चाण्डाला०, चण्डाला०

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि।
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥ १०३ ॥
(१७६)

दुष्टा स्त्री को उसका पति घर में बन्द करदे और उससे वही प्रायश्चित्त करावे जो पर स्त्री गामी पुरुष के लिये बताये हैं।

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १०४ ॥
(१८१)

जो मनुष्य जिस पातक के दोषी के साथ संसर्ग करे उस के लिये उसे वही प्रायश्चित्त करना चाहिये जो उस पातक के दोषी को करना है।

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किंचित्सहाचरेत्।
कृतनिर्णेजनांश्चैव जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १०५ ॥
(१८६)

जो पातकी हों और प्रायश्चित्त न करें उन के साथ कुछ संसर्ग न रक्खे और जो अपने पापों का प्रायश्चित्त करलें उन की कभी निन्दा न करे।

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥१०६॥
(१९०)

---

१८९ कंचित्, किंचित्। समाचरेत्, सहाचरेत्। कृतनिर्णेजनांश्चैव, कृतनिर्णेजनांश्चैतान्।

१९० बालघ्नं च कृतघ्नं च विशुद्धावपि।

परन्तु जो बालकों के घातक हैं, शरणागत को मारने वाले हैं या स्त्री की हत्या करने वाले हैं वे नियमानुसार प्रायश्चित्त भी करलें तो उन के साथ न रहना चाहिये ।

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत्॥१०७
(१९१)

जिन द्विजों का नियत काल में विधिवत् गायत्री-उपदेश और उपनयन न हुआ हो वह तीन कृच्छ्रव्रत करें यथा विधि अपना उपनयन करालें ।

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् ।
तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥१०८॥
(१९३)

जो ब्राह्मण निन्दित कर्म कर के अपनी जीविका कमावें वे उस को छोड़ने और जप-तप करने से शुद्ध समझे जावें ।

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥१०९
(१९४)

निन्दित दान लेने वाला ब्राह्मण तीन हज़ार गायत्री का जप करने और गोशाला में एक महीने भर केवल दूध के सहारे से इस पाप से मुक्त हो जाता है ।

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम् ।
प्रणतं प्रति पृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥
॥११०॥ (१९५)

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् ।
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १११ ॥
(१९६)

जब उपवास के कारण दुबले शरीर वाला ब्राह्मण गोशाला से लौट कर आवे और प्रणाम करे तो ब्राह्मण लोग उस से पूछें 'क्या तू हमारे बराबर होना चाहता है ?"। इस पर वह ब्राह्मणों से सच सच कहदे, गायों को घास डाले। गायों से पवित्र हुये स्थान में वे ब्राह्मण उस पतित ब्राह्मण को अपने में शामिल करलें।

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ ११२ ॥
(२०३)

वेदोक्त नित्य कर्मों के छूटने या स्नातक के व्रतलोप का प्रायश्चित्त भोजन न करना है।

हुंकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः ।
स्नात्वानश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ ११३ ॥
(२०४)

ब्राह्मण को 'हुम्' और अपने से बड़े को 'तू' कहकर पुकारने के दोष का प्रायश्चित्त यह है कि स्नान करके, उपवास करे और दिन भर उस को प्रणाम करके प्रसन्न करने का यत्न करे।

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥११४॥
(२०९)

जिन पापों का प्रायश्चित्त नहीं कहा है उन पापों को दूर करने के लिये प्रायश्चित्त करने वाले की शक्ति और पाप की गम्भीरता का विचार करके प्रायश्चित्त निश्चय करना चाहिये।

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥११५

(२१०)

जिन उपायों से मनुष्य अपने पापों के मैल को दूर करता है उन उपायों को मैं तुम से कहता हूँ जिन को देव, ऋषि और पितृ करते रहे हैं।

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥११६॥

(२११)

'प्रजापत्यकृच्छ्र' प्रायश्चित्त यह है कि तीन दिन केवल प्रातः काल, तीन दिन केवल सायंकाल भोजन करे। और तीन अयाचित अन्न (बिना मांगा हुआ, किसी ने दे दिया तो खालिया अन्यथा नहीं) खावे फिर तीन दिन उपवास करे। (यह बारह दिन का प्राजापत्य व्रत है)।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥११७॥

(२१२)

---

२१० ऽभ्युपकर्षति

२११ चरेद्द्विजः

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुश-जल तथा एक दिन का उपवास इसको 'सान्तपन कृच्छ्' व्रत कहते हैं।

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः॥ ११८॥
(२१३)

'अतिकृच्छ्' व्रत यह है कि तीन-तीन दिन एक-एक ग्रास खाय (अर्थात् पहले तीन दिन केवल प्रातः काल एक ग्रास, फिर तीन दिन केवल सायंकाल को एक ग्रास, फिर तीन दिन अयाचित भोजन में से एक ग्रास) और पिछले तीन दिन उपवास करे।

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः॥११९॥
(२१४)

'तप्तकृच्छ्र व्रत' यह है कि ऊपर के बताये तीन-तीन दिनों (अर्थात् बारह दिन तक) क्रमानुसार एक बार स्नान करके और स्थिर चित्त होकर गर्म जल, गर्म दूध, गर्म घी, और वायु का सेवन करे।

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः॥ १२०॥
(२१५)

---

२१३ कृच्छ्रः सांतपनः स्मृतः

२१४ सकृत्स्नायात्

२१५ सर्वपापप्रणाशनः

अपने को वश में करने वाला, प्रमाद रहित होकर बारह दिन भोजन न करे। इस को 'पराककृच्छ्र' व्रत कहते हैं। इस से सब पाप दूर हो जाते हैं।

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १२१ ॥
(२१६)

'चान्द्रायण व्रत' यह है कि कृष्ण पक्ष में एक-एक ग्रास घटाता जाय और शुक्ल में एक-एक ग्रास बढ़ावे। और तीन बार स्नान करे।

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ १२२ ॥
(२१७)

'यवमध्यम चान्द्रायण' व्रत यह है कि इसी विधि से स्नान आदि करता हुआ शुक्ल पक्ष से आरम्भ करे।

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥ १२३
(२१८)

'यति चान्द्रायण व्रत' यह है कि जितेन्द्रिय होकर हवि-शेष से मध्याह्न में आठ-आठ कौर खाय।

---

२१६ एकैकं ग्रासयेत्

२१७ एवमेव, एकमेव, एतमेव। नियतश्चरेच्चा०, नियतश्चरंश्चा, नियतश्चान्द्रायणमथापरम्।

२१८ हविष्यस्य, हविष्याशी

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥१२४॥
(२१६)

"शिशु चान्द्रायण" व्रत यह है कि विप्र समाहित होकर चार ग्रास प्रातःकाल खाय और चार सायंकाल ।

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ १२५ ॥
(२२२)

व्रती को महा व्याहृतियों से स्वयं प्रति-दिन होम करना चाहिये । अहिंसा, सत्य, अक्रोध और सरलता का आचरण करना चाहिये ।

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ १२६ ॥
(२२५)

सम्पूर्ण व्रतों में प्रायश्चित्त के लिये श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति नित्य गायत्री और पवित्र मंत्रों का जाप करे ।

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः ।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥१२७॥
(२२६)

---

२२९ ०पापास्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधनैः (न) ।

इन व्रतों के द्वारा द्विज लोग उन पापों के प्रायश्चित्त करें जो लोगों पर प्रकट हैं। और जो गुप्त पाप हैं उनका मंत्र तथा होम के द्वारा निवारण करें।

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथादानेन चापदि ॥ १२८ ॥
(२२७)

पाप करने वाला पाप के प्रकाश करने, अनुताप करने, तप करने, शास्त्र-अध्ययन करने और आपत्काल में दान करने से पाप से छूट जाता है।

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वानुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ १२६ ॥
(२२८)

जैसे-जैसे मनुष्य अपने किये हुये अधर्म आचरण को लोगों पर प्रकट करता है वैसे-वैसे वह अधर्म से छूट जाता है जैसे सांप से केंचुल।

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ १३० ॥
(२२९)

जैसे-जैसे उस का मन अपने बुरे कर्म की निन्दा करता है वैसे-वैसे उस का शरीर उस अधर्म से छूट जाता है।

---

२२८ कृत्वा प्रभाषते (गो)

२२९ गर्हति, निन्दति (न), नरःस्वस्य (मे), मनस्तस्य।

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ १३१ ॥
(२३०)

पाप करके संताप करता है और इस प्रकार उस पाप से छूटता है और प्रण करता है कि अब ऐसा कभी न करूंगा। इस से पाप वासना न रहने से पवित्र हो जाता है।

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥१३२॥
(२३१)

इस प्रकार मन में चिन्तन करके कि मरने के पश्चात् कर्म के फल का उदय होगा मन, वाणी और शरीर से नित्य शुभ-कर्म करे।

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत् ॥१३३
(२३२)

जाने या बेजाने यदि कोई निन्दित कर्म कर बैठे तो उस से बचने की इच्छा करता हुआ उस को दुबारा न करे।

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ १३४ ॥
(२३३)

---

२३० नैतत्कुर्यात्पुनरिति; नैवं कुर्यां पुनरिति; नैनं कुर्यां पुनीरति। ततः; नरः। तु सः।

२३१ मनोवाक्कर्मभिर्; मनोवाङ्मूर्तिभिर्।

इस पाप कर्म के करने पर मन में जितना (अलाघव) भारी पन हो उसके लिये इतना तप करे जिस से उस के मन को स्वयं संतोष हो जाय (कि अब मेरे मन में उस पाप का बीज नहीं है)।

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥१३५॥

(२३४)

सब दैवी और मानुषी सुख का आदि, मध्य और अन्त वेदज्ञ विद्वानों ने तप को ही बताया है ।

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥१३६॥

(२३५)

ब्राह्मण का तप ज्ञान, क्षत्रिय का रक्षण, वैश्य का व्यापार शूद्र का तप सेवा है ।

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥१३७॥

(२४५)

प्रतिदिन वेदाभ्यास करना यथाशक्ति पंच महायज्ञ करना, क्षमा—यह महापातकों से उत्पन्न हुये दोषों को भी दूर कर देते हैं ।

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥१३८॥

(२४६)

---

२३४ दैवं मानुषकं; दैवमानुषकं ।

२४५ ०क्रियाः क्षमाः

जैसे अग्नि तेज से प्राप्त ईंधन को क्षण में जला देती है, वैसे ही ज्ञान की अग्नि की सहायता से वेदज्ञ सब पाप को जला देता है।

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ १३९ ॥
(२६३)

जैसे बड़ी नदी में पड़कर मिट्टी का ढेला शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार सब पाप वेदत्रयी के ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं।

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च।
एषः ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ १४० ॥
(२६४)

ऋक्, यजुः, साम यह त्रयी विद्या है। जो इसको समझता है, वही वेदवित् है।

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्मत्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥१४१॥
(२६५)

---

२६३ क्षिप्तं, क्षिप्रं

२६४ चाद्यानि, चान्यानि

२६५ यो वेदैनं स वेदवित्, यस्तं वेद स वेदवित्, यो वेद तं स वेदवित्।

जो सब वेदों का मूल तीन अक्षरों वाला (ओ३म्) ब्रह्म है और जिसमें तीनों वेद प्रतिष्ठित हैं, वह गूढ़ त्रिवृत्त है। जो उसको जानता है, वह वेदज्ञ है।

एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः।
निश्रेयसं धर्मविधिं विप्रस्येमं निबोधत* ॥ १४२ ॥

यह तुम से पूरा-पूरा प्रायश्चित्तज्ञों का निर्णय कहा। अब ब्राह्मण के इस मोक्ष-धर्म की विधि को सुनो।

---

* नोट—यह श्लोक कुल्लूक-भाष्य में नहीं है।

बारहवाँ अध्याय

—:o:—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ १ ॥ (३)

(मनो वाग् + देह + संभवम् कर्म) मन, वाणी और शरीर से उत्पन्न हुआ कर्म शुभ और अशुभ फलवाला होता है। (नृणाम्) मनुष्यों की (कर्मजा गतयः) कर्म से उत्पन्न होने वाली गतियाँ तीन प्रकार की होती हैं। उत्तम, मध्यम और अधम।

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ २ ॥ (४)

(इह) इस विषय में (देहिनः) मनुष्य के (मनः) मन को (तस्य त्रिविधस्य अपि त्र्यधिष्ठानस्य दशलक्षणयुक्तस्य) उस उत्तम, मध्यम, अधम तीन प्रकार के और मन, वाणी और शरीर तीन अधिष्ठान वाले तथा दश लक्षण वाले कर्म का (प्रवर्तकम्) प्रवर्तक समझना चाहिये। अर्थात् साधारणतया तो कर्म के तीन अधिष्ठान हैं मन वाणी और कर्म, परन्तु मूलतः इन सब का अधिष्ठान मन है। क्योंकि शरीर और वाणी से होने वाले कर्म भी मूलतः मन से ही उत्पन्न होते हैं।

---

३ ०काम संभवम्

४ देहिनाम् (न)

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशच त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ३ ॥

(५)

मन सम्बन्धी तीन दुष्ट कर्म हैं, पहला (पर प्रद्रव्येषु अभिध्यानम्) पराये द्रव्यों का ध्यान, दूसरा मन से बुरी बात का चिन्तन, तीसरा परलोक की व्यर्थता । अर्थात् यह समझना कि परलोक कोई चोज नहीं है ।

पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ४ ॥

(६

वाणी सम्बन्धी दुष्ट कर्म चार हैं । पहला (पारुष्य) कठोर बचन, दूसरा (अनृत) झूठ बोलन तीसरा सब प्रकार की चुगली, चौथा (असम्बद्ध प्रलाप) व्यर्थ बकवाद ।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ५ ॥

(७)

शरीर सम्बन्धी दुष्ट कर्म तीन हैं पहला (अदत्तानाम् उपादानम्) अन्याय से दूसरे का धन लेना, दूसरा (अविधानतः हिंसा) शास्त्र के विरुद्ध किसी को पीड़ा देना, तीसरा पराई स्त्री से सम्पर्क शास्त्र के विरुद्ध पीड़ा' देने का तात्पर्य यह है कि कुछ प्रकार की पीड़ायें जो प्राणी के हित के लिये दी जाती हैं 'हिंसा' की कोटि

---

६ पैशुन्यं चैव, पैशुन्यं चापि । सर्वतः । अनिबद्धप्रलापश्च, असंबद्ध प्रलापश्च ।

में नहीं आतीं। जैसे गुरू शिष्य को दण्ड दे, या राजा किसी अपराधी को, या वैद्य किसी रोगी की चोड़ फाड़ करे। यह सब हिंसा नहीं है। इनके अतिरिक्त किसी को पीड़ा देना शरीर सम्बन्धी दुष्कर्म है।

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ ६ ॥

(२४)

सत्व गुण, रजो गुण और तमो गुण इन तीनों को (आत्मनः) शरीरस्थ आत्मा के गुण जानिये। जिन तीन गुणों के द्वारा (इमान् सर्वान् भावान्) इन सब भावों को (अशेषतः) पूर्णतया (व्याप्य) व्याप्त करता हुआ (महान्) यह सब जगत् स्थित है।

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ ७ ॥

(२५)

इन में से जो गुण शरीर में प्रधानता से विद्यमान होता है वही गुण शरीरस्थ जीवात्मा को उसी गुण वाला बना देता है। अर्थात् सत्व-गुण की प्रधानता से जीव सत्व-गुण वाला, रजोगुण की प्रधानता से रजोगुणी, तमोगुण की प्रधानता से तमोगुणी हो जाता है।

---

८ उपयुक्त शुभाशुभम् (मे)। तु कामिकम्।
१२ सर्वं, कर्म।

४ सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ ८॥

(२६)

सत्व गुण ज्ञान है, तमोगुण अज्ञान है, रजोगुण राग तथा द्वेष है। (एतेषाम्) इन प्राणियों का (सर्वभूत + आश्रितम् वपुः) सब अर्थात् पंच भूतों के आश्रित शरीर (एतद्-व्याप्ति-मत्) इन्हीं गुणों से ओत प्रोत है।

५ तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ ९ ॥

(२७)

(तत्र) इन में से (आत्मनि) अपने में (यत्-किंचित) जो कुछ (प्रीति संयुक्तम्) प्रीति से मिला हुआ (प्रशान्तम् इव) शान्त के समान (शुद्ध + आभम्) शुद्ध प्रकाश वाला जान पड़े उसी को (सत्वम्) सत्व (उपधारयेत्) समझे।

६ यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ १० ॥

(२८)

और जो दुःख से मिला हुआ, अपने को प्रीति से हटाने वाला जान पड़े उसको रजोगुण समझना चाहिये। यह प्राणियों को (सततम्) सदा, (अप्रतिपम् हारि) कुमार्ग की ओर खींचने वाला होता है।

---

२६ भूताश्रय वपुः ।
२८ यत्तु दुःखे । ऽप्रतिपं, ऽप्रतिघं ।

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ ११ ॥
(२९)

तमोगुण में इतनी बातें होती हैं :—

(१) मोहसंयुक्त—मूढ़ता (२) अव्यक्त—अनिश्चितता (३) विषयात्मकत्व—विषयों में फंसने की प्रवृत्ति, (४) अप्रतर्क्य—तर्क न कर सकना (५) अविज्ञेयम्—किसी बात का समझ में न आना।

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥१२॥
(३०)

इन तीनों गुणों का जो उत्तम, मध्यम और अधम फल का उदय है उसको पूरा-पूरा कहूंगा।

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥१३॥
(३१)

सत्व-गुण के लक्षण यह हैं :—वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धर्म, क्रिया, आत्मचिन्ता।

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ १४ ॥
(३२)

---

२९ अव्यक्त०; अव्यक्तं ।

३२ आरम्भरतिता, आरम्भरुचिता ।

रजोगुण के लक्षण यह हैं :—पहले किसी काम में रुचि हो, फिर धैर्य न रहे, बुरे काम में प्रवृत्ति निरन्तर विषय-वासना।

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ १५ ॥
(३३)

तमोगुण के लक्षण यह हैं :- लोभ, स्वप्न, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, वृत्तियों की भिन्नता अर्थात् एकाग्र-मन न होना, भिखारीपन, प्रमाद।

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ १६ ॥
(३४)

(त्रिषु तिष्ठताम्) इन मन, वाणी तथा शरीर तीनों में ठहरे हुये इन तीनों गुणों का क्रमशः संक्षिप्त रीति से यह गुण लक्षण समझना चाहिये।

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ १७ ॥
(३५)

जिस कर्म को करके, या करते हुये, या करने का विचार करते हुये लज्जा प्रतीत हो उसको तमोगुण समझना चाहिये।

---

३३ धृतिर्धैर्यं (न)
३४ त्रिषु, नृषु (न)
३५ लज्जते, लज्जति ।

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ १८ ॥
(३६)

जिस कर्म से इस लोक में बड़ी ख्याति (नामवरी) की इच्छा होती है और सम्पत्ति नष्ट होने पर भी सोच नहीं होता उसको रजोगुण समझना चाहिये।

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥१९॥
(३७)

जिस कर्म से ज्ञान की इच्छा बढ़े। और किसी प्रकार की लज्जा न अनुभव हो, और जिससे आत्मा को संतोष हो वह सत्व-गुण है।

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥२०॥
(३८)

तमोगुण का चिह्न है काम-वासना, रजोगुण का धन-वासना, सतोगुण का धर्म में प्रवृत्ति। इनमें से पिछला पहले से श्रेष्ठ है अर्थात् तम से अच्छा रज और रज से अच्छा सत्व।

---

३६ ख्यातिमृच्छति पुष्कलाम्
३७ यत्,य :॰ स वेयेनेच्छति । चास्यात्मा, चात्मास्य ।
३८ यथाक्रमम्, थरारम्

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥२१॥
(३९)

इनमें से जिस गुण से जीव जिन (संसार) गतियों को प्राप्त होता है उन सब को क्रमशः संक्षेप के कहूंगा ।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमः ॥ २२ ॥
(५७)

मूर्ख नीच लोग इन्द्रियों के वश में फंसकर और धर्म का सेवन न करके पापी योनियो को प्राप्त करते हैं ।

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि ।
पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥२३॥
(७०)

(अनापदि) बिना आपत् काल के जो वर्ण अपने-अपने उस वर्ण सम्बन्धी कर्मों से पतित हो जाते हैं वे पापी योनियों को प्राप्त होकर (शत्रुषु प्रेष्यताम् यान्ति) शत्रुओं की दासता को पाते हैं ।

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ २४ ॥
(७३)

---

३९ येन येन तु गुणेन

७० पापान्; पापाः । भृत्यतां; प्रेष्यतां; प्रेततां । दस्युषु; शत्रुषु ;

७३ विषयान्विषये षिणः

विषयी पुरुष जैसे-जैसे विषयों का सेवन करते हैं वैसे-वैसे वे उन विषयों में कुशल हो जाते हैं।

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥२५॥
(७४)

यह निर्बुद्धि लोग उन-उन कर्मों के अभ्यास से उन-उन योनियों में दुख उठाते हैं।

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ २६ ॥ (८१)

जिस-जिस भाव से जो-जो कर्म किया जाता है उस-उस शरीर से वह-वह फल भोगा जाता है।

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
नैश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ २७ ॥ (८२)

यह सब तुमको कर्मों का फलोदय बताया गया। अब ब्राह्मण का वह कर्म सुनो जिससे निश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ २८ ॥
(८३)

---

८१ स तत्तत्फलमश्नुते

८२ एषधर्मः; एषसर्गः विप्रस्यैवं

८३ संग्रहः; निग्रहः

(१) वेदाभ्यास, (२) तप, (३) ज्ञान, (४) इन्द्रियों का संयम, (५) अहिंसा, (६) गुरु-सेवा यह निश्रेयस अर्थात् मोक्ष के देने वाले कर्म हैं।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ २९ ॥

(८५)

इन छः कर्मों में आत्मज्ञान सब से उत्कृष्ट है। वह सब विद्याओं से बढ़कर हैं, उसीसे अमृत पद अर्थात् मोक्ष मिलता है।

षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ३० ॥

(८६)

इन सब छः कर्मों में (प्रेत्य च इह च) परलोक और इस लोक दोनों की अपेक्षा से वैदिक-कर्म अर्थात् वेदाभ्यास को ही अधिक कल्याण कारी समझना चाहिये।

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन्क्रिया विधौ ॥३१

(८७)

वैदिक-कर्म-योग अर्थात् वेदभ्यास के अन्तर्गत उस-उस क्रिया-विधि के सम्बन्ध में सभी कर्म आजाते हैं।

---

८६ पूर्वेषां; सर्वेषां । सर्वं वा कर्म वैदिकम् ।
८७ [illegible] । क्रमशो यस्मिन्कस्मिन्क्रियाविधौ (न)

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ३२ ॥
(८८)

सुख का अभ्युदय करने वाले और मोक्ष के देने वाले वैदिक-कर्म दो तरह के हैं:—

(१) एक प्रवृत्त (२) निवृत्त

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ३३ ॥
(८९)

इस लोक या परलोक के लिये जो सकाम कर्म किया जाता है वह "प्रवृत्त" कर्म कहाता है। और जो ज्ञान पूर्वक तथा निष्काम भाव से कर्म किया जाता है वह "निवृत्त" है।

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ३४ ॥
(९०)

प्रवृत्त कर्म करने से देव होता है और निवृत्त कर्म करके पंच भौतिक शरीर को लांघ कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥३५॥
(९१)

---

८८ क्रमशः फलम् (गो)

८९ इहवामुत्र; इहचामुत्र । प्रवृत्तम्; निवृत्तम्

९० सात्म्यताम्; साम्यताम्; सार्ष्टिताम् । भूतान्यभ्येति; भूतान्यप्येति; भूतान्यध्येति; भूतान्यत्येति ,

९१ अभिगच्छति

सब प्राणियों में परमात्मा को और परमात्मा में सब प्राणियों को समान भाव से देखता हुआ आत्म-यज्ञ का करने वाला स्वराज्य अर्थात् मुक्ति को पाता है।

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥३६॥
(९२)

(द्विजोत्तमः) सन्यासी को चाहिये कि शास्त्रोक्त कर्मों का (परिहाय) परित्याग अर्थात् सन्यास करने पर भी आत्म-ज्ञान और शम तथा वेदाभ्यास में यत्न करता रहे। अर्थात् आत्म-ज्ञान और वेदभ्यास सन्यासी को भी कभी छोड़ना नहीं चाहिये।

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥३७॥
(९३)

विशेष कर ब्राह्मण का जन्म इसी से सफल होता है इसी मोक्ष को पाकर ब्राह्मण कृत-कृत्य होता है। अन्यथा नहीं।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥३८॥
(९४)

पितृ, देव और मनुष्यों की सनातन चक्षु वेद है। वेद शास्त्र

---

९२ परिहाप्य; परिहाय। आत्मज्ञाने समावेश्य।

९३ जन्मसामर्थ्यं; जन्मसाफल्यं।

९४ अशक्यं; अतर्क्यं

अशक्य अर्थात् अपौरुषेय और अप्रमेय अर्थात् मनुष्य की तर्क-शक्ति से भी ऊपर है। (इति स्थितः) वह है सिद्धान्त।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः
॥३९॥ (९५)

जो स्मृतियाँ वेद-विरुद्ध हैं, या जिन का दृष्ट-कोण खराब है। वे सब निष्फल हैं। मरने पश्चात् उन से अधिकारयुक्त, योनियाँ मिलती हैं।

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥४०॥
(९६)

अन्य वेदविरुद्ध ग्रन्थ तो बनते और लुप्त होते रहा करते हैं। वे पीछे उत्पन्न होने के कारण निष्फल भी हैं और झूठ भी।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥४१॥
(९७)

चारों वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम अलग-अलग, भूत, वर्तमान और भविष्य का धर्म यह सब वेद से सिद्ध होता है।

---

९५ श्रुतयो याश्च; स्मृतयो याश्च

९६ व्यथन्ते च; च्यवन्ते च

९७ त्रयोलोकाः स्मृतिश्चत्वारश्चाश्रमाः भव्यं भविष्यं च; भव्यं भविष्यच्च; भवद् भविष्यश्च

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् । ४२ ॥
(९९)

सनातन वेद-शास्त्र सब प्राणियों का पालन करता है। इसलिये इसको बड़ा मानता हूँ। क्योंकि प्राणी का इससे साधन सिद्ध होता है।

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ४३ ॥
(१००)

वेद-शास्त्र का जानने वाला सेनापतित्व, राज्य, और दण्ड नेतृत्व तथा सब के आधिपत्य का अधिकारी है ।

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ ४४ ॥
(१०१)

जैसे धधकती हुई आग हरे वृक्षों को जला देती है वैसे वेदज्ञ पुरुष अपने कर्म से उत्पन्न हुये दोषों को जला देता है ।

न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत् ।
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत् ॥ ४५ ॥

वेदबल के आश्रय से कभी किसी को पाप कर्म में रुचि नहीं करनी चाहिये। अज्ञान तथा भूल से जो कर्म हो गया हो उसी का निबटारा हो सकता है। अर्थात् "समरथ को नहिं दोष गुसाईं" इस कहावत के अनुसार जो दुष्ट गुरु व्यभिचार आदि में फंस जाते हैं और अपने को त्रि-गुणातीत बताते हैं वे भूल करते हैं।

वेद-विद्या के बल पर किया हुआ दुष्ट-कर्म कभी दुष्ट-फल से बच नहीं सकता।

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४६ ॥

(१०२)

वेदशास्त्रों के तत्वार्थ को समझने वाला किसी आश्रम में ठहरता हुआ इस संसार में रहकर मोक्ष का भागी होता है।

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥४७

(१०३)

बिना पढ़ों की अपेक्षा पढ़ने वाले श्रेष्ठ हैं, पढ़ने वालों में याद रखने वाले, याद रखने वालों में तत्व को समझने वाले, और तत्व को समझने वालों में अनुकूल आचरण करने वाले।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ४८ ॥

(१०४)

बुद्धिमान के लिये तप और विद्या परं कल्याण कारक हैं, तप से मल दूर होते हैं और विद्या से अमृत या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

---

१०४ कल्मषं; किल्बिषं।

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ ४९ ॥

(१०५)

धर्म-शुद्धि के इच्छुक को तीन प्रसिद्ध कार्य करने चाहियेः—प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध शास्त्र ।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ ५० ॥

(१०६)

जो ऋषि उपदिष्ट धर्मोपदेश का वेद-शास्त्र के अविरोधी तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता है वही धर्म को जानता है अन्य नहीं।

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ।।५१।।

(१०८)

जहाँ धर्म स्पष्ट न हो अर्थात् यह पता न चलता हो कि अमुक कर्म करना धर्म है या अधर्म, वहां "शिष्ट ब्राह्मण" जो कहदें उसी को निःसन्देह धर्म समझना चाहिये ।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणाः ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ ५२ ॥

(१०९)

---

१०५ धर्मसिद्धिम् (न)। कर्म बुद्धिमभीप्सताम् (मे)।
१०६ आर्षंधर्मोपदेशेन

"शिष्ट ब्राह्मण" वे हैं जिन्हों ने धर्माचरण करते हुये, विद्या-पूर्वक वेद पढ़ा है उन्हीं को श्रुति का प्रत्यक्ष होता है।

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥५३॥
(११०)

दश श्रेष्ठ पुरुषों की जो दशावरा सभा (Decemvirate) या तीन श्रेष्ठ पुरुषों की जो त्र्यवरा सभा (Triumvirate) (वृत्तस्था) किसी विशेष काम के लिये चुनी गई हो उस के निश्चय को नहीं टालना चाहिये।

नोट – यहाँ धर्म की तीन कोटियाँ की गईं:—

(१) वह जो वेद शास्त्र में दिया हुआ है।

(२) वह जिस की व्यवस्था शिष्ट पुरुष दे दें।

(३) वह जिस का लोकमत द्वारा चुनी हुई दस या तीन श्रेष्ठ पुरुषों की सभा निश्चय करे।

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥५४॥ (१११)

दशावरा समिति में यह लोग होने चाहियेः—

त्रैविद्य कर्थात् ऋक् यजु, साम विद्याओं में से हर एक का जानने वाला एक-एक—	३
हेतुक	१
तर्की	१
नैरुक्त	१
धर्मपाठक	१
गृहस्थ, वाणप्रस्थ और सन्यास के एक-एक प्रतिनिधि	३
योग	१०

११० विचारयेत; विचालयेत्

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ५५ ॥
(११२)

धर्म संशय के निर्णय के लिये त्र्यवरा अर्थात तीन लोगों की जो सभा बने उस में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का एक-एक जानने वाला हो ।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ५६ ॥
(११३)

वेद का जानने वाला एक ब्राह्मण भी जो व्यवस्था दे उसी को परमधर्म समझना चाहिये दस हजार मूर्खों के कहने को नहीं ।

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ५७ ॥
(११४)

अव्रत अर्थात् उत्तरदायित्व रहित, अमंत्र अर्थात् अविद्वान और जाति मात्र पर अभिमान करने वाले हजारों के मिलने से भी सभा नहीं बनती ।

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ५८ ॥
(११५)

तामसी, मूर्ख और बात को न समझने वाले जिस को धर्म बतावें वह पाप सौ गुना बढ़कर बताने वालों के पीछे लग लेता है ।

---

११५ यद्वदन्ति; यं वदन्ति । तमोमूढा । वक्तारमनुगच्छति

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् ।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥५९॥
(११७)

यह तुम को मुक्ति देने वाला सम्पूर्ण धर्म बतलाया गया । जो विद्वान् इस धर्म से पतित नहीं होता वह परम गति को प्राप्त होता है ।

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ६० ॥
(११८)

एकाग्र चित्त होकर (सत्) अपरिवर्तनशील और (असत्) परिवर्तनशील सब को परमात्मा में देखे जो परमात्मा में सब को देखता है उसका मन अधर्म में नहीं लगता ।

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥६१॥
(११९)

परमात्मा ही सब देवों का आधार है सब चीजें परमात्मा में ही स्थित हैं, परमात्मा ही इन सब प्राणियों के कर्मों के फल को देता है ।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ ६२ ॥
(१२२)

---

११६ तस्मादप्रच्युतो (रा); तस्मादविच्युतो (न) ।

११८ सर्वमात्मनि

११९ सनातनम्; परं पदम्

जो सबका शिक्षक अति सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, प्रकाशस्वरूप समाधि द्वारा जानने योग्य है उसी को परम पुरुष समझना चाहिये।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ ६३॥
(१२३)

इस परमब्रह्म को लोग अग्नि, मनु, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और शाश्वत ब्रह्म के नाम से पुकारते हैं। अर्थात् इसी एक ब्रह्म के यह अनेक नाम हैं।

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥ ६४॥
(१२४)

यह ब्रह्म पाँचभूतों में व्यापक होकर सब प्राणियों को सर्वदा जन्म, वृद्धि और क्षय-द्वारा चक्र के समान घुमाया करता है।

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ ६५॥
(१२५)

जो इस प्रकार सब प्राणियों में परमात्मा को देखता है, वह अपने आत्मा के साथ सब की समता को समझकर परम पद ब्रह्म को प्राप्त होता है।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥६६॥
(१२६)

जो द्विज भृगु ऋषि के कहे हुये इस मानव-धर्म शास्त्र को पढ़कर सदा तदनुकूल आचरण करता है, वह यथेष्ट गति को पाता है।

‡ इतिशम् ‡

जीवन
सिद्धांत
१०.१
आचार्य नरेन्द्रदेव-जीवन और सि